वेदों की वर्णन-शैलियाँ

[चारों वेदों में प्रयुक्त प्रमुख प्रतिपादन-शैलियों का विवेचनात्मक अध्ययन]

आगरा विश्वविद्यालय से
पी-एच. डी. उपाधि प्राप्त शोध-प्रबन्ध

डा० रामनाथ वेदालंकार
अध्यक्ष संस्कृत-विभाग एवं आचार्य
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

श्रद्धानन्द शोध संस्थान
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्रथम संस्करण : १९७६ मूल्य : ५०.००

मुद्रक : सुरेशचन्द्र वैष्णव, प्रबन्धक, गुरुकुल कांगड़ी मुद्रणालय

प्रारंभिक शब्द

न केवल भारतीय संस्कृत साहित्य में, किन्तु विश्व-साहित्य में वेदों का स्थान बहुत उच्च है। मैक्समूलर ने कहा था कि ऋग्वेद संसार भर के उपलब्ध साहित्य में सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। अन्य जो अनेकों भावनाएं वेदों के साथ जुड़ी हुई हैं, उन्हें थोड़ी देर के लिए छोड़ भी दें, तो भी केवल प्राचीनतम साहित्य की दृष्टि से भी वेदों का अध्ययन तथा तद्विषयक अनुसन्धान विशेष महत्त्व रखता है। भारतीय मनीषियों की वेदों के प्रति प्रगाढ़ भक्ति रही है। उन्होंने इस का एक-एक छन्द, एक-एक पंक्ति, एक-एक अक्षर गिना हुआ था, सम्पूर्ण वेद उन्हें कण्ठाग्र रहते थे। वेदों को वे स्वतः प्रमाण मानते थे। अन्य स्मृत्यादि साहित्य वेदानुकूल होने पर ही प्रमाण माना जाता था, अन्यथा नहीं। द्विज के लिए वेदों का अध्ययन आवश्यक कर्तव्य था। मनु ने कहा था कि जो द्विज वेद को त्याग कर अन्य शास्त्र में श्रम करता है, वह इसी जीवन में सद्यः शूद्रत्व को प्राप्त कर लेता है। वेदों को सब विद्याओं की निधि माना गया था। परन्तु शनैः शनैः कालक्रम से एक ऐसा युग भी आया जब लोग वेद के अर्थों को भूल गये। उस समय यज्ञों में वेदमन्त्रों के पाठमात्र से स्वर्गप्राप्ति रूपी फल कल्पित किया जाने लगा। कुछ महर्षियों को यह स्थिति सह्य नहीं हुई, और उन्होंने वेदों के अर्थज्ञान तथा उसके प्रचार के लिए वेदांगों की रचना की। वेदों का आधार रख कर ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि साहित्य रचा गया। आवश्यकतानुसार प्रातिशाख्य, अनुक्रमणी आदि का भी निर्माण हुआ। स्कन्द स्वामी, नारायण, उद्गीथ, माधव भट्ट, वेंकट माधव, आत्मानन्द, सायण, उवट, महीधर, आदि ने वेदों या वेदों के स्थलविशेषों पर भाष्य रचने का उपक्रम किया। यह सब वेदविषयक अनुसंधान की दिशा में ही एक प्रयत्न था। फिर बहुत समय तक वेदों पर नवीन कार्य बन्द सा ही रहा। गत शती में स्वामी दयानन्द ने फिर इस ओर ध्यान आकृष्ट किया, तथा कर्मकाण्डिक परम्परा से भिन्न पद्धति का अवलम्बन कर वेदभाष्य किया। उनका भाष्य वेदभाष्य की परम्परा में एक क्रान्तिकारी युग का सूत्रपात करता है। लोकमान्य तिलक ने ज्योतिष की दृष्टि से कुछ वैदिक प्रकरणों पर प्रकाश डाला। उधर पश्चिमी विद्वानों का ध्यान भी वेदों की ओर आकृष्ट हुआ तथा मैक्समूलर, रॉथ, विल्सन, ग्रासमान,

ग्रिफिथ, ग्रोल्डनवर्ग, ह्विटने, मैल्डनर ग्रादि ने वेदों के शुद्ध संस्करणों के प्रकाशन, सटिप्पण ग्रनुवाद ग्रादि का कार्य किया, यद्यपि उनके वेद-विषयक मन्तव्यों पर पग-पग पर प्रश्नचिन्ह उपस्थित किये जा सकते हैं। वर्तमान में भी वेदों पर कोशनिर्माण, भाष्य तथा विविध विषयों पर ग्रनुसंधान ग्रादि हो रहे हैं।

वेदों का ग्रध्ययन करते हुए हमारा ध्यान इस अभाव की ओर विशेष रूप से गया कि शैलियों की दृष्टि से वेदों का ग्रध्ययन प्रायः नहीं हुग्रा है। शैली-विचार के विना वेदों का वास्तविक रूप पाठक के समक्ष नहीं ग्रा पाता। जब हम सायणादि के भाष्यों को पढ़ते हैं, तब वैदिक शब्दों का ग्रर्थ तो हमें विदित होता है, किन्तु उनके पीछे क्या भावना है, इससे हम पर्याप्त ग्रंशों में अपरिचित रहते हैं। हमारे सम्मुख ग्रनेक समस्याएं उपस्थित हो जाती हैं ग्रौर समाधान की ग्रपेक्षा करती हैं। अथवा हम यह समझने लगते हैं कि वेदों में कोई विशेषता नहीं है, स्तुति, प्रार्थना, यज्ञ तथा कुछ निरर्थक ग्राख्यान मात्र हैं। परन्तु जब हम वेदों की शैलियों से परिचित हो जाते हैं, तब हमारे लिए स्तुति-प्रार्थनाएं कोरी स्तुति-प्रार्थनाएं नहीं रहतीं, ग्राख्यान कोरे ग्राख्यान नहीं रहते, संवाद कोरे संवाद नहीं रहते, अपितु उनके पीछे किन्हीं रहस्यार्थों के दर्शन होने लगते हैं। इसी विचार से प्रस्तुत प्रवन्ध में वेदों कीं शैलियों को शोध के विषय के रूप में गृहीत किया गया है।

शैली का विषय ग्रपने ग्राप में वहुत विस्तृत है। इस पर भाषा, छन्द, अर्थ ग्रादि कई दृष्टियों से विचार हो सकता है। हमने केवल वर्णन, विषय-प्रतिपादन या ग्रर्थ का ही ग्राधार रखा है, अर्थात् वेद किसी विषय का प्रतिपादन किन-किन शैलियों से करते हैं, यह दर्शाया है। ग्रतएव प्रवन्ध का शीर्षक 'वेदों की वर्णन-शैलियां' है। वर्णन या प्रतिपादन की शैलियाँ भी वेद में ग्रनेक समझी जा सकती हैं, उनमें से प्रमुख शैलियों को ही लिया है, जिन्हें आठ ग्रध्यायों में विभक्त किया गया है। इन अध्यायों को लिखने से पूर्व चारों वेदों का ध्यानपूर्वक पारायण कर जिस शैली की जो सामग्री जहां प्राप्त होती है, उसे वड़े प्रयत्न से संगृहीत किया है। इस दिशा में यह सर्वथा नवीन प्रयत्न है। यद्यपि वेदों के हिन्दी भाष्य विद्यमान हैं, तो भी उनसे सन्तोष न कर प्रबन्ध में प्रयुक्त वेदमन्त्रों का भाषान्तर भी स्वयं किया है, जिसमें ग्रनेक स्थानों पर दूसरे भाष्यों के भाषान्तर से नवीनता है। भाषा धारावाही रहे तथा शब्दार्थों से दूर भी न जाये इस का ध्यान रखा गया है। किस शैली के

विचार से क्या विशेष परिणाम हमारे समक्ष आते हैं, इस पर भी यथास्थान चर्चा की गयी है।

विषय–प्रवेश रूप प्रथम अध्याय में विषय के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। तथा इस विषय पर प्राचीन देन क्या है, जो शोधकार्य में हमारे लिए संबल बनती है, यह विस्तार से दर्शाया है। वेदों की अनेकार्थक शैली को भी स्पष्ट किया गया है। अनेक अर्थ-प्रक्रियाओं की शैली पर एक स्वतन्त्र अध्याय भी लिखा जा सकता था, परन्तु वैसा न कर इसे विषय–प्रवेशात्मक इस अध्याय में ही लिया है। इस शैली का प्रयोग अगले अध्यायों में हमने पर्याप्त किया है, इस कारण प्रथम अध्याय में इसका विवेचन हो जाना आवश्यक था। अन्त में अपने अध्ययन की दिशा तथा सीमाओं को भी स्पष्ट कर दिया है।

अगले अध्यायों में विभिन्न शैलियां हैं। प्रहेलिकात्मक शैली के अध्याय में जो प्रहेलिकाएं दी गयी हैं, उनके चयन में बहुत परिश्रम किया गया है। उनमें से कुछ तो प्रहेलिका रूप में सर्वविदित हैं। किन्तु शेष का प्रहेलिकात्मक रूप हमने स्वयं निर्धारित किया है, भाष्यकारों ने उन्हें वैसा रूप नहीं दिया है। प्रहेलिकाओं की जो व्याख्याएं पूर्व आचार्यो ने की हैं, उन्हें तो दर्शाया ही गया हैं, किन्तु उन के अतिरिक्त अनेक व्याख्याएं वेदों तथा इतर वैदिक साहित्य से संकेत-सूत्र ग्रहीत कर हमने स्वयं की हैं। इस शैली का वेदार्थ की दृष्टि से क्या महत्त्व है यह भी सोदाहरण स्पष्ट किया गया है।

संवादात्मक शैली में वैदिक संवादों को दर्शाते हुए प्रत्येक मन्त्र को लिया है, तथा जहां सायणादि से हमारा मतभेद है उसे भी हेतु पुरस्सर दिया है। प्रायः इन संवादों की प्राकृतिक व्याख्याएँ ही की जाती रही हैं। हमने विविध दृष्टिकोणों से व्याख्याएं प्रस्तुत करने का यत्न किया है। प्रत्येक अध्याय पर यहां कुछ लिखने से इस प्राक्कथन के अधिक बड़ा हो जाने का भय है। प्रथम अध्याय में संक्षेप से तथा आगे प्रत्येक शैली पर विचार करते हुए पर्याप्त लिख दिया गया है। अतः पिष्टपेषण की आवश्यकता भी नहीं है।

इस प्रबन्ध को लिखने में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के बृहत् पुस्तकालय से बहुत लाभ उठाया गया है। जिन वैदिक विद्वानों के ग्रन्थों से सहायता मिली है, उनका नाम सादर सन्दर्भग्रन्थ-सूची में दे दिया गया है। आधुनिक विद्वानों में श्री पाद दामोदर सातवलेकर, डा० मंगलदेव शास्त्री, पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड तथा आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति से लेखक को विशेष प्रेरणा प्राप्त हुई है। अपने पी-एच० डी० के निर्देशक डा० धर्मेन्द्र-

नाथ शास्त्री, अध्यक्ष संस्कृत विभाग डी० ए० वी० कालेज देहरादून से समय-समय पर जो अनेक परामर्श प्राप्त हुए हैं, तदर्थ उनके प्रति लेखक अत्यन्त कृतज्ञ हैं। अन्त में उन मनीषी प्राचीन आचार्यों के प्रति लेखक नतमस्तक होता है, जो वेदमय थे तथा जिनके सुरक्षित साहित्य का इस शोध-प्रबन्ध में प्रचुर प्रयोग किया गया है।

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब तथा गुरुकुल विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने गुरुकुल के व्यय पर इसे प्रकाशित करवाना स्वीकार किया। गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी के व्यवसायाध्यक्ष डा० हरिप्रकाश आयुर्वेदालंकार ने इसके प्रकाशन एवं मुद्रण में विशेष रुचि लेकर अत्यल्प समय में ही गुरुकुल-मुद्रणालय के कर्मचारियों के सहयोग से इसे प्रकाशित करा दिया। एतदर्थ लेखक इन सबके प्रति आभार व्यक्त करता है।

इस शोध-प्रबन्ध पर सन् १९६६ में आगरा विश्वविद्यालय से लेखक को पी-एच० डी० उपाधि प्राप्त हुई थी। किन्तु अभी तक इसे प्रकाशित नहीं किया जा सका था। अब गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के श्रद्धानन्द-शोध-संस्थान द्वारा यह प्रकाश में आ रहा है। आर्यसमाज-स्थापना-शताब्दी वर्ष पर वेद-प्रेमियों के सम्मुख लेखक की यह विनम्र भेंट उपस्थित है।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
२८ फरवरी १९७६

रामनाथ वेदालंकार

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

शैली-विचार

वेदों का गौरव

विश्व-साहित्य में वेदों का स्थान बहुत उच्च तथा गौरवपूर्ण है। सभी काल के भारतीय मनीषियों को इन्होंने अपनी दिव्य भारती से आकृष्ट किया है। अर्थ-पूर्णता, देवताओं के माध्यम से नाना विषयों के प्रतिपादन की कला, ब्रह्मविद्या तथा सृष्टिविद्या का एवं इहलोक तथा परलोक का समुचित समन्वय, स्थूल प्रतीकों द्वारा सूक्ष्म आध्यात्मिक रहस्यों के वर्णन की क्षमता, क्वचित् गम्भीर और क्वचित् आख्यान, संवाद आदि रोचक शैलियों द्वारा विषय के निरूपण, अनुपम काव्य-सौन्दर्य आदि के कारण वेदों ने विशेष आदर प्राप्त किया है। आर्यावर्त में प्राचीन काल से वेदों का अध्ययन-अध्यापन पवित्र कर्तव्य माना जाता रहा है। मध्य-काल में जब वेदार्थ लुप्तप्राय हो गये, यहां तक कि मन्त्रों की अनर्थकता का वाद चल पड़ा, तब भी वेदों के पाठमात्र से स्वर्ग-प्रापक अदृष्ट की उत्पत्ति तथा परम कल्याण की प्राप्ति स्वीकार की जाती रही। समस्त संस्कृत-साहित्य एक स्वर से वेदों की गौरव-गाथा का गान करता है।

वेदों की महत्ता से विदेशी विद्वान् भी कम प्रभावित नहीं हुए हैं। मैक्स-मूलर, रॉथ, विलसन, ग्रासमान, लुडविग, ग्रिफिथ, ओल्डनवर्ग, कीथ, ह्विटने, ब्लूमफील्ड प्रभृति पश्चिमी विद्वानों ने वेदों के अध्ययन, प्रकाशन, अनुवाद, टिप्पणी-योजन आदि कार्यों में पर्याप्त रुचि प्रदर्शित की है, तथा वे वेदों को इस कोटि का साहित्य समझते हैं जिस पर अधिकाधिक अनुसंधान-कार्य किया जाना चाहिए। यह श्रेय का विषय है कि आज अनेक दृष्टियों से जगत् वेदों की महत्ता को स्वीकार कर चुका है, तथा इस के विविध विषयों पर भारत में और विदेशों में भी शोधकार्य हो रहा है।

वेदों के शैली-विचार का महत्त्व

किसी भी शास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ करने से पूर्व उसकी भाषागत तथा अर्थगत शैलियों का परिज्ञान आवश्यक होता है। अन्यथा उस शास्त्र को न हम पूर्णतः समझ सकते हैं, न ही उसका यथार्थ मूल्यांकन कर सकते हैं। उदाहरणार्थ प्रत्याहार-प्रक्रिया, परिभाषावलि, सूत्रशैली आदि के पूर्व ज्ञान के बिना हम पाणिनि की अष्टाध्यायी को हृदयंगम नहीं कर सकते, कालिदास, बाण या माघ की विशिष्ट शैलियों का परिचय पाये बिना उनकी कविता का

मूल्य-निर्धारण नहीं कर सकते। इसी प्रकार वेदों के हृद्गत आशय को समझने के लिए तथा उनका मूल्यांकन करने के लिए वेदों में प्रयुक्त शैलियों का ज्ञान परम आवश्यक है।

वेदों की रचना तथा शैली इतर शास्त्रों से विलक्षण प्रकार की है। वेदों के समान स्मृतियां भी धर्मशास्त्र हैं, किन्तु वेदों तथा स्मृतिशास्त्रों की शैली में महान् अन्तर है। स्मृतिशास्त्र वर्ण, आश्रम, राजनीति आदि प्रत्येक विषय का पृथक् प्रकरण रखते हैं, तथा उसमें उस-उस विषय के सब नियमों का उल्लेख कर देते हैं। परन्तु वेदों में ऐसा कोई स्पष्ट क्रम हमे परिलक्षित नहीं होता। वेद अग्नि, इन्द्र आदि के स्तुति-प्रसंग से कहीं भी किसी विषय की कोई वात कह जाते हैं, वह भी प्रायः द्व्यर्थकता के आवरण के पीछे अन्तर्हित रहती है, जिसे सूक्ष्म दृष्टि से देखना पड़ता है। स्मृति-शास्त्रों की भाषा स्पष्टतः एक निश्चित अर्थ को देती है, प्रत्येक व्यक्ति उससे एक ही अर्थ समझता है। परन्तु वेदों की भाषा रहस्यमय है, विभिन्न व्यक्ति उससे अपने-अपने स्तर के भिन्न-भिन्न आशय गृहीत कर सकते हैं। स्मृतिशास्त्रों में ब्रह्मचारी, स्नातक, राजा आदि के जो कर्तव्य-विधान करने होते हैं, वे स्पष्टतः प्रतिपादित कर दिये जाते हैं कि अमुक के अमुक कर्तव्य हैं, जिनका उसे पालन करना चाहिए। परन्तु वेद सीधी विधिपरक भाषा में वहुत कम वोलते हैं। जब वे स्पष्टतः विधि का विधान ही नहीं करते तो शंका होने लगती है कि उन्हें धर्मशास्त्र की कोटि में ही क्योंकर माना जाए।

जब हम वेदों की शैलियों से अभिज्ञ हो जाते हैं, तब इस प्रकार की सब शंकाएं स्वतः निर्मूल हो जाती हैं, तथा उन शैलियों को ध्यान में रखते हुए हम वेदों के आशय तक पहुंच सकते हैं। उदाहरणार्थ, वेद की शैलियों में एक संवादात्मक शैली है। इस शैली के रहस्य को समझे विना जब हम यम-यमी के संवाद को पढ़ते हैं, तब कोई यम-यमी थे, जिनमें ऐसा संवाद हुआ था, इतने मात्र अर्थ का वोध हमें होता है। परन्तु संवाद को एक प्रतिपादन-शैली के रूप में स्वीकृत कर लेने पर हम इस संवाद से अनेक विधियों को स्वतः कल्पित कर लेते हैं, यथा भाई-वहिन का परस्पर विवाह नहीं होना चाहिए, यदि कभी कोई परस्पर ऐसा प्रस्ताव कर भी वैठे तो दूसरे को उसका प्रत्याख्यान कर देना चाहिए, आदि। यही अन्य संवादों व आख्यानों के विषय में है। ऐसा करने पर जो मन्त्र विधिहीन दिखाई देते हैं, वे ही सब स्पष्टतः विधियों का प्रतिपादन करते हुए प्रतीत होने लगते हैं, तथा समस्त वेद कर्तव्योपदेशक शास्त्र के रूप में परिणत हो जाता है।

अनेक स्थलों में वेद में प्रहेलिका-शैली आती है। इस शैली से परिचित हुए बिना प्रहेलिका वाले स्थल असंबद्धार्थाभिधायी उन्मत्त-प्रलाप से प्रतीत होते हैं। इस शैली का रहस्य न समझने के कारण ही वेदों के अनेक प्रकरणों का आशय समझने में विद्वान् भाष्यकार भी असफल रहे हैं, इसकी मीमांसा हमने इस शैली के अध्याय में विशद रूप से की है। वेदों की अर्थवादात्मक शैली पर ध्यान न जाने के कारण कई वार वेदों पर यह आक्षेप किया जाता है कि वेद असत्य फलों को वर्णित करते हैं। पर फलश्रुति की अर्थवादात्मकता हृदयंगम कर लेने पर यह संशय दूर हो जाता है। यही बात प्रत्येक शैली के संबंध में कही जा सकती है। प्रत्येक शैली के विचार का महत्त्व यथास्थान उस-उस शैली के अध्याय में प्रकट हो गया है। शैली-विचार के बिना जो प्रकरण मृतकल्प प्रतीत होता है, वही शैली का रहस्य समझ लेने पर सप्राण दीखने लगता है, और ऐसा प्रतीत होता है, मानों वह स्वयं बोल कर अपने आशय को स्फुरित कर रहा है। यदि शैलियों की दृष्टि से वेदों का विशद अध्ययन अब तक किया गया होता तो वेदों के साथ हम अधिक न्याय कर सकते और आज वेदों की जो लोक-प्रियता है, उससे कहीं बहुत अधिक हो सकती।

वेदों में आगे प्रतिपादित जो भी शैलियां व्यवहृत हुई हैं, उनके विवेचनात्मक अध्ययन का एक लाभ यह भी होगा कि उस-उस शैली के सब प्रकरणों को एकत्र कर हम उस शैली के प्रयोग में वेद कहां तक गये हैं तथा किस प्रकार और कितने अंशों तक वे परवर्ती साहित्य के लिए उन-उन शैलियों के प्रयोग में पथ-प्रदर्शक हुए हैं, इसकी भी मीमांसा कर सकेंगे। संक्षेप में वेदों के शैली-विचार से हमें निम्न प्रकार के लाभ हो सकेंगे।

१. वेदों का स्वरूप निखर कर हमारे सामने आयेगा।
२. वेदों में वैविध्य का दर्शन हो सकेगा।
३. मन्त्रों को विधिरूप में परिणत कर सकेंगे।
४. मंत्रों में विविध अर्थ-प्रक्रियाओं की योजना कर सकेंगे।
५. जो प्रकरण कोरे इतिहास या काल्पनिक आख्यान समझे जाते हैं, उनमें अन्तर्निहित अभिप्राय को हृदयंगम कर सकेंगे।
६. उन शैलियों का संहितोत्तर काल में कहां तक उपयोग, पल्लवन एवं विकास या ह्रास हुआ है, इसकी मीमांसा कर सकेंगे।
७. जो वैदिक शैलियां शिक्षा-मनोविज्ञान की दृष्टि से उपादेय हैं, उन का लोक में प्रयोग कर सकेंगे।

८. अनेक असंगत तथा विपरीतार्थाभिधायक प्रतीत होने वाले प्रकरणों की सुसंगत व्याख्या हो सकेगी।
९. अतिशयोक्तिपूर्ण फलश्रुतियों का वास्तविक अभिप्राय हृदयंगम किया जा सकेगा।
१०. वेदों के क्रूर अभिशापों के पीछे जो भावना है, उसका ग्रहण कर सकेंगे।
११. वेद स्तुति-प्रार्थनाओं का संग्रहमात्र है, इसका परिहार हो सकेगा।
१२. वेद विविध विज्ञानों की निधि है, इसका रहस्य उद्‌घाटित हो सकेगा।

इस प्रकार शैली-विचार के महत्त्व का कुछ विवेचन करने के अनन्तर अब यह देखना आवश्यक है कि शैली-विषयक शोधकार्य को प्रवृत्त करने के लिए प्राचीन देन हमें किस अंश तक प्राप्त होती है।

वेदों में शैली-निर्देश

यद्यपि सामान्यतः वेदों में वैदिक शैलियों के निर्देश की आशा नहीं की जाती, तो भी प्रसंगवश कुछ शैलियों का संकेत वेदों में आया है। एक दृष्टि से वेदमंत्रों का ऋग्, यजुः, साम इन तीन श्रेणियों में विभाजन प्राप्त होता है।[1] जिन मन्त्रों में अर्थवश पादव्यवस्था होती है वे ऋग्, गानपरक मन्त्र साम, तथा इन दोनों से अवशिष्ट मन्त्र यजुः कहाते हैं। जैमिनीय मीमांसा में इसे निम्न शब्दों में प्रतिपादित किया है—"तेषाम् ऋग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था। गीतिषु सामाख्या। शेषे यजुःशब्दः" (पू. मी. २. १. ३५-३७)। ऋग्, यजुः, साम इन भेदों की एक व्याख्या यह की जा सकती है कि वर्णनात्मक मन्त्र ऋग्, विधिपरक या यज्ञ से सम्बन्ध रखने वाले मन्त्र यजुः, तथा स्तुतिगानपरक मन्त्र साम होते हैं।[2] एवं ऋग्, यजुः, साम ये वेदमन्त्रों की तीन शैलियां मानी जा सकती हैं, यद्यपि यह शैलीभेद बहुत स्पष्ट नहीं है, तथा इन संज्ञाओं के उपर्युक्त अर्थ ही वेद को अभिप्रेत हैं; इसमें पुष्कल प्रमाण भी नहीं है।

---

१. द्रष्टव्यः ऋग् १०. ९०. ९, यजु ३१. ७ तथा ३४. ५
तुलनीय : सा वा एषा वाक् त्रेधा विहिता, ऋचो यजूंषि सामानि। शत० १०. ५. १. २। विनियोक्तव्यरूपश्च त्रिविधः सम्प्रदर्श्यते। ऋग्यजुः सामरूपेण मन्त्रो वेदचतुष्टये॥ षड्गुरुशिष्य, सर्वानुक्रमणी-वृत्ति की भूमिका।

२. ऋग्भिः शंसन्ति, यजुर्भिर्यजन्ति, सामभिः स्तुवन्ति। निरु. १३. ७

इससे अधिक स्पष्ट रूप में अथर्ववेद में व्रात्यप्रकरण के निम्न मंत्रों में कुछ शैलियों का निर्देश मिलता है, वे हैं इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसी।

> स बृहतीं दिशमनुव्यचलत्। तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन्। इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद।
>
> अथर्व. १५. ६. १०-१२।

सामान्यत: इतिहास, पुराण आदि ब्राह्मणग्रन्थों के शैली-भेद माने जाते हैं। परन्तु संहिता में निर्दिष्ट ये चारों भेद संहितोत्तरकालीन ब्राह्मणग्रन्थों के नहीं हो सकते। एवं ये भेद वेदमन्त्रों के ही होने चाहिएं।

१. इतिहास

वेदों में जो आख्यानात्मक शैली के प्रकरण हैं, उन्हें इतिहास कहते हैं। निरुक्तकार ने भी वेद के कुछ प्रकरणों पर इतिहास दर्शाया है। यथा, वृष्टिसूक्त (ऋग् १०. ९८) पर देवापि-शन्तनु का इतिहास दिया गया है।[३] नदी-सूक्त (ऋग् ३. ३३) पर विश्वामित्र का इतिहास दिखाया है।[४] द्रुघणसूक्त (ऋग् १०. १०२) पर मुद्गल भार्म्यश्व का इतिहास प्रदर्शित किया गया है।[५] विश्वकर्मा-सूक्त (ऋग् १०. ८१) पर विश्वकर्मा भौवन का इतिहास वर्णित किया गया है।[६] सरण्यू के मन्त्र (ऋग् १०. १७. २) पर सरण्यू-विवस्वान् का इतिहास दिया गया है।[७] यह ध्यान देने योग्य है कि जहां निरुक्तकार 'तत्रेतिहासमाचक्षते' ऐसा कहते हैं, वहां उनका अभिप्राय ऐतिहासिक शैली से होता है, जैसा उक्त प्रकरणों में है। किन्तु जहां 'इत्यैतिहासिका:' कहते हैं, वहां वेदार्थ के ऐतिहासिक सम्प्रदाय से अपना मतभेद प्रदर्शित करते हैं। यथा 'तत् को वृत्र:? मेघ इति नैरुक्ता:, त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिका: (निरु.२.१६)।' वेद में ऐतिहासिक शैली की सत्ता निरुक्तकार स्वीकार करते हैं, उससे उनका विरोध नहीं है।

शौनक ने भी वेद के कुछ सूक्तों को इतिहासात्मक कहा है।[८] ऋग्वेद के निम्न प्रकरण इतिहासात्मक शैली के उदाहरण-रूप में प्रस्तुत किये जा सकते

---

३. निरु. २. ११
४. निरु. २. २४
५. निरु. ९. २२
६. निरु. १०. २६
७. निरु. १२. १०
८. बृ. दे. ४. ४६; ६. १०७, १०९; ७. ७, १५३; ८. ११

हैं—पाशबद्ध शुनः शेप का इतिहास (ऋग् १. २४-३०), इन्द्र-अहि के युद्ध का इतिहास (ऋग् १. ३२), दधीचि की अस्थियों से वृत्रवध का इतिहास (ऋग् १. ८४. १३, १४) कूप-पतित त्रित का इतिहास (ऋग् १. १०५),[९] अश्विदेवों के इतिहास (ऋग् १. ११६), अपाला का इतिहास (ऋग् ८. ८०)[१०], सुबन्धु के प्राणानयन का इतिहास (ऋग् १०. ५७-६०) आदि। दान-स्तुतियों के सूक्त भी ऐतिहासिक शैली के ही हैं, जिनमें राजाओं के दान की स्तुति की गयी है। कुछ आचार्य संवाद-सूक्तों को भी इतिहासात्मक मानते हैं।[११]

२. पुराण

पुराण शब्द प्रायः इतिहास के साथ आता है। शतपथ-ब्राह्मण में इन दोनों का वेद नाम से स्मरण किया गया है।[१२] गोपथ ब्राह्मण में पांच दिशाओं से पांच वेदों की उत्पत्ति बताते हुए ध्रुवा एवं ऊर्ध्वा दिशाओं से क्रमशः इतिहास-वेद तथा पुराण-वेद को उत्पन्न कहा गया है[१३]। सायण के अनुसार पुराण एक कथा है जो सृष्टि की आरम्भिक अवस्था का वर्णन करती है।[१४] एवं प्रारम्भ में वेद के ही कुछ भागों को जिनमें पुरातन सृष्टिविद्या का वर्णन है, पुराण कहा जाता था।[१५] अथर्ववेद में यह इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। बाद में उत्तरवर्ती पौराणिक साहित्य को भी पुराण संज्ञा दे दी गयी,

---

९. निरुक्त में इस सूक्त के विषय में कहा है कि इसमें इतिहास, ऋक् तथा गाथा का मिश्रण है—तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रं ऋङ्मिश्रं गाथामिश्रं भवति। निरु. ४.६

१०. इसे कात्यायन ने भी इतिहास कहा है—कन्या वाः सप्तात्रेय्यपालेतिहास ऐन्द्रः—का. ऋ. सर्वा.।

११, यथा पुरूरवा–उर्वशी-संवाद के विषय में शौनक का कथन है कि यास्क इसे संवाद मानते हैं, किन्तु मेरी सम्मति में यह इतिहास है। बृ. दे. ७. १५३

१२. तानुपदिशति इतिहासो वेदः।...तानुपदिशति पुराणं वेदः। शत १३. ४. ३. १२. १३

१३. गो.ब्रा. पू. १. १०

१४. द्रष्टव्यः ऐतरेय ब्राह्मण पर सायणभाष्यभूमिका। रॉथ ने भी अपने कोष में इसका उल्लेख किया है, यद्यपि इसे चिन्त्य बताया है।

१५. जीग का विचार। द्रष्टव्यः सूर्यकान्त : वैदिक कोष, १९६३, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, इतिहास तथा पुराण शब्द।

क्योंकि उसमें भी सृष्ट्युत्पत्ति, सृष्टिसंहार आदि के वर्णन आते हैं।[16] ऋग्वेद के प्रमुख पुराण-प्रकरण निम्न हैं—

१०. ७२	अदिति-सूक्त
१०. ८१, ८२	विश्वकर्मा-सूक्त
१०. ९०	पुरुष-सूक्त
१०. १२१	हिरण्यगर्भ-सूक्त
१०. १२९	नासदीय-सूक्त
१०. १९०	भाववृत्त-सूक्त

३. गाथा

वेदों में गाथा शब्द का प्रयोग मिलता है। यह स्वतन्त्र रूप से पांच बार ऋग्वेद में, तीन बार सामवेद में तथा छह बार अथर्ववेद में आया है।[17] यहां गाथा से गाथा-शैली में निबद्ध विशेष वेद-मन्त्रों का ही ग्रहण होता है। यास्क ने ऋग् १.१०५ के विषय में कहा है कि इसमें कुछ मन्त्र इतिहासरूप, कुछ ऋग्रूप तथा कुछ गाथारूप हैं।[18] इससे स्पष्ट है कि यास्क के मतानुसार वेद-मन्त्रों में गाथाएं हैं। काठक तथा पारस्कर गृह्य सूत्रों में 'सरस्वति प्रेदमव' इत्यादि अनुवाक को गाथा कहा गया है,[19] एवं ये भी वेदों में गाथाएं मानते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में अथर्ववेद २०. १२७ की ११ से आगे की कुन्ताप ऋचाओं को गाथा कहा है।[20] तैत्तिरीय आरण्यक के भाष्य में सायण मन्त्र-विशेषों को गाथा कहते हैं।[21] इन प्रमाणों के होते हुए कुछ विद्वानों का यह

---

१६. सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

१७. ऋग् ८.३२.१; ८.७१.१४; ८.९८.९; ९.९९.४; १०.८५.६
साम पू. १.५.५; उ. १.२३.३; उ. ८.६.३
अथर्व. १०. १०. २०; १४. १. ७; १५. ६. ११, १२; २०. १००. ३; २०. १०३. १

१८. निरु. ४. ६ (द्रष्टव्यः पादटिप्पणी ९)।

१९. ततो गाथा वाचयति सरस्वति प्रेदमवेत्यनुवाकम्। का. गृ. सू. २५. २३। इस पर टीकाकार का निम्न वचन है "गीयन्ते इति गाथा;, विशिष्टा एव ऋचः हैं। "अथ गाथा गायन्ति, सरस्वति प्रेदमव सुभगे वाजिनीवती,' पा. गृ. सू. १७. २

२०. ऐ. ब्रा. ६. ३२

२१. गाथा मन्त्रविशेषाः—तै. आ. २.९ का सायणभाष्य।

मत स्वीकार नहीं किया जा सकता कि गाथाएं केवल लौकिक ही होती हैं, वैदिक नहीं।[२२] वेद में संभवतः वे गेय ऋचाएं गाथा कहलाती हैं जिनमें देवस्तुति आदि वर्णित होती है। ऋग्वेद में कहा है कि तुम गाथा द्वारा इन्द्र के कार्यों का गान करो।[२३]

४. नाराशंसी

निरुक्त में नाराशंस उन मन्त्रों को कहा गया है जिनमें मनुष्यों की प्रशंसा होती है।[२४] शौनक के अनुसार नाराशंसी वेद की उन ऋचाओं को कहते हैं, जिनमें राजाओं के दान आदि की स्तुति की जाती है—

कर्माणि याभिः कथितानि राज्ञां
दानानि चोच्चावचमध्यमानि।
नाराशंसीरित्यृचस्ताः प्रतीयाद्
याभिः स्तुतिर्दाशतयीषु राज्ञाम्॥ बृ. दे. ३. १५४।

सायण ने भी ऐसा ही माना है[२५]। ऋग्वेद में राजाओं की दान-स्तुतियां, जो नाराशंसी के अन्तर्गत हो सकती हैं, अनेक हैं। कात्यायन ने अपनी सर्वानुक्रमणी में निम्न बाईस दान-स्तुतियों का उल्लेख किया है[२६]—

१. १२५ स्वनय
१. १२६ भावयव्य

---

२२. द्रष्टव्यः सूर्यकान्त : 'वैदिक कोश' १९६३, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, गाथा शब्द पर रॉथ का विचार।

२३. प्र कृतानि ऋजीषिणः कण्वा इन्द्रस्य गाथया।
मदे सोमस्य वोचत॥ ऋग् ८. ३२. १

२४. येन नराः प्रशस्यन्ते स नाराशंसो मंत्रः। तस्यैषा भवति, अमन्दान् स्तोमान् प्र भरे मनीषा (ऋग् १. १२६. १)। निरु. ९. ९

२५ प्राता रत्नम् ऋग्. १. १२५. १ इत्यादिका मनुष्याणां स्तुतयो नाराशंस्यः। सायण ऋग् १०. ८५. ६ का भाष्य।

२६. जिन राजाओं की दान-स्तुति की गयी है, उनके विषय में दो मत हैं। प्रथम मत यह है कि ये ऐतिहासिक राजा हुए हैं, जिनसे दान पाकर ऋषि ने उनके दान की स्तुति की है। द्वितीय मत के अनुसार ये काल्पनिक नाम हैं, जो यौगिक अर्थ से राजाओं के किन्हीं गुणों को सूचित करते हैं। प्ररोचना द्वारा वेद ने दान का विधान किया है। द्रष्टव्यः युधिष्ठिर मीमांसक : 'ऋग्वेद की कतिपय दानस्तुतियों पर विचार' नामक लघुलेख : प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, अजमतगढ़ पैलेस, काशी।

५. ६१	वैददश्वि तरन्त, वैददश्वि पुरुमीढ, दार्भ्य रथवीति, तरन्तमहिषी शशीयसी
६. २७	चायमान अभ्यावर्ती
६. ४७	सार्ञ्जय प्रस्तोक
७. १८	सुदास् पैजवन
८. २	विभिन्दु
८. ३	कौरयाण पाकस्थामा
८. ४	कुरंग
८. ५	चैद्य कशु
८. ६	तिरिंदिर पार्शव्य
८. १९	त्रसदस्यु
८. २१	चित्र
८. २४	सौषाम्ण वरु
८. ४६	कानीत पृथुश्रवा
८. ५५	प्रस्कण्व
८. ७४	आर्क्ष श्रुतर्वा
१०. ३३	कुरुश्रवण त्रासदस्यव
१०. ६२	सावर्णि

एवं इतिहास, पुराण, गाथा तथा नाराशंसी ये अथर्ववेदोक्त नाम वेदों की विभिन्न शैलियों को सूचित करते हैं। शैली-विचार में इतनी देन हमें वेदों से प्राप्त होती है।

शतपथ-ब्राह्मण में शैली निर्देश

शतपथ-ब्राह्मण में मैत्रैयी-याज्ञवल्क्य-संवाद के प्रसंग में याज्ञवल्क्य के निम्न वचन आये हैं—

'स यथा आर्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्चरन्ति एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि एतस्यैवैतानि सर्वाणि निश्वसितानि"। शत. १४. ५. ४. १०।

इसमें ऋगादि चारों वेदों के अतिरिक्त इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान इन्हें भी महान् भूत परमेश्वर के निश्वसित रूप कहा है। चतुर्मुख ब्रह्मा से उपदिष्ट वेद-संहिताएं ही मानी जाती हैं, इतर साहित्य नहीं। अतः जब याज्ञवल्क्य इतिहासादि को भी परमेश्वर का

निश्वसित कहते हैं, तो उनका अभिप्राय यह होना चाहिए कि ये इतिहासादि वैदिक संहिताओं के ही भाग-विशेष हैं। इनमें से इतिहास तथा पुराण के विषय में ऊपर लिखा जा चुका है। शेष के सम्बन्ध में यहां विचार करते हैं।

विद्या—विद्या वेद के वे स्थल कहलायेंगे जिनमें ब्रह्म से अतिरिक्त किन्हीं अन्य विद्याओं का वर्णन हो, यथा आयुर्विद्या, धनुर्विद्या, कृषिविद्या, व्यापारविद्या, पशुपालनविद्या, अर्थविद्या, गणितविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या आदि[२७]। वेदों के विविध प्रसंगों में इन विभिन्न विद्याओं का वर्णन उपलब्ध होता है। वे सब प्रसंग विद्या के अन्तर्गत होंगे[२८]। देवों की स्तुति, प्रार्थना आदि के प्रसंगों का विद्या में अन्तर्भाव नहीं होगा।

उपनिषद्—उपनिषद् मुख्यतः रहस्यमय ब्रह्मविद्या के प्रसंगों को कहेंगे। ब्रह्मविद्या-सम्बन्धी शुक्ल-यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय तो पृथक् ईशोपनिषद् नाम से प्रख्यात हो ही गया है। अन्य ऋग्वेद का पुरुष-सूक्त (१०. ९०), अथर्ववेद के केनसूक्त (१०. २) स्कम्भ सूक्त (१०. ७) आदि भी उपनिषद् कहला सकते हैं। ब्रह्मविद्या से अतिरिक्त कुछ अन्य वर्णनों को भी उपनिषद् कहते हैं, जिनमें कोई रहस्य होता है, अथवा जो प्रत्यक्षतः या परोक्षतः स्तोता के अपने से संबंध रखने वाले, सर्वसाधारण पर प्रकट न करने योग्य उद्गार होते हैं। कात्यायनीय सर्वानुक्रमणी में ऋग्वेद के निम्न प्रसंगों को उपनिषद् कहा है —

१. ५०. ११-१३	रोगघ्नी उपनिषद्
१. १९१	विषघ्नी उपनिषद्
५. ७८. ५, ६	गर्भस्राविणी उपनिषद्
७. ५५. २-८	प्रस्वापिनी उपनिषद्
१०. १४५	सपत्नीबाधन उपनिषद्

इनमें से प्रथम में आदित्य के उदय का स्वागत करते हुए उससे हृदयरोग, हरिमा एवं द्वेषी के विनाश की आशंसा की गयी है। द्वितीय में अप्, तृण, सूर्य

---

२७. विविध विद्याओं के परिचयार्थ, द्रष्टव्य : छा. उ. ७.१।
उत्तरकालीन साहित्य में विद्या का व्यापक अर्थ हो गया है तथा आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, दण्डनीति ये चार विद्याएं, या ४ वेद ६ वेदांग, धर्मशास्त्र, पुराण, न्याय तथा मीमांसा ये चौदह विद्याएं मानी गयी हैं।

२८. वेदों में विविध विद्याओं के लिए द्रष्टव्यः स्वामी दयानन्द : ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, विद्यानिरूपण-प्रसंग। भगवद्दत्त : वेदविद्यानिदर्शन।

आदि से रोगकृमि तथा विष के निवारण की चर्चा है। तृतीय प्रसव-विषयक है, जिसमें कहा गया है कि दस मास गर्भ में निवास किया हुआ कुमार जीवित माता के उदर से जीवित एवं अक्षत रूप में बाहर आ जाए। चतुर्थ में सारमेय को तथा समस्त ज्ञातिजनों को प्रस्वापन कराया गया है। पंचम में पत्नी की ओर से सपत्नियों को न आने देने तथा पति के प्रेम को पाने की आकांक्षा व्यक्त की गयी है।

श्लोक आदि—इसी प्रकार स्तुति-सम्बन्धी मंत्रों को श्लोक कह सकते हैं, यथा ऋग्वेद ४.२३ में ऋत-स्तुति के श्लोक हैं[२९]। शतपथ ब्राह्मण में एक स्थल पर यजुर्वेद के ४०वें अध्याय के 'अन्धन्तमः प्रविशन्ति', 'असूर्या नाम ते लोकाः' इन मन्त्रों को श्लोक कह कर उद्धृत किया गया है[३०]।

सूत्रात्मक मंत्रों को सूत्र कह सकते हैं, यथा अथर्ववेद के कुन्तापसूक्तों के कुछ मंत्र सूत्ररूप हैं, जो लघुकलेवर हैं तथा विशद व्याख्यान की अपेक्षा रखते हैं।

यदि कोई वर्णन अन्य प्रसंग में आये हुए किसी इतर वर्णन पर आश्रित होता है, एवं उसका पूरक या उसी की व्याख्या करने वाला होता है, तो उसे अनुव्याख्यान कह सकते हैं। ऋग् १०. १०८ में सरमा एवं पणियों का एक संवाद है। पणि इन्द्र की गौएं चुरा ले गये हैं, तथा उन्हें पर्वत-गुहा में छिपा दिया है। इन्द्र सरमा को दूती बना कर भेजता है, वह पणियों को डराती-धमकाती है कि गौएं लौटा दो, नहीं तो इन्द्र के वीर आकर तुम्हें परास्त कर इन्हें छीन ले जायेंगे। परन्तु अन्त में परिणाम क्या हुआ इसका संकेत इस सूक्त में नहीं है। वह प्रथम मंडल के सूक्त ६२ मन्त्र ३,४ से ज्ञात होता है। एवं प्रथम मंडल के ये मंत्र उक्त संवाद के अनुव्याख्यान या पूरक कहलायेंगे। वेदों में ऐसे परस्पराश्रित सूक्त या मंत्र पर्याप्त हैं।

जब किसी सूक्त, अध्याय आदि में कोई बात कह आगे उसी का व्याख्यान या विस्तार किया जाता है, तब उन विस्तार-परक मंत्रों को व्याख्यान कहना उचित होगा। यथा, ऋग्वेद प्रथम मंडल के सूक्त ८० में प्रथम मंत्र में इन्द्र को सम्बोधन कर कहा गया है कि तू पृथ्वी से अहि को बाहर निकाल दे तथा स्वराज्य की अर्चना कर। विधि इस मंत्र में पूर्ण हो जाती है, उद्बोधनार्थ शेष मंत्रों में उसी का विस्तार है। दूसरा उदाहरण दशम मण्डल के सूक्त १०७

---

२९. "ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द कर्णा बुधानः शुचमान आयोः"। यहां साक्षात् श्लोक शब्द प्रयुक्त भी हुआ है।

३०. शत. १४. ७. २. ११-१४

का ले सकते हैं, जहां प्रथम दो मन्त्रों में दान की प्रशंसा करके आगे उसी का व्याख्यान किया गया है।

एवं शतपथ के इस प्रकरण से वैदिक शैलियों पर कुछ प्रकाश पड़ता है, यद्यपि इन भेदों को पूर्णतः शैली का नाम देना उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। शतपथ में अन्यत्र भी इन भेदों की चर्चा हुई है[३१]। हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि उक्त परिभाषाएं सर्वत्र वैदिक संहिता के किन्हीं अंशों के लिए ही प्रयुक्त होती हैं। अन्यत्र इनसे संहितोत्तर-काल के साहित्य के किन्हीं अंशों का भी ग्रहण हो सकता है। जैसे, उपनिषद् शब्द मुख्यतः उत्तरकाल की उपनिषदों के लिए ही प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार श्लोक आदि ब्राह्मणसाहित्य तथा उस से उत्तरकाल के साहित्य में भी पाये जाते हैं।[३२]

यास्क का शैली-विचार

यास्काचार्य ने अपने निरुक्त में दो दृष्टियों से शैली-विचार किया है। प्रथम शब्दयोजना या वाक्ययोजना की दृष्टि से, द्वितीय प्रतिपाद्य अर्थ की दृष्टि से। प्रथम के अनुसार ऋचाएं तीन प्रकार की कही हैं, परोक्षकृत. प्रत्यक्षकृत, तथा आध्यात्मिक। इन का परिचय निम्न शब्दों में दिया गया है—

तास्त्रिविधा ऋचः। परोक्षकृताः, प्रत्यक्षकृताः, आध्यात्मिक्यश्च। तत्र परोक्षकृताः सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य। 'इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्याः,' 'इन्द्रमिद् गाथिनो बृहत्', 'इन्द्रेणैते तृत्सवो वेविषाणाः,' इन्द्राय साम गायत,' 'नेन्द्रादृते पवते धाम किञ्चन,' 'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्,' 'इन्द्रे कामा अयंसत' इति। अथ प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगास्त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना। 'त्वमिन्द्र बलादधि,' 'वि न इन्द्र मृधो जहि' इति। अथापि प्रत्यक्षकृताः स्तोतारो भवन्ति परोक्षकृतानि स्तोतव्यानि। 'मा चिदन्यद् विशंसत,' 'कण्वा अभिप्रगायत,' 'उपप्रेत कुशिकाश्चेतयध्वम्,' इति। अथाध्यात्मिक्य उत्तमपुरुषयोगा अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना। यथैतदिन्द्रो वैकुण्ठो, लवसूक्तं, वागाम्भृणीयमिति। परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताश्च मंत्रा भूयिष्ठा अल्पश आध्यात्मिकाः।" निरु. ७. १–३।

१. **परोक्षकृत**—परोक्षकृत ऋचाओं में स्तोतव्य में सभी विभक्तियों का प्रयोग हो सकता है, तथा वाक्य में स्तोतव्य यदि कर्ता हो तो उसके लिए

---

३१. यथा, शत. ११.५. ६. ८ तथा १४. ६. १०. ६। प्रथम में एक नया भेद वाकोवाक्य भी है, जिसका आशय प्रश्नोत्तर से है।

३२. उक्त परिभाषाओं के विषय में अन्य ग्रन्थों तथा मतों के परिचयार्थ द्रष्टव्यः मैकडानल तथा कीथ : वैदिक इण्डैक्स, सूर्यकान्त : वैदिककोश।

क्रिया प्रथम पुरुष की रहती है। उदाहरणार्थ—इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्याः (ऋग् १०. ८९. १०) यहां स्तोतव्य इन्द्र में प्रथमा विभक्ति है, तथा वही कर्ता है, अतः उसमें 'ईशे' यह प्रथम पुरुष की क्रिया प्रयुक्त हुई है। 'इन्द्रमिद् गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः। इन्द्रं वाणीरनूषत, (ऋग् १. ७. १), इसमें स्तोतव्य इन्द्र द्वितीया विभक्ति में है, क्रिया का कर्ता इन्द्र नहीं है, अतः क्रिया पर विचार नहीं होगा। इसी प्रकार 'इन्द्रेणैते तृत्सवो वेविषाणाः (ऋग् ७.१८. १५), 'इन्द्राय साम गायत' (ऋग् ८.९८.१), 'नेन्द्रादृते पवते धाम किंचन' (ऋग् ९.६९.६) 'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्' (ऋग् १. ३२. १), 'इन्द्रे कामा अयंसत'[33] इन मंत्रांशों में क्रमशः स्तोतव्य इन्द्र में तृतीयादि विभक्तियां प्रयुक्त हुई हैं। यद्यपि गायत, प्रवोचम् ये क्रियायें क्रमशः मध्यमपुरुष तथा उत्तमपुरुष की हैं, तो भी क्योंकि उनका कर्त्ता स्तोतव्य नहीं है, अतः इनके मन्त्रों को परोक्षकृत ही माना जायेगा।

२. **प्रत्यक्षकृत**—प्रत्यक्षकृत ऋचाएं वे होती हैं, जिनमें स्तोतव्य को 'त्वम्'[34] सर्वनाम से प्रकट किया जाता है तथा उसके लिए क्रिया मध्यमपुरुष की प्रयुक्त होती है। यथा, त्वमिन्द्र बलादधि सहसो जात ओजसः। त्वं वृषन् वृषेदसि (ऋग् १०.१५३.२), इस मंत्र में स्तोतव्य इन्द्र के लिए 'त्वम्' सर्वनाम का प्रयोग किया गया है, तथा 'असि' मध्यमपुरुष की क्रिया है। 'वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः। यो अस्माँ अभिदासत्यधरं गमया तमः (ऋग् १०. १५२.४)," इस द्वितीय उदाहरण में यद्यपि "त्वम्' पद प्रयुक्त नहीं है, किन्तु यह अध्याहृत हो जाता है। 'जहि' 'यच्छ' 'गमय' क्रियाएं मध्यम पुरुष की हैं ही।

३. **आध्यात्मिक**—आध्यात्मिक ऋचाएं वे होती हैं, जिनमें देवता 'अहं' सर्वनाम के द्वारा स्वयं अपना परिचय देता है, तथा अपने लिए उत्तम पुरुष की क्रिया प्रयुक्त करता है। 'अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिः' आदि इन्द्र

---

३३. यह मन्त्र कहां का है, यह परिज्ञात नहीं हो सका। अपने 'वैदिक कंकर्डेन्स' में ब्लूमफील्ड भी निरुक्त के अतिरिक्त इसका कोई पता निर्दिष्ट नहीं कर सके हैं। दुर्गाचार्य की टीका में इसका शेष भाग इस प्रकार पूर्ण किया है 'दिव्यासः पार्थिवा उत। त्यमू षु गृणता नरः।' उसे ब्लूमफील्ड ने भी उद्धृत किया है।

३४. 'त्वम्' में यहां 'युवाम्, यूयम्' भी समाविष्ट समझने उचित हैं। यथा,'युवं हि वस्व उभयस्य राजथः' (ऋग् ७.८३.५), 'यूयं हि ष्ठा सुदानवः' (ऋग् ८.७. १२)।

वैकुण्ठ का सूक्त (ऋग् १०. ४८), 'इति वा इति मे मनो गामश्वं सनुयामिति' आदि लव-इन्द्र का सूक्त (ऋग् १०.११९) तथा 'अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि' आदि वागाम्भृणी-सूक्त (ऋग् १०.१२५) इसके उदाहरण हैं।

यहां यह पुनः ध्यान देने योग्य है कि ये विभाग स्तोतव्य की दृष्टि से किये गये हैं, स्तोता की दृष्टि से नहीं। स्तोता के लिए क्रिया मध्यमपुरुष या उत्तमपुरुष की होने पर उन्हें हम प्रत्यक्षकृत या आध्यात्मिक ऋचा नहीं कह सकते। यथा 'मा चिदन्यद् विशंसत' (ऋग् ८.१.१), 'कण्वा अभि-प्रगायत' (ऋग् १.३७.१), 'उप प्रेत कुशिकाश्चेतयध्वम् (ऋग् ३.५३.११), इनमें यद्यपि 'विशंसत', 'अभिप्रगायत', 'चेतयध्वम्' येक्रिया-पद मध्यमपुरुष के हैं तथा 'यूयं' का अध्याहार हो जाता है, तो भी 'यूयं' सर्वनाम तथा मध्यम पुरुष के क्रियापद स्तोतव्य के लिए न होकर स्तोताओं के लिए हैं, अतः ये ऋचाएं प्रत्यक्षकृत नहीं, प्रत्युत परोक्षकृत ही मानी जायेंगी।

इन तीनों प्रकार की ऋचाओं का विवेचन कर निरुक्तकार कहते हैं कि वेदों में परोक्षकृत तथा प्रत्यक्षकृत मंत्र तो बहुत हैं, किन्तु आध्यात्मिक लक्षण वाले अत्यल्प दृष्टिगोचर होते हैं।

प्रतिपाद्य अर्थ की दृष्टि से यास्क ने आठ शैलियां निर्धारित की हैं, जिन का निम्न शब्दों में वर्णन किया है—

अथापि स्तुतिरेव भवति नाशीर्वादः। 'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्' इति यथैतस्मिन् सूक्ते। अथाप्याशीरेव न स्तुतिः। 'सुचक्षा अहमक्षीभ्यां सुवर्चा मुखेन सुश्रुत् कर्णाभ्यां भूयासम्' इति। तदेतद् बहुलमाध्वर्यवे याज्ञेषु च मन्त्रेषु। अथापि शपथाभिशापौ। 'अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि' 'अधा स वीरैर्दशभिर्वियूया,' इति। अथापि कस्यचिद् भावस्याचिख्यासा। 'न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि', 'तम आसीत् तमसा गूढमग्रे' इति। अथापि परिदेवना कस्माच्चिद् भावात्। 'सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत्,' 'न विजानामि यदि वेदमस्मि' इति। अथापि निन्दाप्रशंसे। 'केवलाघो भवति केवलादी,' 'भोजस्येदं पुष्करिणीव वेश्म' इति। एवमक्षसूक्ते द्यूतनिन्दा कृषिप्रशंसा च। एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मंत्रदृष्टयो भवन्ति।" निरु. ७.३

१. स्तुति—कुछ मंत्रों में केवल स्तुति होती है, आशीः नहीं। यथा—"इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्" (ऋग् १.३२.१)। इस सम्पूर्ण सूक्त में स्तोता वीरतापूर्ण कर्मों के वर्णन से इन्द्र की स्तुति कर रहा है। इसमें वह अपने लिए याचना कुछ नहीं करता।

२. आशीः–कुछ मंत्रों में केवल आशीः (प्रार्थना) होती है, स्तुति नहीं होती। यथा–"सुचक्षा अहमक्षीभ्यां सुवर्चा मुखेन, सुश्रुत् कर्णाभ्यां भूयासम्[३५]"। यहां आंखों से अच्छा देखने, मुख से सुवर्चा होने तथा कानों से अच्छा सुनने की आशीः मात्र है। किसी देवता की स्तुति इस में नहीं है। यह शैली यजुर्वेद में तथा यज्ञ-सम्बन्धी मंत्रों में अधिक पायी जाती है।

३. शपथ–किन्हीं मंत्रों में शपथ होती है। शपथ का अभिप्राय है, अपने लिए बलपूर्वक कहना कि मैं अमुक दोष का दोषी नहीं हूं, यदि होऊं तो मेरा अमुक अनिष्ट हो जाए। यथा–"अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि" (ऋग् ७.१०४.१५), यदि मैं राक्षस होऊं तो आज ही मर जाऊं।

४. अभिशाप–कुछ मंत्रों में अभिशाप रहता है। यथा–"अधा स बीरैर्दशभिर्वियूया यो मा मोघं यातुधानेत्याह" (ऋग् ७.१०४.१५), जो मुझे यातुधान कहता है, वह अपने दसों पुत्रों से वियुक्त हो जाए।

भावाचिख्यासा–कहीं किसी भाव की विवक्षा रहती है। यथा, ऋग्वेद के प्रसिद्ध नासदीय-सूक्त में सृष्ट्युत्पत्ति से पूर्व की अवस्था का निम्न शब्दों में चित्रण किया गया है।

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास ॥
तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वं मा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम्।
ऋग् १०.१२९.२,३

६. परिदेवना–कहीं परिदेवन अर्थात् अपनी अवस्था से असन्तुष्ट होकर विलाप किया जाता है। यथा, ऋग्वेद के पुरूरवा-उर्वशी-संवाद में जब उर्वशी पुरूरवा के बार बार अनुनय-विनय करने पर भी उसके पास आने के लिए तैयार नहीं होती, तब वह उसके विरह में विलाप करता है कि इससे तो अच्छा यही है कि मैं पर्वत आदि से गिर कर आत्महत्या कर लूं—'सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत्' (ऋग् १०.९५.१४)। इसी प्रकार मनुष्य अपनी अज्ञानावस्था से असन्तुष्ट हो परिदेवन करता है कि मैं यहीं नहीं जानता कि मैं क्या हूं, 'न विजानामि यदि वेदमस्मि' (ऋग् १.१६४.३७)।

७. निन्दा–किन्हीं मंत्रों में किसी पाप आदि की निन्दा की जाती है। यथा, अन्यों को न खिला कर अकेले खाने वाले की निन्दा करते हुए कहा गया

३५. यह वाक्य मानव गृह्यसूत्र १.९.२५ में आता है। कुछ अन्तर के साथ आश्वलायन गृह्यसूत्र ३.६.७ तथा पारस्कर गृह्यसूत्र २.६.१९ में भी है। इन गृह्यसूत्रों में वेद की किसी लुप्त शाखा से लिया गया प्रतीत होता है।

है कि वह केवल पाप का ही भागी होता है 'केवलाघो भवति केवलादी' (ऋग् १०.११७.६)। इसी प्रकार अक्ष-सूक्त (ऋग् १०.३४) में द्यूत की निन्दा की गयी है।

८. प्रशंसा—किन्हीं मंत्रों में किसी सत्कार्य की प्रशंसा की जाती है, जिस से मनुष्य उसमें प्रवृत्त हों। यथा, दान-स्तुति-सूक्त में दानी की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि दानी का गृह पुष्कर-पत्रों से अलंकृत सरसी के समान शोभित होता है—"भोजस्येदं पुष्करिणीव वेश्म" (ऋग् १०.१०७.१०)।

यास्क ने अर्थ की दृष्टि से यद्यपि इन आठ शैलियों को ही प्रदर्शित किया है तो भी अन्य शैलियों का अनुसन्धान भी उन्हें अभिप्रेत है, क्योंकि उपसंहार करते हुए वे लिखते हैं कि इस प्रकार अनेकविध अभिप्रायों से ऋषि मंत्रदर्शन करते हैं।

शौनक का शैली-विचार

शौनक ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ वृहद्-देवता में निम्न श्लोकों में मंत्रों के विभिन्न प्रकार निर्दिष्ट किये हैं।

> मन्त्रा नानाप्रकाराः स्यु र्दृष्टा ये मन्त्रदर्शिभिः।
> स्तुत्या चैव विभूत्या च प्रभावाद् देवतात्मनः॥
> स्तुतिः प्रशंसा निन्दा च संशयः परिदेवना।
> स्पृहाशीः कत्थना याच्ञा प्रश्नः प्रैषः प्रवल्हिका॥
> नियोगश्चानुयोगश्च श्लाघा विलपितं च यत्।
> आचिख्यासाथ संलापः पवित्राख्यानमेव च॥
> आहनस्या नमस्कारः प्रतिराधस्तथैव च।
> संकल्पश्च प्रलापश्च प्रतिवाक्यं तथैव च॥
> प्रतिषेधोपदेशौ च प्रमादापह्नवौ च ह।
> उपप्रैषश्च यः पोक्तः संज्वरो यश्च विस्मयः॥
> आक्रोशोऽभिष्टवश्चैव क्षेपः शापस्तथैव च।
>
> वृ०दे० १.३४-३९

श्लोक ४८ से ५८ तक इनके उदाहरण भी दिये गये हैं, जो नीचे प्रदर्शित किए जाते हैं।

१. स्तुति

> चित्र इद् राजा राजका इदन्यके यके सरस्वतीमनु।
> पर्जन्य इव ततनद्धि वृष्ट्या सहस्रमयुता ददत्॥ ऋग् ८.२१.१८

इस में सोभरि द्वारा चित्र राजा की स्तुति की गई है कि चित्र ही वस्तुतः राजा है, अन्य जो सरस्वती के तट पर स्थित हैं वे छोटे राजा हैं, चित्र ने पर्जन्य के समान हम पर सहस्रों धन-धान्य, गवादि की वृष्टि की है"।

२. प्रशंसा

भोजायाश्वं सं मृजन्त्याशुं भोजायास्ते कन्या शुम्भमाना।
भोजस्येदं पुष्करिणीव वेश्म परिष्कृतं देवमानेव चित्रम्॥

ऋग् १०.१०७.१०

इस में भोज अर्थात् दानी की प्रशंसा है कि दानी के लिए लोग अश्व को सजा कर लाते हैं, दानी को वधू रूप में शोभमान कन्या प्राप्त होती है, दानी का गृह पुष्करपत्रों से अलंकृत सरसी के समान शोभित तथा देवमंदिर के समान चित्रित होता है।

३. निन्दा

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥

ऋग् १०. ११७. ६

इसमें दान न करने वाले की निन्दा है कि वह व्यर्थ ही अन्न को प्राप्त करता है, वह अन्न उस के वध का ही कारण होता है। अकेला खाने वाला केवल पाप का ही भागी होता है।

---

३६. सोभरि द्वारा चित्र की स्तुति के सम्बन्ध में शौनक ने निम्न इतिहास दिया है—"कण्वपुत्र सोभरि अपने वंशजों के साथ कुरुक्षेत्र में यज्ञ कर रहे थे, तभी चूहों ने उन के यव तथा विविध हवियों का भक्षण कर लिया। तब सोभरि ने इन्द्र, चूहों के राजा चित्र तथा सरस्वती की 'इन्द्रो वा' इत्यादि मंत्र (ऋग् ८.२१.१७) से स्तुति की। तब देव के समान स्तुति किए हुए चित्र ने अभिमान से प्रहृष्टमना हो सोभरि को सहस्रों गौएं दीं। ऋषि को उसने कहा कि मैं तिर्यग्योनि में उत्पन्न होने के कारण स्तुतियोग्य नहीं हूं, आप देवताओं की स्तुति करें। तो भी प्रस्तुत मन्त्र द्वारा सोभरि उस की स्तुति कर रहा है" (बृ.दे.६.५८-६२)। सायण ने चूहे राजा की कथा नहीं लिखी। उसके अनुसार चित्र नामक एक राजा ने सरस्वती नदी के तीर पर इन्द्रार्थ याग किया था। उसी के दान की इस में स्तुति है। नैरुक्त मत में चित्र गुणवाची नाम होगा, किसी व्यक्ति-विशेष का नहीं।

४. संशय

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत् ।
रेतोधा आसन् महिमान आसन् स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् ॥
ऋग् १०. १२९. ५

यह सृष्ट्युत्पत्ति-विषयक प्रसिद्ध नासदीय सूक्त का मन्त्र है। इसमें संशय व्यक्त किया गया है कि सृष्टयुत्पत्ति के समय जो चिरश्चीन रश्मि वितत हुई वह नीचे थी या ऊपर थी।[37]

५. परिदेवना

दण्डा इवेद् गोअजनास आसन् परिच्छिन्ना भरता अर्भकासः ।
अभवच्च पुरएता वसिष्ठ आदित् तृत्सूनां विशो अप्रथन्त ॥
ऋग् ७. ३३. ६

इस मन्त्र में कहा गया है कि तृत्सु बैलों को हांकने वाले दण्ड के समान परिच्छिन्न तथा अल्प थे। वसिष्ठ इनका पुरोहित बना, तभी से इनकी प्रजाएं विस्तार को प्राप्त हो गयीं। कात्यायन की सर्वानुक्रमणी एवं सायण के अनुसार यह वसिष्ठ की उक्ति है। परन्तु वसिष्ठ की उक्ति मानने पर यह मन्त्र परिदेवना का उदाहरण नहीं हो सकता। शौनक के मत में यह तृत्सुओं के विरोधियों की उक्ति प्रतीत होती है। वे परिदेवन कर रहे हैं कि जो तृत्सु सर्वथा दीन-हीन थे वे ही अब इतने समृद्ध हो गए हैं, और कितने दुःख की बात है कि हम जो पहले उन्नत थे, अब अवनति के गर्त में गिर गये हैं।

६. स्पृहा

सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत् परावतं परमां गन्तवा उ ।
अधा शयीत निर्ऋतेरुपस्थेऽधैनं वृका रभसासो अद्युः ॥
ऋग् १०. ९५. १४

पुरूरवा अपनी स्पृहा व्यक्त कर कहा है कि उर्वशी पुनः मेरे साथ रहना स्वीकार नहीं करती तो विरह का जीवन व्यतीत करने से अच्छा तो यही है कि मैं कहीं से गिर कर सदा के लिए पृथ्वी के अंक में सो जाऊं।[38]

---

३७. अत एव पाणिनि के अनुसार 'अधः स्विदासी ३ त्' में 'विचार्यमाणानाम्' पा. ८. २. ९७ से वाक्य की टि को प्लुत होता है। 'उपरिस्विदासी ३ त्' में 'उपरिस्विदासीदिति च' पा. ८. २. १०२ से टि को अनुदात्त प्लुत हुआ है।

३८. निरुक्त में यह मन्त्र परिदेवना का उदाहरण है, यह हम ऊपर देख चुके हैं, निरु ७. ३। इसमे अच्छा स्पृहा का यह उदाहरण हो सकता

७. आशीः

वात आ वातु भेषजं शंभु मयोभु नो हृदे ।
प्रण आयूंषि तारिषत् ।। ऋग् १०. १८६. १

आशीः का अभिप्राय आशंसा है । इस में स्तोता यह आशंसा कर रहा है कि वायु अपने साथ भेषज को लाए, जो हमारे हृदय के लिए शान्तिकर एवं आरोग्यकर हो, तथा वह हमारी आयु को प्रवृद्ध करे ।

८. कत्थना

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः ।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा ।।
ऋग् ४. २६. १

कत्थना से आत्मस्तुति अभिप्रेत है । यहां इन्द्र आत्मस्तुति कर रहा है कि मैं ही मनु हूं और सूर्य हूं, मैं ही विप्र कक्षीवान् ऋषि हूं, आदि ।[३९]

९. याच्ञा

यदिन्द्र चित्र मेहनाऽस्ति त्वादातमद्रिवः ।
राधस्तन्नो विदद्वस उभया हस्त्या भर ।। ऋग् ५. ३९. १

इस में स्तोता याचना करता है कि हे इन्द्र, जो आपका ऐसा महनीय धन है जो हमारे पास नहीं है, उसे आप दोनों हाथों से भर-भर कर हमें दीजिए ।

१०. प्रश्न

पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः ।
पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमं व्योम ।।
ऋग् १. १६४. ३४

इसमें प्रश्न किया गया है कि पृथ्वी का परम अन्त कहां है, भुवन की नाभि कहां है, वृषा अश्व का रेतस् क्या है, तथा वाणी का परम व्योम क्या है ।[४०]

है—'इति वा इति मे मनो गामश्वं सनुयामिति । कुवित् सोमस्यापामिति ऋग् १०. ११९. १ । अर्थात् मेरा यह मन कर रहा है कि मैं गौ एवं अश्व का दान करूं, क्योंकि मैंने बहुत अधिक सोमपान कर लिया है ।

३९. हमने यह प्रसंग आत्मकथात्मक शैली में लिया है । द्रष्टव्य : अध्याय ३ ।

४०. यह प्रश्न है, इसका उत्तर प्रतिवाक्य - शैली (संख्या २५) में आगे दिया है ।

११. प्रैष

प्रैष प्रेरणा को कहते हैं। 'होता यक्षत्' आदि ऋग् १. १३६. १० में होता को यजन की प्रेरणा की गयी है, अतः यह प्रैष का उदाहरण होता है।

१२ प्रवह्लिका

विततौ किरणौ द्वौ तावापिनष्टि पूरुषः ।
न वै कुमारि तत् तथा यथा कुमारि मन्यसे ॥ अथर्व २०.१३३.१

प्रहेलिका या पहेली को ही प्रवह्लिका कहते हैं[41]। उपर्युक्त मन्त्र में कोई व्यक्ति किसी कुमारी से पहैली-बुझौवल कर रहा है। वह पहेली पूछता है—"दो किरण फैले हुए हैं, पुरुष उन्हें पीस रहा है," इस पहेली को बूझो। वह यह भी कहता हैं कि तुम जैसी बात समझ रही हो वैसी नहीं है, अर्थात् सावधान करता है कि सुनते ही तुम जिस स्थूल आशय तक पहुंची होगी, वस्तुतः वह इस पहेली का समाधान नहीं है, सूक्ष्म बुद्धि से समाधान करो।

विभिन्न दृष्टियों से इस पहेली के विभिन्न समाधान हो सकते हैं। अधियज्ञ पक्ष में पुरुष यजमान है, दो किरण उत्तरारणि तथा अधरारणि हैं, उनके पेषण या संघर्षण से अग्नि उत्पन्न होती है। अध्यात्म में पुरुष आत्मा है, साधक का मन एक अरणि है, प्रणव दूसरी अरणि है, ध्यान रूप पेषण से परमात्माग्नि प्रकट होती है[42]। पुरुष परमात्मा को भी कहते हैं[43]। दो किरण हैं प्राकृतिक जगत् तथा जीव। परमात्मा इन दोनों का पेषण अर्थात् सम्बन्ध कराता है, जिस से भोक्ता-भोग्य के पारस्परिक व्यापार द्वारा यह जगत् चल रहा है। इस पहेली की एक अन्य व्याख्या भी हो सकती है। इधर से अग्नि की किरणें या ज्वालाएं ऊपर को उठती हैं, ऊपर से सूर्य की किरणें नीचे की ओर आती हैं। मध्य में दोनों का पेषण अर्थात् संगम होता है[44]। आदित्य-पुरुष[45] ही पुरुष है, जो इन दोनों का संगम कराता है। इस पहेली का एक

४१. ऐ. ब्रा. ६.३३ और कौ. ब्रा. ३०. ७ में अथर्ववेद के कुछ छन्दों २०. १३३, शां. श्रौ. सू. १२. २२ तथा खिल ५.१६ को प्रवह्लिका कहा गया है।

४२. स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत् ॥ श्वेता. १.१४

४३. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् । ऋग् १०.६०.१

४४. वैश्वानरो यतते सूर्येण ऋग् १.९८.१. । अमुतोऽमुष्य रश्मयः प्रादुर्भवन्ति, इतोऽस्यार्चिषः, तयोर्भासोः संगमं दृष्ट्वैवमवक्ष्यत् । निरु. ७.२३

४५. योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् । यजु ४०.१७

समाधान हमें इसी वेद के ब्रह्मचर्य-सूक्त में मिलता है। एक किरण अपरा विद्या है, दूसरी परा विद्या है,[४६] पुरुष ब्रह्मचारी है जो अपने जीवन में इन दोनों का संगम करता है[४७]।

जिस सूक्त की यह पहेली है उसमें ६ मंत्र हैं, तथा सभी इसी प्रकार प्रहेलिकात्मक हैं[४८]।

१३. नियोग

इमं नो यज्ञममृतेषु धेहीमा हव्या जातवेदो जुषस्व।
स्तोकानामग्ने मेदसो घृतस्य होतः प्राशान प्रथमो निषद्य ॥ ऋग् ३.२१.१

इस मंत्र में स्तोता अग्नि को इस कार्य के लिए नियुक्त कर रहा है कि वह उसके यज्ञ को देवाधीन करे, हवियों को स्वीकार करे, तथा स्निग्ध घृत के बिन्दुओं का भक्षण करे। एवं यहां नियोग है।

१४. अनुयोग

इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वेः।
शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदापुः ॥

ऋग् १.१६४.७

इसमें अनुयोग अर्थात् जिज्ञासा है कि जो उस कमनीय पक्षी के निहित पद को जानता हो वह बताये, जिस पक्षी की गौएं सिर से दूध देती हैं तथा पैरों से पानी पीती हैं[४९]।

१५. श्लाघा

अवीरामिव मामयं शरारुरभि मन्यते।
उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥

ऋग् १०.८६.९

---

४६. द्वे विद्ये वेदितव्ये...परा चैवापरा च। मु. १.४

४७. अर्वागन्य इतो अन्यः पृथिव्या अग्नी समेतो नभसी अन्तरेमे।
तयोः श्रयन्ते रश्मयोऽधि दृढास्तानातिष्ठति तपसा ब्रह्मचारी ॥
अथर्व ११.५.११

४८. आगे द्वितीय अध्याय में हमने प्रहेलिकात्मक शैली पर विचार करते हुए वेदों की अनेक रोचक तथा ज्ञानवर्धक पहेलियों को दर्शाया है।

४९. हमने इस मन्त्र को प्रहेलिका-रूप माना है, तथा द्वितीय अध्याय में इस की व्याख्या प्रदर्शित की है। शौनक इसे प्रहेलिका से भिन्न अनुयोग-रूप मानते हैं, अर्थात् यह पहेली-बुझौवल की भावना से नहीं किन्तु जिज्ञासा-

यह मंत्र इन्द्र-इन्द्राणी-वृषाकपि-संवाद[५०] का है। इन्द्राणी आत्मश्लाघा-पूर्वक[५१] कहती है कि यह घातुक वृषाकपि मुझे अवीरा मान बैठा है, मैं तो वीरांगना हूँ, इन्द्र की पत्नी हूँ, तथा मरुत् मेरे सखा हैं।

१६. विलपित

नदस्य मा रुधतः काम आगन्नित आजातो अमुतः कुतश्चित्।
लोपामुद्रा वृषणं नीरिणाति धीरमधीरा धयति श्वसन्तम्॥

ऋग् १.१७९.४

यह मंत्र अगस्त्य-लोपामुद्रा- संवाद का है तथा निरुक्त[५२] में भी व्याख्यात हुआ है। अगस्त्य ने गृहस्थ होते हुए भी प्रजनन-निरोध का व्रत ग्रहण किया हुआ है। उसके प्रति उसकी पत्नी लोपामुद्रा के मन में काम उदित होने पर वह विलापयुक्त भाव प्रकट कर रही है कि ऐसा क्यों हुआ[५३]।

समाधानार्थं पूछा गया प्रश्न है। सामान्यतः प्रश्न और अनुयोग पर्याय-वाची हैं-"प्रश्नोऽनुयोगः पृच्छा च (अमर० १.६.१०)"। संख्या १० में प्रश्न नामक प्रकार आ चुका है, पुनः यहां अनुयोग उससे पृथक् प्रतिपादित करने से ज्ञात होता है कि शौनक दोनों में भेद करना चाहते हैं। प्रश्न सामान्य प्रश्न है, जो परीक्षा आदि की भावना से भी पूछा जा सकता है, किन्तु अनुयोग में जिज्ञासा का भाव रहता है, यह दिये गये उदाहरणों से स्पष्ट है।

५०. इस संवाद पर हमने संवादात्मक शैली में विचार किया है, जिसमें प्रस्तुत मंत्र भी व्याख्यात हुआ है। द्रष्टव्य : अध्याय ४र्थ।

५१. अष्टम प्रकार कत्थना बताया गया था। सामान्यतः कत्थना तथा आत्म-श्लाधा एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, किन्तु यहां कत्थना आत्मस्तुति के अर्थ में तथा श्लाघा आत्मश्लाघा अर्थ में प्रतीत होते हैं।

५२. नदनस्य मा रुधतः काम आगमत् संरुद्धप्रजननस्य ब्रह्मचारिण इत्यृषिपुत्र्या विलपितं वेदयन्ते। निरु. ५.२

५३. इस सम्पूर्ण संवाद की व्याख्या हमने संवादात्मक शैली के अध्याय ४ में की है, जिसमें प्रस्तुत मंत्र पर भी विवेचन है। सायण के अनुसार यह मंत्र लोपामुद्रा की नहीं, प्रत्युत अगस्त्य की उक्ति है। हमने भी इसी रूप में व्याख्या की है। उस अवस्था में यह ऋचा विलपित का उदाहरण नहीं होगी। शौनक ने निरुक्त की व्याख्यानुसार इसे विलपित कहा है।

१७. आचिख्यासा

'न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि, ऋग् १०. १२९. २' आदि मंत्र में आचिख्यासा या भावविवक्षा है । यह मंत्र निरुक्त में भी भावाचिख्यासा के उदाहरण में दिया गया है, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है ।

१८. संलाप

उपोप मे परा मृश मा मे दभ्राणि मन्यथाः ।
सर्वाहमस्मि रोमशा गन्धारीणामिवाविका ।। ऋग् १. १२६. ७

इसमें तथा इससे पूर्व के मंत्र में पति-पत्नी का संलाप है[५४] । इस मंत्र में पत्नी पति से कहती है कि आप मुझसे परामर्श कर लिया करें, मेरी शक्तियों को अल्प न समझें, क्योंकि मैं युवति तथा सर्वगुणसम्पन्ना हूं[५५] ।

१९. आख्यान

'हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे' आदि ऋग् १०. ९५ में पुरूरवा तथा उर्वशी का आख्यान है । सप्तम अध्याय में शौनक ने इस सूक्त का आख्यान प्रदर्शित किया है, तथा इसके विषय में लिखा है कि यास्क इसे संवाद मानते हैं, किन्तु मेरी सम्मति में यह आख्यान है[५६] ।

२०. आहनस्या

महानग्नी महानग्नं धावन्तमनु धावति ।
इमास्तदस्य गा रक्ष यम मामद्धोचदनम् ।। अथर्व २०.१३६.११

---

५४. जायापत्योः संप्रवादो द्वयृचेन । बृ. दे. ३.१५५

५५. वेंकट माधव एवं सायण ने इस तथा इससे पूर्व के मंत्र को संभोगपरक व्याख्यात किया है । स्वामी दयानन्द के अनुसार इस मंत्र में राजपत्नी राजा से कहती है कि आप मेरे गुणों का विचार कीजिए, मेरे गुणों को अल्प न समझिए । जैसे पृथ्वी का शासन करने वाली (गंधारी) नारियों में पहले रक्षिका नारियां होती रहीं, वैसी ही मैं हूं । द्रष्टव्य : इस मंत्र पर स्वामी दयानन्द का ऋग्वेद-भाष्य, वैदिक यंत्रालय, अजमेर ।

५६. आख्यानं प्रतिचाख्यानमितरेतरयोरिदम् ।
संवादं मन्यते यास्क इतिहासं तु शौनकः ।। बृ.दे. ७. १५३
हमने इस सम्पूर्ण सूक्त की संवादात्मक शैली, अध्याय ४ में व्याख्या की है । वहीं शौनक-प्रदर्शित इतिहास भी दिया है ।

आहनस्या कामाभिव्यंजकता को कहते हैं[५७]। शौनक के मत में यह सूक्त इसी प्रकार के भावों का है[५८]।

२१. नमस्कार

नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे।
नमस्ते अस्त्वश्मने येना दूडाशे अस्यसि ॥ अथर्व १. १३. १

इसमें पर्जन्य के विद्युत्, स्तनयित्नु (गर्जन) एवं अश्मा (ओलों) को नमस्कार किया गया है।

२२. प्रतिराध

अथर्ववेद, काण्ड २०, सूक्त १३५ के 'भुगित्यभिगतः' इत्यादि प्रथम तीन मंत्र प्रतिराध के नाम से प्रसिद्ध हैं[५९]। ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि इनके द्वारा देवों ने असुरों का प्रतिराधन कर उन्हें पारस्त किया, अतः इन्हें प्रतिराध कहते हैं[६०]। सायण के अनुसार विरोधियों की समृद्धि (राध) का प्रतिवन्धन करने के कारण प्रतिराध नाम पड़ा है[६१]।

२३. संकल्प

यदिन्द्राहं यथा त्वमीशीय वस्व एक इत्।
स्तोता मे गोषखा स्यात् ॥ ऋग् ८.१४.१

इसमें भक्त इन्द्र के प्रति अपना संकल्प व्यक्त कर रहा है कि हे इन्द्र, यदि तेरे समान मैं धन का ईश्वर बन जाऊं, तो अवश्य अपने स्तोता को गोसखा (गौओं से युक्त) कर दूं।

---

५७. द्रष्टव्यः वैदिक इण्डैक्स में आहनस्या शब्द।

५८. वस्तुतः कामाभिव्यंजकता-परक इस का बाह्य अर्थ है। कोई महानग्न पुरुष दौड़ रहा है, महानग्ना स्त्री उस के पीछे भाग रही है, और कहती कि मुझ ओदनरूपा का भोग करो। इसका रहस्यार्थ यह हो सकता है कि महानग्न जीव है, महानग्ना प्रकृति है, जीव उसे छोड़ कर अपवर्ग की दिशा में भागना चाहता है, पर प्रकृति भागने नहीं देती, वह भोगार्थ उसे आकृष्ट करती है।

५९. द्रष्टव्य: मोनियर विलियम्स का संस्कृत-अंग्रेजी कोश।

६०. प्रतिराधेन वे देवा असुरान् प्रतिराध्य अथैनानत्यायन्। ऐ. ब्रा. ६. ३३

६१. विरोधिनां राधं समृद्धिं प्रतिबध्नातीति प्रतिराधः– ऐ. ब्रा. ६. ३३ पर सायणभाष्य।

२४. प्रलाप

प्रलाप का उदाहरण अथर्ववेद के कुन्ताप-सूक्तों में ऐतश-प्रलाप के सूक्त (२०.१२९–३२) 'एता अश्वा आप्लवन्ते'[६२] आदि हैं।

२५. प्रतिवाक्य

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।
अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम॥

यह वेदि ही पृथिवी का परम अन्त है, यह यज्ञ ही भुवन की नाभि है, यह सोम ही वृषा अश्व का रेतस् है, यह ब्रह्मा ही वाणी का परम व्योम है[६३]।

२६. प्रतिषेध

द्यूतसूक्त के "अक्षैर्मा दीव्यः (ऋग् १०.३४.१३)" इस मन्त्रांश में द्यूतक्रीडा का प्रतिषेध है।

२७. उपदेश

द्यूत-सूक्त के ही "कृषिमित् कृषस्व" (ऋग् १०.३४.१३) इस मंत्रांश में कृषि का उपदेश किया गया है।

२८. प्रमाद

हन्ताहं पृथिवीमिमां निदधानीह वेह वा।
कुवित् सोमस्यापामिति॥ ऋग् १०.११९.९

यहां लव रूपधारी इन्द्र सोमपान कर अपने उद्गार प्रकट कर रहा है कि हे भाई, मैं इस पृथिवी को यहां रख दूं या वहां रख दूं, मैंने बहुत अधिक सोमपान कर लिया है। इस मंत्र को प्रमाद के उदाहरण-रूप में उपन्यस्त करने

---

६२. इसे 'अग्नेरायु काण्ड' भी कहते हैं। ऐ. ब्रा. ३०.७.३३ में इस विषय में निम्न कथा है—ऐतश मुनि ने अग्नेरायुः नामक मन्त्रकाण्ड का दर्शन कर अपने पुत्रों से कहा कि मैं इसका आलाप करूंगा, जो कुछ बोलूं बोलने देना, मेरी निन्दा मत करना। यह कह उसने 'एता अश्वा आप्लवन्ते' आदि बोलना आरम्भ कर दिया। अभ्यग्नि नामक उसके पुत्र ने पिता को उन्मत्त हुआ जान संमुख आ उसका मुख बन्द कर दिया। इससे क्रुद्ध हो पिता ने पुत्र को अलस हो जाने का शाप दे दिया। अन्त में कहा है कि कुछ याज्ञिक इसका बहुल पाठ करते हैं। बहुल पाठ करते हुए ब्राह्मणाच्छंसी को यजमान निषेध न करे।

६३. प्रतिवाक्य प्रत्युत्तर को कहते हैं। प्रश्न सं० १० में आ चुका है। यहां उसका उत्तर दिया गया है। इस प्रश्नोत्तर की व्याख्या हमने नोत्तरात्मक शैली (अध्याय ५) में की है।

का शौनक का आशय यह प्रतीत होता है कि क्योंकि यहां सोमपानजनित प्रकृष्ट मद से प्रभावित हो वचन प्रवृत्त हुआ है, अतः यह प्रमाद का उदाहरण है। एवं प्रमाद यहाँ आलस्य, असावधानता आदि अर्थों में व्यवहृत प्रतीत नहीं होता।

२९. अपह्नव

न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः।
अस्ति ज्यायान् कनीयस उपारे स्वप्नश्चनेदनृतस्य प्रयोता॥

ऋग् ७.८६.६

पाशबद्ध स्तोता वरुण से कह रहा है कि मनुष्य अपनी इच्छा से ही पाप में प्रवृत्त नहीं होता, किन्तु सुरा, क्रोध, द्यूतक्रीडा आदि कई कारण होते हैं। अभिप्राय यह है कि मैंने भी इच्छापूर्वक अनृताचरण नहीं किया है, अतः मुझे पाशमुक्त कर दीजिए। एवं यहां अपने अपराध को कुछ छिपाया सा गया है, जिससे वह कम प्रतीत हो, अतः अपह्नव है[६४]।

३०. उपप्रैष

इन्द्राकुत्सा वहमाना रथेना वामत्या अपि कर्णे वहन्तु।
निःषीमद्भ्यो धमथो निः षधस्थान् मघोनो हृदो वरथस्तमांसि॥

ऋग् ५.३१.९

उपप्रैष का अर्थ आमन्त्रण है। यहां स्तोता इन्द्र एवं कुत्स को आमन्त्रित कर रहा है कि तुम्हें घोड़े रथ में वहन करके लायें तथा तुम आकर शुष्णासुर का संहार एवं यजमान के हृदय से तमस् का उच्छेद करो।

३१. संज्वर

न विजानामि यदि वेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद् वाचो अश्नुवे भागमस्याः॥

ऋग् १.१६४.३७

---

६४. शौनक ने इस पर निम्न इतिहास प्रदर्शित किया है। रात्रि में एक बार स्वप्न-दशा में वसिष्ठ वरुण के घर पहुंच गए। जब उन्होंने अन्दर प्रवेश किया तब कुत्ता भौंकता हुआ उन पर दौड़ा। वसिष्ठ ने "यदर्जुन सारमेय ७.५५.२,३" आदि दो ऋचाओं से सान्त्वना देकर उसे सुला दिया, इसी प्रकार सेवक को भी सुला दिया। इस पर वरुण ने उन्हें पाशबद्ध कर लिया। तब वसिष्ठ ने पाशमुक्त होने के लिए 'धीरा त्वस्य ७.८६-८९' आदि चार सूक्तों से वरुण की स्तुति की। इसी स्तुति में उक्त मन्त्र भी आया है। द्रष्टव्य : बृ. दे. ६.११-१५।

संज्वर से हृदय का संक्षोभ विवक्षित है। इस मन्त्र में मनुष्य अपने अज्ञान की अवस्था से क्षुब्ध हो कह रहा है कि मैं यह हूं, वह हूं, या क्या हूं ?[६५]

३२. विस्मय

को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य शिमीवतो भामिनो दुर्हृणायून् ।
आसन्निषून् हृत्स्वसो मयोभून् य एषां भृत्यामृणधत् स जीवात् ॥
ऋग् १. ८४. १६ ।

को अद्य नर्यो देवकाम उशन्निन्द्रस्य सख्यं जुजोष ।
को वा महेऽवसे पार्याय समिद्धे अग्नौ सुतसोम ईट्टे ॥
ऋग् ४. २५. १

प्रथम उदाहरण में विस्मय प्रकट किया गया है कि वह कौन विलक्षण पुरुष है, जो इन्द्र-रथ के धुरे में कर्मवान्, तेजोयुक्त, दुःसह क्रोध वाले अश्वों को नियुक्त करता है। द्वितीय उदाहरण में यह विस्मय व्यक्त किया गया है कि कौन ऐसा विलक्षण देवकाम यजमान है, जो इन्द्र के सख्य को प्राप्त कर लेता है।

३३. आक्रोश

माता च ते पिता च तेऽग्रं वृक्षस्य रोहतः ।
प्रतिलामीति ते पिता गभे मुष्टिमतंसयत् ॥
माता च ते पिता च तेऽग्रे वृक्षस्य क्रीडतः ।
विवक्षत इव ते मुखं ब्रह्मन् मा त्वं वदो बहु ॥ यजु २३. २४, २५

कर्मकाण्ड-परक व्याख्यानुसार अश्वमेध-प्रकरण में ऋत्विजों द्वारा रानियों से परिहास के प्रसंग में उक्त मन्त्र हैं। प्रथम मन्त्र ब्रह्मा ने महिषी को कहा है। इस पर महिषी भी उसे वैसा ही उत्तर देती है, तथा यह देख कि ब्रह्मा फिर कुछ कहने के लिए मुख खोलना चाह रहा है, आक्रोश करती हुई कहती है कि हे ब्रह्मन्, अब आगे अधिक मत बोलो।[६६]

---

६५. इस मन्त्र को यास्क ने परिदेवन के उदाहरण में दर्शाया है, यह हम ऊपर देख चुके हैं (निरु. ७. ३)। हमने भी इसे आत्मकथात्मक शैली (अध्याय ३) में परिदेवन-रूप व्याख्यात किया है।

६६. इन मन्त्रों की उवट एवं महीधर कृत व्याख्या अत्यन्त अश्लील है। इतर अर्थ के लिए द्रष्टव्य : १. स्वामी दयानन्द : ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का भाष्यकरणशंकासमाधानादि विषय तथा इन मन्त्रों पर उनका यजुर्वेद-भाष्य। २. दामोदर शर्मा झा : मन्त्रार्थचन्द्रोदय, ज्योतिष प्रकाश प्रेस,

३४. अभिष्टव

शौनक ने मन्त्रप्रकारों में तो इसे परिगणित किया है, किन्तु उदाहरण नहीं दिया। कुछ लोग स्तुति के साथ इसकी एकात्मता ही उदाहरण न देने का कारण मानते हैं। किन्तु यदि स्तुति तथा अभिष्टव एक ही हैं, तो दोनों का पृथक् परिगणन चिन्त्य हो जाता है। शौनकोक्त प्रश्न तथा अनुयोग एवं कत्थना तथा श्लाघा भी यद्यपि एक-से ही प्रतीत होते हैं, तो भी उन में अन्तर है। इसी प्रकार स्तुति तथा अभिष्टव में भी अन्तर होना चाहिए। अभिष्टव यहां आक्रोश के साथ पठित होने से, आक्रोश से विपरीत अर्थ का प्रतिपादक समझा जा सकता है। एवं साधुवाद या आशीर्वाद अर्थ में गृहीत होगा। उस अवस्था में इसके उदाहरण "रय्या सहस्रवर्चसेमौ स्तामनुपक्षितौ, अथर्व ६. ७८. २" आदि हो सकते हैं।

३५. क्षेप

अभीदमेकमेको अस्मि निष्षाडभी द्वा किमु त्रयः करन्ति।
खले न पर्षान् प्रति हन्मि भूरि किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः॥

ऋग् १०. ४८. ७

इसमें इन्द्र कहता है कि मैं अकेला ही इस एक शत्रु को परास्त कर देता हूं, दो को भी परास्त कर देता हूं, तीन भी मेरा क्या कर सकते हैं। खलिहान में पूलों के समान सब शत्रुओं को मैं कुचल देता हूं। मुझ इन्द्र को ज्येष्ठ न मानने वाले ये रिपु मेरी क्या निन्दा कर रहे हैं। एवं इस मन्त्र में शत्रुओं के प्रति क्षेप (आक्षेप) या उन्हें तुच्छ बताने का भाव है।

३६. शाप

यो मायातुं यातुधानेत्याह यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह।
इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेन विश्वस्य जन्तोरधमस्पदीष्ट॥

ऋग् ७. १०४. १६

जो राक्षस मुझे यातुधान न होने पर भी यातुधान कहता है, तथा अपने आप को 'मैं शुचि हूं' ऐसा उद्घोषित करता है, उसे इन्द्र महान् वज्र से विनष्ट कर दे, वह सब जन्तुओं से अधम होकर नीचे गिरे। एवं इसमें राक्षस को शाप दिया गया है।[67] बृहद्देवता में अभिशाप नाम से इसका दूसरा यह उदा-

---

बनारस, १९९७ वि, पृ० ४०२-४। ३. स्वामिभगवदाचार्य : यजुःसंस्कार-भाष्येण सहितः शुक्लयजुर्वेदः सरस्वती पुस्तक भण्डार, अहमदाबाद, १।

६७. निरुक्त में इसी सूक्त का अन्य (१५ वां) मन्त्र अभिशाप के उदाहरण में दिया गया है, जिसे हम देख चुके हैं।

हरण दिया है—अप्रजाः सन्त्वत्रिणः ऋग् १. २१.५,"भक्षक राक्षसों की सन्तान न हो या उत्पन्न हो कर मर जाए।"

शौनक ने मंत्रों के उक्त छत्तीस प्रकार बताए हैं, जो वस्तुतः विभिन्न शैलियां ही हैं। यद्यपि क्वचित् मतभेद संभव है, तो भी इस विवेचन से शौनक की वेदमंत्रों के विषय में सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति का परिचय मिलता है।

इतर साहित्य में शैली-विचार

दर्शन-साहित्य में भी प्रसंगवश वैदिक शैलियों का कुछ विचार आया है। 'जैमिनीय न्यायमाला' में मंत्रभाग का क्या लक्षण हो, इस पर विचार करते हुए कहा है कि याज्ञिकों ने जो विभिन्न प्रकार के मंत्र समाख्यात किए हैं उन्हीं का ग्रहण मंत्रभाग में होता है, एवं "याज्ञिकसमाख्याता मन्त्राः' यह लक्षण निर्दोष है[६८]।

सायण ने अपने ऋग्भाष्य के उपोद्घात में उन याज्ञिक-समाख्यात मंत्र-प्रकारों में से कुछ इस प्रकार निर्दिष्ट किये हैं—

'उरु प्रथस्व' इत्यादयोऽनुष्ठानस्मारकाः। 'अग्निमीडे पुरोहितम्' इत्यादयः स्तुतिरूपाः। 'इषेत्वा' इत्यादयस्त्वान्ताः। 'अग्न आ याहि वीतये' इत्यादय आमन्त्रणोपेताः। 'अग्नीदग्नीन् विहर' इत्यादयः प्रैषरूपाः। 'अधः स्विदासी-दुपरि स्विदासीत्' इत्यादयो विचाररूपाः। 'अम्बे अम्बाल्यम्बिके न मा नयति कश्चन' इत्यादयः परिदेवनरूपाः। 'पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः' इत्यादयः प्रश्नरूपाः। 'वेदिमाहुः परमन्तं पृथिव्याः' इत्यादय उत्तररूपाः। एवमन्यदप्यु-दाहार्यम्[६९]।

एवं यहां अनुष्ठानस्मारक, स्तुतिरूप, त्वान्त, आमंत्रण, प्रैष, विचार, परि-देवन, प्रश्न, उत्तर इन शैलियों का परिगणन हुआ है। इनमें से अनुष्ठानस्मारक, त्वान्त तथा आमंत्रण ये नवीन हैं, शेष का उल्लेख बृहद्देवता में हम देख चुके हैं। 'विचार' का अन्तर्भाव पूर्वोक्त 'संशय' में हो सकता है।

सायण ने ऋग्वेद के उपोद्घात में ही 'ब्राह्मण' के लक्षण पर विचार करते हुए—'हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः। परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारण-कल्पना॥' यह पूर्वाचार्यों का श्लोक उद्धृत कर कहा है कि 'हेत्वादीनामन्यतमं

---

६८. याज्ञिकानां समाख्यानं लक्षणं दोषवर्जितम्। जै. न्या. २. १. ७

६९. इन मंत्रांशों के पते क्रमशः निम्न हैं—तै. सं. १. १. ८. १, ऋग् १.१.१, यजु १. १, तै. ब्रा. ३. ५. २. १, तै. सं. ६.३.१.२, ऋग्. १०.१२९.५, तै. सं. ७.४.१९. १, तै. सं. ७.४.१८. २, तै. सं. ७.४.१८.२।

ब्राह्मणम्' यह ब्राह्मण का लक्षण संभव नहीं है, यतः हेतु आदि मन्त्रों में भी प्राप्त होते हैं। तदनन्तर मन्त्रों में से इनके निम्न उदाहरण दिये हैं। साथ ही इति-करण एवं आख्यायिका के भी उदाहरण हैं—

हेतु—इन्दवो वामुशन्ति हि। ऋग् १.२.४
निर्वचन—उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते। अथर्व ३.१३.४
निन्दा—मोधमन्नं विन्दते अप्रचेताः। ऋग् १०.११७.६
प्रशंसा—अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्। ऋग् ८.४४.१६
संशय—अधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्। ऋग् १०.१२९.५
विधि—वसन्ताय कपिञ्जलानालभते। यजु २४.२०
परकृति—सहस्रमयुता ददत्। ऋग ८.२१.१८
पुराकल्प—यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः। ऋग् १.१६४.५०
इतिकरण—राजा चिद् यं भगं भक्षीत्याह। ऋग् ७.४१.२
आख्यायिका—यम-यमी-संवाद ऋग् १०.१०

व्यवधारणकल्पना का उदाहरण सायण ने नहीं दिया, वह हो सकता है—'यद् यद् यामि तदाभर', ऋग् ८.६१.६।

शैली-विचार में प्राचीन साहित्य वेद, निरुक्तादि से इतनी सहायता हमें प्राप्त होती है। प्राचीनों ने जो विचार किया है वह इतना मात्र है कि इस-इस प्रकार के मंत्र वेदों में पाये जाते हैं। शैलियों की दृष्टि से वेदों का अध्ययन उन्होंने प्रस्तुत नहीं किया है। तो भी जो कुछ उपलब्ध होता है, वह हमें विचार में प्रवृत्त करने में पर्याप्त सहायक है, तथा उसके लिए हम प्राचीन आचार्यों के ऋणी हैं।

वेदों की अनेकार्थक शैली

प्राचीन मनीषी आचार्य वेदों में त्रिविध प्रक्रिया के दर्शन करते रहे हैं, अधिदैवत, अधिभूत तथा अध्यात्म। इन्हीं में अधियज्ञ, अधिज्यौतिष, अधिराष्ट्र आदि इतर प्रक्रियाओं का भी अन्तर्भाव हो जाता है। स्वयं वेदों में ही इसके संकेत मिल जाते हैं कि इन्द्र, वरुण, सविता, मरुत्, अश्विनौ आदि की योजना विभिन्न क्षेत्रों में की जानी उचित है। उदाहरणार्थ, जब वेद मरुतों के विषय में यह कहते हैं कि तुम्हारे कन्धों पर भाले हैं, पैरों में पादत्राण हैं, वक्ष पर रुक्म हैं, सिरों पर शिरस्त्राण हैं,[७०] तो अनायास यह प्रकट हो जाता है कि मरुतों का अधिभूत अर्थ वीर सैनिक ग्रहण करना उचित है। मरुतों द्वारा वर्षा करने

७०. ऋग् ५. ५४.११

आदि के वर्णन इनके वायुपरक अधिदैवत अर्थ को स्पष्ट कर देते हैं।[७१] कहीं एक अर्थ स्पष्ट प्रतीत होता है, दूसरा प्रच्छन्न रहता है, जिसमें लक्षणा, व्यंजना, अलंकारादि की योजना करनी होती है, कहीं दूसरा अर्थ स्पष्ट होता है। वेद स्वयं कहते हैं कि मनुष्य का शरीर ब्रह्माण्ड का ही छोटा रूप है, ब्रह्माण्ड के सब देवता शरीर में भी अवस्थित हैं।[७२] अतः जो वेदमन्त्र बाह्य जगत् के पक्ष में घटित होते हैं, वे शरीरपरक भी घट सकते हैं। वेदों के रयि, श्रवः, ऋत, वाज, गौ, घृत, अश्व, सोम आदि शब्द भी रहस्यमय हैं, जो बाह्य अर्थों के साथ आन्तरिक अर्थ को भी प्रकट करते हैं। जब वेद में स्तोता की ओर से गौ, घोड़े और धन, सन्तान आदि की प्रार्थना होती है, तब वहां स्थूल सम्पत्ति ही नहीं, प्रत्युत आन्तरिक सम्पत्ति भी प्रार्थित होती है।[७३] गौ से आन्तरिक ज्योति, अश्व से प्राणबल, और धन तथा सन्तान से आन्तरिक शक्तियों का धन एवं आन्तरिक शक्तियों की उत्तरोत्तर वृद्धि अभिप्रेत होते हैं।

विभिन्न क्षेत्रों में अर्थदर्शन ऋषियों की एक प्रिय वस्तु रही है। शतपथ ब्राह्मण के बृहदारण्यक में उद्दालक आरुणि याज्ञवल्क्य से प्रश्न करता है कि वह अन्तर्यामी कौन सा है जो इहलोक, परलोक तथा सब भूतों के अन्तर में रहता हुआ उनका नियमन करता है। याज्ञवल्क्य उसका उत्तर अधिलोक, अधिदेव, अधिभूत तथा अध्यात्म इन पांच दृष्टियों से देते हैं।[७४] इसी ब्राह्मण में पूर्णमा और दर्श क्या हैं, यह विचार प्रवृत्त होने पर अधिदैवत तथा अध्यात्म दोनों दृष्टियों से उत्तर दिया गया है।[७५] इसी ब्राह्मण में व्रतमीमांसा-प्रकरण को अध्यात्म तथा अधिदैवत दोनों दृष्टियों से वर्णित किया है तथा 'अर्वाग्बिलश्च-मस ऊर्ध्वबुध्नः' आदि मन्त्र की व्याख्या अध्यात्मपरक की गयी है।[७६] आरण्यक एवं उपनिषदों के ऋषि भी इस शैली में रुचि लेते हैं। केन उपनिषद् में यक्ष-कथा के प्रसंग में ऋषि अधिदैवत में विद्युत् के विद्योतन को तथा अध्यात्म में मन के संकल्प को ब्रह्म का आदेश कहता है।[७७] तैत्तिरीय उपनिषद् में 'अथातः

---

७१. ऋग् ५. ५४.५

७२. अथर्व ११. ८. २९-३२, तुलनीयः ऐ. उ. २.४, छा. उ. ८. १.३

७३. द्रष्टव्यः श्री अरविन्दः 'आन दि वेद' भाग १, अध्याय ४, तथा कपाली शास्त्री : ऋग्वेद संहिता, सिद्धांजन भाष्य की भूमिका। दोनों श्री अर-विन्दाश्रम पांडिचेरी से प्रकाशित।

७४. शत. १४.६.७

७५. शत. ११.२.४

७६. शत. १४.४.३. ३०-३४ तथा १४. ५. २. ४-६

७७. केन ४. ४, ५

संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः' यह प्रतिज्ञा कर अधिलोक, अधिज्यौतिष, अधिविद्य, अधिप्रज तथा अध्यात्म इन सब दृष्टियों से व्याख्यान किये गये हैं और पाङ्क्त उपासना भी अधिभूत तथा अध्यात्म दृष्टियों से वर्णित की गयी है[७८]। छान्दोग्य उपनिषद् में उद्गीथ-महिमा के प्रसंग में अधिदैवत में आदित्य को तथा अध्यात्म में मुख्य प्राण को उद्गीथ कहा गया है[७९]। इसी उपनिषद् में अन्यत्र अध्यात्म में मन को ब्रह्म तथा वाक्, प्राण, चक्षु और श्रोत्र को उसके चार पाद, एवं अधिदैवत में आकाश को ब्रह्म तथा अग्नि, वायु, आदित्य और दिशाओं को उसके चार पाद रूप में वर्णित किया है[८०]। इसी उपनिषद् के चतुर्थ प्रपाठक में सयुग्वा रैक्व संवर्गविद्या का वर्णन अधिदैवत तथा अध्यात्म दोनों दृष्टियों से करता है[८१]।

इसी परम्परा के अनुसार यास्क ने तथा इतर वेदभाष्यकारों ने वेदव्याख्या में विविध प्रक्रियाओं का आश्रय लिया है। निरुक्त में अनेक मन्त्रों की अधिदैवत तथा अध्यात्म उभयविध व्याख्या प्रदर्शित की गयी है[८२]। निरुक्त परिशिष्ट में महान् आत्मा के लगभग ८० नामों का उल्लेख किया गया है, जिनमें प्रायः सब नाम ऐसे ही हैं जो बाह्य पदार्थों के वाची प्रसिद्ध हैं, तथा जिनके विषय में सामान्यतः यह कल्पना भी नहीं हो सकती कि ये महान् आत्मा के वाचक भी हो सकते हैं[८३]। इसके अनन्तर २६ मन्त्रों की व्याख्या प्रस्तुत की गयी है, जो प्रायः अधिदैवत तथा अध्यात्म उभयपक्षों में हैं[८४]। इससे निरुक्तकार की प्रधानतया अधिदैवत अर्थों को देते हुए भी अध्यात्म-प्रक्रिया के विषय में कितनी अभिरुचि थी यह ज्ञात होता है। कहीं-कहीं निरुक्तकार ने यज्ञपरक व्याख्या भी दी है[८५]। एक मन्त्र की व्याख्या में आर्ष, वैयाकरण, याज्ञिक, नैरुक्त तथा अध्यात्म ये पांच पक्ष प्रदर्शित किये हैं[८६]। ऐतिहासिक पक्ष का भी यथास्थान

---

७८. तै. उ. शिक्षावल्ली, अनु. ३,७
७९. छा. उ. १.५
८०. छा. उ. ३.१८
८१. छा. उ. ४.३
८२. द्रष्टव्य: निरु. ३.१२; ५.१०; १०.२५; १२.३५; १३.१०,११
८३. निरु. १४.११
८४. निरु. १४. १२-३७
८५. निरु. १३.७
८६. निरु. १३.९

उल्लेख हुआ है[८७]। एक स्थल पर परिव्राजक पक्ष भी दिया है[८८]।

निरुक्त के टीकाकार तथा ऋग्वेदभाष्यकर्ता स्कन्द स्वामी तो स्पष्ट प्रतिपादित करते हैं कि वेद के समस्त मन्त्रों की अर्थ-योजना अधिदैवत, अधिभूत, अध्यात्म इन तीनों प्रक्रियाओं में करनी[८९] चाहिए। सायण से पूर्ववर्ती एक भाष्यकार आत्मानन्द का ऋग्वेद के अस्यवामीय (१.१६४) सूक्त पर भाष्य उपलब्ध होता है, जिसमें सब मन्त्रों की व्याख्या अध्यात्मपरक है[९०]। उसी सूक्त की सायण ने अधिदैवत या अधियज्ञ व्याख्या की है, किन्तु कुछ मन्त्रों की व्याख्या उसके साथ-साथ अध्यात्मपरक[९१] भी की है। प्रथम मन्त्र का भाष्य दर्शा कर सायण लिखते हैं कि इसी प्रकार शेष मन्त्र भी अध्यात्मपरक व्याख्यात हो सकते हैं[९२]। सायण का वेदभाष्य यद्यपि मुख्यतः अधियज्ञ है, तो भी अन्य भी कई स्थलों में उसने अध्यात्म अर्थ प्रदर्शित किये हैं[९३]।

स्वामी दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में विविधार्थ प्रक्रिया का विशेष रूप से प्रयोग किया है। अपने ऋग्वेदभाष्य के प्रारम्भ में ही प्रथम वर्ग के पांचों मंत्रों का भौतिक अग्नि तथा परमात्मा दोनों पक्षों में अर्थ दिया है। वे वाचकलुप्तोपमा एवं श्लेष अलंकारों के प्रयोग से मंत्रों के दो अर्थ प्रायः सूचित कर देते हैं। उषा देवता के मंत्रों की वे प्राकृतिक उषा तथा नारी दोनों पक्षों में अर्थ-योजना करते हैं। रुद्र का अर्थ परमात्मा, प्राण, सेनापति, सभेश, वैद्य

---

८७. निरु. २.१७; १२.१; १२.१०

८८. निरु. २.८

८९. सर्वदर्शनेषु च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः। कुतः ? स्वयमेव भाष्यकारेण सर्वमन्त्राणां त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय 'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह' इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात्। निरु. ७.५ पर स्कन्द स्वामी की टीका।

९०. द्रष्टव्यः डा० सी० कुन्हन राजाः अस्य वामस्य हिम (दि रिडल आफ दि यूनिवर्स), १९५६, गणेश एण्ड को०, मद्रास, में इस सूक्त का आत्मानन्द कृत भाष्य। अथवा, अस्यवामीयसूक्तम्, मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर, १९३२।

९१. द्रष्टव्य : इस सूक्त के मन्त्र ११६, २०-२२ का सायणभाष्य।

९२. एवमुत्तरत्रापि अध्यात्मपरतया योजयितुं शक्यम्। तथापि स्वरसत्वाभावात् ग्रन्थविस्तरभयाच्च न लिख्यते।

९३. यथा, ऋग् १.५०.४;६.९.२,३,५;६.४७.१८;१०.८२, ११४, १२१,१२९, १७७, १९०।

आदि करते हैं। सविता का अर्थ परमेश्वर, सूर्य, राजा आदि एवं वरुण का अर्थ परमात्मा, जीवात्मा, राजा, सूर्य, न्यायाधीश, अध्यापक, अपान, उदान आदि करते हैं।

श्रीपाद दामोदर सातवलेकर प्रभृति आधुनिक वेदभाष्यकार भी वेदार्थ में किसी एक ही प्रक्रिया का आदर न कर विविध प्रक्रियाओं का आश्रय लेते हैं। श्री अरविन्द ने वेदों के सम्बन्ध में जो अध्यात्म-प्रक्रिया की शैली निर्दिष्ट की है, उसका आधार लेकर श्री कपाली शास्त्री ने ऋग्वेद के प्रथम अष्टक पर अध्यात्मपरक भाष्य लिखा है। मैक्समूलर, रॉथ, ब्लूमफील्ड, गैल्डनर, ग्रिफिथ आदि विदेशी विद्वान् प्रायः अधिदैवत, अधियज्ञ, तथा ऐतिहासिक प्रक्रियाओं का अनुसरण करते हैं।

एवं परम्परा इसकी साक्षी है कि वेदार्थों में विविध प्रक्रियाओं का यथोचित उपयोग अभीष्ट है। विभिन्न प्रक्रियाओं में मुख्य शब्दों के अर्थ क्या लिये जायें इसके विषय में प्रायः स्वयं वेदों से ही संकेत मिल जाते हैं। संहितोत्तर काल के ब्राह्मणादि वैदिक साहित्य से भी बहुमूल्य सहायता प्राप्त होती है। एवं किसी भी वैदिक विषय पर अनुसंधान करते हुए वेद की इस अनेकार्थकता की शैली पर ध्यान रखना आवश्यक है। हमने भी अगले अध्यायों में विविध शैलियों पर विचार करते हुए इस पद्धति का प्रायः उपयोग किया है।

अध्ययन की दिशा और सीमाएं

प्राचीन आचार्यों ने वेदों का अध्ययन करते हुए मंत्रों में जिन विभिन्न प्रकारों का दर्शन किया था, उन पर हम दृष्टिपात कर चुके हैं। उस प्रदर्शित दिशा से लाभ उठाकर उसे पल्लवित तथा विकसित करना तथा उस आधार से वैदिक शलियों एवं वेदों का अध्ययन करना हमारा कार्य है।

शैली-विचार एक विस्तृत विषय है। वेदों में शैलियों का अनुसंधान दो दृष्टियों से हो सकता है, एक भाषा की दृष्टि से, दूसरे विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से। भाषा की दृष्टि से निम्न प्रकार की बातों पर विचार हो सकता है—

वाक्य-रचना कैसी है? वाक्य में कर्ता, कर्म, क्रियादि का स्थान कहाँ रहता है? उपसर्गों के प्रयोग में क्या नियम हैं? वर्ण्य विषय, वक्ता, बोद्धव्य, रस आदि के अनुसार भाषा में परिवर्तन होता है या नहीं? भाषा को अलंकृत करने की प्रवृत्ति किस सीमा तक पायी जाती है? किन शब्दालंकारों का प्रयोग हुआ है? कौन से छन्द प्रयुक्त हुए हैं? छन्दों के प्रयोग में कोई विशेष नियम दिखाई देता है या नहीं? भाषा की सरलता या कठिनता किस आधार पर है? समस्यापूर्ति का वेदों में क्या स्थान है? शब्दाध्याहार कहां तक होता है?

विरामचिह्न-प्रयोग के क्या नियम हैं ? शब्द यौगिक, योगरूढ या रूढ किस प्रकार के हैं ? लक्षणा, व्यंजना आदि का प्रयोग पाया जाता है या नहीं ? इत्यादि बातों का तुलनात्मक अध्ययन ।

हमने वैदिक शैलियों के अध्ययन में भाषागत शैलियों को नहीं लिया है, अपने निबन्ध का क्षेत्र विषय-प्रतिपादन-शैलियों तक ही सीमित रखा है । भाषागत शैलियों का अध्ययन एक स्वतंत्र अनुसंधान का विषय हो सकता है ।

इस निबंध का शीर्षक है "वेदों की वर्णन-शैलियां" । वर्णन-शैलियों से तात्पर्य विषय-प्रतिपादन-शैलियां हैं । वेद किसी बात को कहने के लिए जिन-जिन शैलियों का प्रयोग करते हैं, उनका इसमें अध्ययन प्रस्तुत किया गया है ।

वेदों से यहाँ क्या अभीष्ट है, इसका स्पष्टीकरण भी आवश्यक है । वेद शब्द बहुत व्यापक अर्थों में प्रचलित रहा है । कुछ आचार्यों के अनुसार सब शाखाओं सहित संहिताभाग, ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक व उपनिषदें सब वेद से गृहीत होते हैं । इतर आचार्य केवल मंत्रभाग को ही वेद कहते हैं[६४] । हमने वेदों से वैदिक संहिताओं को ही लिया है तथा शैली-विचार में केवल निम्न संहिताओं को आधार रखा है—ऋग्वेद की शाकल संहिता, यजुर्वेद की वाजसनेयि माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेद संहिता, सामवेद की राणायनीय संहिता तथा अथर्ववेद की शौनक संहिता । हमारी प्रस्तावित शैलियां, जिन पर इस निबन्ध में विचार किया गया है, निम्न हैं ।

१. प्रहेलिकात्मक शैली—प्राचीनों ने इसे प्रवह्लिका कहा है । किन्तु वे केवल अथर्ववेद २०.१३३, शांखायन श्रौतसूत्र १२.२२ तथा खिल ५.१६ को प्रवह्लिका मानते थे[६५] । प्रस्तुत निबन्ध में इस शैली का वेदों में बहुत व्यापक रूप में दर्शन किया गया है, तथा इसके विचार की क्या महत्ता है इसका भी सविस्तर प्रतिपादन हुआ है ।

२. आत्मकथात्मक शैली—शौनक-प्रोक्त कत्थना, श्लाघा, स्पृहा, परिदेवना, विलपित तथा संज्वर का इसमें अन्तर्भाव हो सकता है । किन्तु हमारे द्वारा व्याख्यात यह शैली इन्हीं तक सीमित नहीं है, अपितु अधिक व्यापक है ।

३. संवादात्मक शैली—शौनक ने इसे संलाप कहा है । यह ऋग्वेद की एक महत्त्वपूर्ण तथा विशिष्ट शैली है । इस निबन्ध में प्रमुख संवादों को मन्त्रशः

---

६४. इसमें कौन सा पक्ष प्रबल है, एतद्विषयक विवेचन इस निबन्ध का विषय न होने से यहां नहीं किया गया है । इस सम्बन्ध में द्रष्टव्यः स्वामी दयानन्द कृत ऋ. भा. भू. का वेदसंज्ञाविचार विषय ।

६५. द्रष्टव्यः ऐ. ब्रा. ६.३३, कौ. ब्रा. ३०.७ ।

दर्शा कर यथासंभव अधिदैवत, अध्यात्म आदि दृष्टियों से उनकी व्याख्या की गयी है। मन्त्र-व्याख्याएं कई स्थानों पर सायण आदि से भिन्न भी की गयी हैं, जिसके लिए पोषक हेतु यथास्थान उपन्यस्त कर दिये गये हैं।

४. प्रश्नोत्तरात्मक शैली—शौनक के प्रश्न, अनुयोग तथा प्रतिवाक्य इसके अन्तर्गत हो जाते हैं। यह शैली जो शिक्षाशास्त्र में अपना विशेष स्थान रखती है, वेदों में पर्याप्त प्रयुक्त हुई है। इस शैली के अध्याय में चारों संहिताओं के प्रश्नोत्तरों को पृथक्-पृथक् संगृहीत कर नूतन दृष्टिकोण से उनकी व्याख्याएं प्रस्तुत की गयी हैं तथा चारों संहिताओं के प्रश्नोत्तरों का तुलनात्मक विवेचन भी किया गया है।

५. प्रेरणात्मक शैली—शौनक-प्रोक्त प्रैष, नियोग तथा उपदेश इसके अन्तर्गत हो सकते हैं। किन्तु इस निबन्ध में जो इसका क्षेत्र निर्धारित किया गया है, वह पर्याप्त व्यापक है, तथा वैदिक प्रेरणाओं की विशेषता को प्रकट करता है। प्राचीनों की 'विधि' भी इसी में समाविष्ट हो जाती है। इस शैली के विवेचन में प्रेरणाओं को विधि तथा निषेध दो रूपों में विभाजित किया गया है। उद्बोधन, कर्त्तव्य-प्रेरणा आदि के जो उदाहरण दिए गये हैं, वे अन्तःकरण में विशेष स्फूर्ति को उत्पन्न करने वाले हैं।

६. सान्त्वनात्मक शैली—प्राचीनों ने मन्त्र-प्रकार दर्शाते हुए इसका परिगणन नहीं किया है। तो भी यह शैली वेद में अपना विशिष्ट स्थान रखती है, तथा इसका विचार किया जाना उचित है। उद्धृत किये गये प्रकरणों से स्पष्ट है कि वेदमन्त्रों में जो सान्त्वनाएं दी गयी हैं, वे निराश हृदय में भी आशा का संचार करने वाली हैं।

७. आशीर्वादात्मक शैली—प्राचीनों से प्रयुक्त आशीः को यदि प्रार्थना तथा आशीर्वाद इस व्यापक अर्थ में लें तो आशीः का किसी अंश तक इसमें अन्तर्भाव हो सकता है। शौनक के अभिष्टव की हमने जो व्याख्या की है, उस के अनुसार वह भी इस में अन्तर्भूत हो सकता है। हमारा इस शैली से अभिप्राय शुभ-कामना तथा आशीष की शैली से है। वेदों में इसके जो प्रमुख उदाहरण मिलते हैं, उन्हें इस प्रकरण में संकलित किया गया है, जिससे वैदिक दृष्टि में आशीषों के पात्र कौन हैं, तथा आशीषों का स्वरूप क्या है, इस पर प्रकाश पड़ता है।

८. अर्थवादात्मक शैली—यास्क तथा शौनक के प्रशंसा एवं निन्दा का इसमें अन्तर्भाव होता है। अर्थवाद शब्द यद्यपि दर्शनशास्त्र में बहुत व्यापक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, तथा इसके अनेक भेद हैं, तो भी इससे हमारा प्रयोजन मुख्यतः

अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा तथा निन्दा को दर्शाना ही है। सामान्यतः यह समझा जाता है कि अर्थवाद का क्षेत्र ब्राह्मणग्रन्थ हैं, वैदिक मन्त्रभाग नहीं। परन्तु वस्तुतः मन्त्रों में भी इसका प्रचुर प्रयोग मिलता है, तथा वैदिक शैलियों में इसका विचार आवश्यक है। इसका जो अध्ययन यहां प्रस्तुत किया गया है, उससे वेदमन्त्रों में असत्य फल वर्णित हुए हैं, इस आक्षेप का समुचित उत्तर मिल जाता है। अर्थवादात्मक शैली से जो वस्तुओं की प्रशंसा या निन्दा की गयी है, उससे यह प्रकट हो जाता है कि वेदों की दृष्टि में अतिशय स्पृहणीय या अत्यधिक हेय वस्तुएं कौन सी हैं।

९. अभिशापात्मक शैली—वैदिक अभिशापों की ओर यास्क एवं शौनक दोनों का ध्यान गया है। जिसे अभिशाप दिया जाता है, उसके प्रति अपनी उग्र विरोध-भावना को प्रकट करने की यह एक शैली है।

१०. भर्त्सनात्मक शैली—शौनक-प्रोक्त आक्रोश इसके अन्तर्गत हो सकता है। वेदों में राक्षस, पाप, अलक्ष्मी आदि अवांछनीय तत्त्वों की बड़ी प्रबलता के साथ भर्त्सना की गयी है। यह शैली मनुष्य को इन अनिष्टकर वस्तुओं से मुक्ति पाने के लिए विशेष रूप से उत्साहित करने वाली है।

११. स्तुत्यात्मक शैली—यास्क तथा शौनक प्रोक्त स्तुति से यही शैली अभिप्रेत है, यद्यपि उन्होंने इसका विशद विश्लेषण नहीं किया है। निबन्ध में इसका प्रत्यक्षकृत एवं परोक्षकृत भेदों को दर्शाते हुए विस्तार से विचार किया गया है।

१२ प्रार्थनात्मक शैली—शौनक का याच्ञा नामक प्रकार इसी के लिए प्रयुक्त हुआ है। वैदिक प्रार्थनाएं कई दृष्टियों से अपनी विशेषता रखती हैं। जिन वस्तुओं की प्रार्थना की गयी है, वे मनुष्य के लिए उपादेय हैं, यह इस शैली से सूचित होता है। इस प्रकरण में जो प्रार्थनाएं संगृहीत की गयी हैं, वे अतिशय उच्चकोटि की हैं। उनसे वैदिक स्तोता के लिए कौन सी वस्तुएं अभीप्सा करने योग्य हैं, यह ज्ञात हो जाता है।

१३. आशंसात्मक शैली—शौनक का आशीः नामक प्रकार इसी शैली के अन्तर्गत होता है। इसी शैली में वांछनीय वस्तुओं की प्राप्ति की आशंसा व्यक्त की जाती है। प्रार्थना में जिससे याचना की जाती है उसके प्रति समर्पण का भाव भी निहित होता है, किन्तु आशंसात्मक शैली में केवल अपनी इच्छा या आकांक्षा प्रकट होती है। इस प्रकरण में संकलित आशंसा-मन्त्रों से वैदिक प्रार्थी की महत्त्वाकांक्षाओं पर प्रकाश पड़ता है।

इन्हीं शैलियों का द्वितीय से अष्टम अध्याय पर्यन्त सात अध्यायों में विभाजन कर इस निबन्ध में अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस शैली-विचार में कुछ अन्य शैलियों को भी सम्मिलित किया जा सकता था, यथा आख्यानात्मक एवं अलंकारात्मक शैली। विस्तारभय से इन्हें स्थान नहीं दिया जा सका। तथापि आख्यानात्मक शैली का दिग्दर्शन संवादात्मक शैली के प्रकरण में पर्याप्त अंशों में हो जाता है, क्योंकि संवादों में आख्यान भी अन्तर्निहित हैं, यहां तक कि किसी-किसी संवाद के सम्बन्ध में यह विवाद उठ खड़ा हुआ है कि इसे संवाद माना जाये या आख्यान।

अगले अध्यायों में शैली-विवेचन करते हुए यह ध्यान रखा गया है कि प्रत्येक शैली का भेदोपभेद-सहित स्वरूप-निर्धारण कर उसके चारों वेदों में जो उत्तमोत्तम उदाहरण उपलब्ध होते हैं, उन्हें संकलित किया जाए, तथा उन का अनुवाद प्रवाहमयी सजीव भाषा में प्रस्तुत किया जाए, जिससे वेदमन्त्रों में जो बल, प्राण एवं स्पन्दन है, वह प्रकट हो सके। प्रत्येक शैली के सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य, व्याख्या आदि भी यथास्थान दे दिये गये हैं। प्रत्येक शैली के विचार की आवश्यकता पर भी प्रकाश डाला गया है।

द्वितीय अध्याय

प्रहेलिकात्मक शैली

प्रारंभिक विवेचन

किसी तथ्य को गुप्त या रहस्यमय रूप में प्रकट करना वेदों को बहुत रुचिकर है। ब्राह्मणग्रन्थों में कहा है कि देवता परोक्षप्रिय होते हैं[1]। प्रहेलिका भी परोक्षप्रधान या गुह्यार्थ होती है[2], अतः प्रहेलिकात्मक-शैली ने वेद में विशेष स्थान पाया है।

संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने प्रहेलिका पर पर्याप्त विचार किया है, तथा समय-समय पर संस्कृत के कवि प्रहेलिकाएं लिखते रहे हैं। दण्डी ने प्रहेलिका का उपयोग बताते हुए कहा है कि क्रीडा-गोष्ठियों में मनोरंजन, जनाकीर्ण स्थान में परस्पर गुप्त भाषण तथा पर-व्यामोहन के लिए यह उपादेय होती है[3]। उसने समागता, वंचिता, व्युत्क्रान्ता, प्रमुषिता, समानरूपा आदि प्रहेलिका के सोलह भेदों का भी सोदाहरण निरूपण किया है[4]। भोज ने प्रहेलिका के च्युताक्षर, दत्ताक्षर, च्युतदत्ताक्षर आदि छह भेद परिगणित किये हैं[5]। कविराज विश्वनाथ के अनुसार रसानुभूति में बाधक होने से प्रहेलिका अलंकार-कोटि में नहीं आती, क्योंकि अलंकार तो रसोपकारक हुआ करते हैं, वह चित्र के ही अन्तर्गत होती है[6]।

प्रहेलिका का आदि स्रोत वैदिक संहिताएं ही हैं। पर उत्तरकालीन साहित्य में प्रहेलिका का जो शब्दचित्रात्मक जटिल रूप च्युताक्षर, दत्ताक्षर आदि हो गया, वह वेदों में उपलब्ध नहीं होता। अधिक से अधिक जो शब्दचित्रमय रूप वेदों में प्राप्त होता है वह 'सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू' आदि है[7], वह भी बहुत कम।

---

१. परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः। गो पू. २-२१

२. विदग्धमुखमण्डन में प्रहेलिका का निम्न लक्षण मिलता है–

व्यक्तीकृत्य कमप्यर्थं स्वरूपार्थस्य गोपनात्।
यत्र बाह्यान्तरावर्थौ कथ्येते सा प्रहेलिका॥

३. काव्यादर्श ३.९७

४. वही ३.९८-१२४

५. सरस्वतीकण्ठाभरण २.१३३

६. रसस्य परिपन्थित्वान्नालंकारः प्रहेलिका। सा. द. १०.१३

७. सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका।
उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जराय्वजरं मरायु॥ ऋग् १०. १०६. ६

वेदों की कुछ पहेलियां हिन्दी की इस पहेली से साम्य रखती हैं—'एक सन्दूक जिसमें बारह खाने, बारह खानों में तीस-तीस दाने'। जैसे, दो पक्षी हैं, वे एक ही वृक्ष पर बैठे हैं। उनमें से एक वृक्ष के फलों का स्वाद ले रहा है, दूसरा केवल देख रहा है[८]। कुछ पहेलियाँ ऐसी हैं जिनमें कोई असंभव बात कही गयी है, जिसकी संगति लगानी अभीष्ट होती है। जैसे, पुत्र का माता को उत्पन्न करना, आकाश में बैलों का स्थित होना, सिर से दूध देने वाली तथा पैरों से पानी पीने वाली गौओं का वर्णन, बैल का घोंसला होना तथा उससे शिशु उत्पन्न होना, चार सींग, तीन पैर, दो सिर और सात हाथों का बैल होना आदि[९]। जितना ही अधिक असंभव वर्णन है, उतना ही अधिक पहेली में चमत्कार है। कुछ पहेलियां श्लेषमूलक हैं[१०]। दण्डी ने जो भेद प्रदर्शित किये हैं, उनमें से अधिकांश वैदिक पहेलियां वंचिता[११] तथा समानरूपा[१२] के अन्तर्गत हो जाती हैं।

अनेक वैदिक पहेलियों में वायस, वृषभ, सुपर्ण, गौ आदि ऐसे शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जिनका प्रसिद्ध अर्थ कौआ, बैल, गरुड़, गाय आदि है। पहेली को सुनते ही प्रथम ध्यान उन्हीं अर्थों की ओर जाता है, किन्तु बुद्धि द्वारा अनुसन्धान करके हम सूर्य, प्राण, आत्मा, प्रत्यंचा आदि आशयों पर पहुंच जाते हैं। उन अर्थों के साथ योगार्थ का भी समंजस हो जाना पहेली में और भी चमत्कार ला देता है। जैसे वायस की पहेली में हम प्रसिद्ध काक अर्थ के स्थान पर सूर्य आशय लेते हैं, तथा गत्यर्थक वी धातु से निष्पन्न कर वायस का अर्थ गतिमय भी कर लेते हैं, जो सूर्य पक्ष में घटित हो जाता है[१३]।

वेदों की पहेलियां केवल दण्डी के पूर्वोक्त प्रयोजनों तक ही सीमित नहीं हैं, अपितु इनसे रहस्यार्थ को समझने में बड़ी सहायता मिलती है। इनसे उपमानो-पमेय-भाव आदि ध्वनित होकर एक चामत्कारिक अर्थ की प्रतीति हो जाती

इस प्रकार के उदाहरण दण्डी के प्रमुषिता नामक प्रहेलिका-भेद के अन्तर्गत हो सकते हैं। द्रष्टव्य: काव्यादर्श ३.९९, १११

८. ऋग् १. १६४. २०

९. द्रष्टव्य: आगे वर्णित ऋग्वेद की पहेलियां।

१०. यथा, आगे वर्णित उक्षा, तीन भाई एवं अज की पहेलियां।

११. वञ्चितान्यत्र रूढेन यत्र शब्देन वञ्चना। काव्यादर्श ३.९८

१२. समानरूपा गौणार्थारोपितैर्ग्रथिता पदैः॥
अत्रोद्याने मया दृष्टा वल्लरी पञ्चपल्लवा।
पल्लवे पल्लवे ताम्रा यस्यां कुसुममञ्जरी॥

१३. द्रष्टव्य : आगे वर्णित ऋग् १.१६४.५२ की पहेली।

है। जैसे पांच नदियों के सरस्वती में गिरने की पहेली का यदि हम इन्द्रियों द्वारा आनीत ज्ञानों के वाणी द्वारा प्रकट करने से समाधान करते हैं, तो ज्ञान एवं वाणी नदियों की धारा के समान हैं, इस उपमानोपमेय-भाव में परिणति होकर प्रतिपाद्य अर्थ में विशेष स्वारस्य उत्पन्न हो जाता है[१४]।

वैदिक प्रहेलिकाओं में एक यह बात ध्यान देने योग्य है कि उनके समाधान विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। इन पहेलियों में अधिदैवत, अधिभूत, अध्यात्म, अधियज्ञ आदि अर्थों का दर्शन प्राचीन मनीषी करते रहे हैं। निरुक्त इसमें प्रबल प्रमाण है। निरुक्त में कई पहेलियों की आध्यात्म तथा अधिदैवत दोनों पक्षों में व्याख्या मिलती है, जिनमें से कुछ पहेलियों पर आगे हमने विचार भी किया है, जहां निरुक्त का संकेत कर दिया गया है। निरुक्त-परिशिष्ट में जो मन्त्र दिये गये हैं, उनमें अधिकांश पहेलियां ही हैं, जिनके निरुक्तकार ने अधिदैवत तथा अध्यात्म दोनों समाधान दर्शाये हैं। इस विधि से २५ पहेलियां निरुक्त-परिशिष्ट में ही व्याख्यात हो गयी हैं। कहीं-कहीं तो अधिदैवत तथा अध्यात्म व्याख्यान के साथ वैयाकरण, याज्ञिक आदि अन्य पक्ष भी दिये हैं[१५]। निरुक्त के शेष भाग में भी इसी शैली से कुछ पहेलियां व्याख्यात हुई हैं[१६]।

सायण ने भी अनेक पहेलियों की विविध पक्षों में व्याख्या की है। अस्य-वामीय सूक्त, जो ऋग्वेद का प्रसिद्ध प्रहेलिकापरक सूक्त है, सायण ने यद्यपि अधिकांश अधिदैवत या अधियज्ञ दृष्टि से व्याख्यात किया है, तथापि उसने स्वयं स्वीकार किया है कि ये सब पहेलियाँ अध्यात्म में भी चरितार्थ हो सकती हैं[१७]। कुछ की तो उसने अध्यात्म योजना प्रदर्शित भी की है[१८]। यही सूक्त सायण से पूर्ववर्ती आत्मानन्द ने सम्पूर्ण अध्यात्मपरक घटाया है[१९]।

वैदिक प्रहेलिकाओं को विविध क्षेत्रों में घटाने की इसी पद्धति का आश्रय हमने भी लिया है। विविध क्षेत्रों में घटाने के लिये सूत्र स्वयं वैदिक

---

१४. द्रष्टव्य : आगे वर्णित यजु ३४.११ की पहेली।

१५. द्रष्टव्य : निरु. १३.९

१६. द्रष्टव्य : निरु. १२.३५.३६

१७. एवमुत्तरत्रापि अध्यात्मपरतया योजयितुं शक्यम्, तथापि स्वरसत्वा-भावात् ग्रन्थविस्तरभयाच्च न लिख्यते, ऋग् १.१६४.१ के भाष्य में सायण।

१८. द्रष्टव्य: ऋग् १. १६४ के मन्त्र १,१६,२०,२१,२२ का सायण-भाष्य।

१९. द्रष्टव्य: आत्मानन्द, अस्यवामीयसूक्तम्। इनका भाष्य केवल इसी सूक्त पर है।

संहिताओं में या उत्तरकालीन वैदिक साहित्य में उपलब्ध हो जाते हैं। यथा, सुपर्ण की पहेली का समाधान करते समय यह देख लेना उपयोगी है कि वेद-मन्त्रों में किन-किन को सुपर्ण कहा गया है, अथवा परम्परा किन-किन वस्तुओं को सुपर्ण मानती है। आगे पहेलियों की जो व्याख्याएं प्रस्तुत की गयी हैं, उनमें से कुछ प्राचीन एवं अर्वाचीन भाष्यकारों के आधार पर हैं, तथा कुछ हमारी अपनी नवीन हैं। किन्तु नवीन व्याख्याएं करते हुए उनके सप्रमाण होने का ध्यान रखा गया है। जो संकेत जहां से गृहीत हुए हैं, उनका पता भी यथास्थान दे दिया गया है।

सायण प्रभृति भाष्यकारों ने पहेलियों का समाधानपरक अर्थ तो दिया है, परन्तु प्रहेलिकात्मक रूप स्पष्ट नहीं किया है। उनके भाष्य को पढ़ने से सामान्यतः यह प्रतीत नहीं होता कि अमुक मन्त्र पहेली है। ऐसा लगता है कि ग्रन्थ का सीधा अर्थ ही यह है। जैसे, "मैंने एक गोपा को देखा है, जो मरता नहीं–अपश्यं गोपामनिपद्यमानम्',[२०] यहाँ यदि गोपा का सीधा अर्थ ही रक्षक आदित्य कर लिया जाये तो पहेली का चमत्कार कुछ भी प्रतीत नहीं होता। चमत्कार तो तब दिखाई देता है, जब पहले गोपा का अर्थ ग्वाला करें। ग्वाला अर्थ करने पर असंभव सा अर्थ बन कर पाठक के मन में उत्सुकता जनित करता है कि ऐसा ग्वाला कौन हो सकता है। "एक सुपर्ण है, जो समुद्र में बैठा हुआ सारे विश्व को देख रहा है—एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे[२१], यहाँ यदि प्रारम्भ में ही सुपर्ण का अर्थ वायु तथा समुद्र का अर्थ अन्तरिक्ष कर लें, तो पहेली का रूप ही नहीं बनता। भाष्यों से प्रहेलिकात्मक रूप स्पष्ट न होने के कारण ही वैदिक पहेलियों की ओर वेद के अध्येताओं का बहुत कम ध्यान गया है। मैक्समूलर, ग्रिफिथ आदि के जो अनुवाद तथा टिप्पणियां हैं, उनसे अपेक्षाकृत प्रहेलिकात्मक रूप सामने अधिक आता है, यद्यपि उनके समाधान बहुत अधूरे हैं, तथा प्रायः' सायण-भाष्य पर निर्भर हैं। इस युग के वैदिक विद्वान् स्वामी दयानन्द, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, जयदेव विद्यालंकार आदि ने भी पहेलियों के समाधान या तदुपयोगी संकेत अपने भाष्यों में दिये हैं[२२], यद्यपि उन्होंने इन के लिए पहेली शब्द का प्रयोग नहीं किया। अभी कुछ समय पूर्व श्री वासुदेव

---

२०. ऋग् १.१६४.३१

२१. ऋग् १०.११४.४।

२२. इनके भाष्य क्रमशः वैदिक यन्त्रालय अजमेर, स्वाध्यायमण्डल पारडी (सूरत), तथा सस्ता साहित्य मण्डल अजमेर से प्रकाशित हुए हैं।

शरण अग्रवाल, श्री कुन्हन राजा आदि का ध्यान इन वैदिक पहेलियों के महत्त्व की ओर गया है।[२३]

पहेलियां वेदों में बहुत हैं। ऋग्वेद के १.६५,१.१०५, १.१६२–६४, १०.२७–२८, १०.५५, १०.११४ आदि कुछ सूक्त स्पष्ट प्रहेलिकात्मक हैं। इनके अतिरिक्त इन्द्र, ऋभुगण, अश्विनी आदि देवों के अनेक मन्त्र भी प्रहेलिका-रूप हैं। कई सूक्तों के बीच-बीच में भी कुछ मन्त्र इस शैली के मिल जाते हैं। यजुर्वेद में भी कहीं-कहीं पहेलियाँ मिलती हैं, जिनमें कुछ ऋग्वेद के समान हैं तथा कुछ नूतन हैं। सामवेद में ४-६ से अधिक पहेलियां नहीं हैं। जो हैं वे प्रायः ऋग्वेद में भी आ जाती हैं, दो-तीन ही नूतन हैं।[२४] अथर्ववेद में पहेलियां पर्याप्त हैं, यद्यपि ऋग्वेद की तुलना में कम हैं। इस वेद की कई पहेलियां ऋग्वेद से मिलती हैं। वेदों में अमुक मन्त्र प्रहेलिकात्मक हैं, यह गणना कर सकना बहुत कठिन है। इसका कारण यह है कि जैसा अभी कहा जा चुका है, वेदभाष्यों में मन्त्रों का प्रहेलिकात्मक रूप स्पष्ट नहीं किया गया है। गणना करने वाले को प्रहेलिकात्मक रूप भी स्वयं पहचानना होगा। जैसे, आगे जिन पहेलियों पर विचार किया गया है, उनमें से कइयों का प्रहेलि-कात्मक रूप हमने स्वयं आविष्कृत किया है। निदर्शन के रूप में हम जो पहेलियां दे रहे हैं, वे किसी एक प्रकरण की न होकर विविध प्रकरणों से संगृहीत हैं। प्रहेलिकात्मक शैली का विचार वेदव्याख्या की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस विषय पर हम अध्याय के अन्त में प्रकाश डालेंगे। अब क्रमशः वेदों से कुछ पहेलियां प्रदर्शित की जाती हैं। जो पहेली हमने किसी एक वेद के शीर्षक के नीचे दी है, वह यदि अन्य वेद में भी मिलती है, तो स्पष्टता की दृष्टि से हमने इसका संकेत भी साथ ही दे दिया है।

---

२३. द्रष्टव्य: 1. V. S. Agrawal, I. Sparks from the Vedic Fire, 2. The thousand syllabled speech (सहस्राक्षरा वाक्): Vision in Long Darkness, Chaukhambha, Varanasi. Dr. C. Kunhan Raja: Asya Vamasya Hymn (The Riddle of the Universe), Ganesh & Co., Madras-17. Prof. R. V. Vaidya: Asya Vam-asya Suktam (Riddle Solved) A. V. G. Publications, Poona-2.

२४. यथा, चन्द्रमा अप्स्वन्तरा ऋग् १.१०५.१; साम पू० ४.७ ६; विघुं दद्राणं ऋग् १०.५५.५; साम० पू० ३.१०.३; सहर्षभाः सहवत्साः, साम पू० ५. ४. १२।

एक-दूसरे के शिशु को दूध पिलाती हुई दो माताएं

द्वे विरूपे चरतः स्वर्थे अन्यान्या वत्समुप धापयेते ।
हरिरन्यस्यां भवति स्वधावाञ्छुक्रो अन्यस्यां ददृशे सुवर्चाः ॥
ऋग् १.९५.१, (यजु ३३.५)

विभिन्न रूपों वाली काली-गोरी दो माताएं हैं। वे शुभ उद्देश्य को लेकर आवागमन करती हैं, एक-दूसरे के शिशु को दूध पिलाती हैं। गोरी माता का पुत्र हरि है, जो कृष्णा माता में स्वधावान् (अन्नवान्) होता है, कृष्णा माता का पुत्र सुवर्चा शुक्र है, जो गौरवर्णा माता में स्वधावान् होता है।

ये काली-गोरी दो माताएं क्रमशः रात्रि तथा द्यौ (दिन) हैं।[२५] काली रात्रि का पुत्र सूर्य है, जो गोरा है तथा जिसे मन्त्र में शुक्र एवं सुवर्चाः शब्दों से सूचित किया है। अथर्ववेद में इस सूर्य के लिए कहा भी है—"कृष्णायाः पुत्रो अर्जुनो रात्र्या वत्सो अजायत, अथर्व १३.३.२६"।[२६] उस शिशु को उत्पन्न कर रात्रि द्यौ (दिन) को सौंप जाती है, तथा द्यौ ही उस शिशु को दूध पिलाती है, और अंगुली पकड़कर प्रातः से सायं तक गगन-प्रांगण में चलाती है। गोरी द्यौ का कृष्णाभ पुत्र धूमिल अग्नि[२७] या कलंकमय चन्द्रमा[२८] है, जिसे मन्त्र में हरि शब्द से स्मरण किया है। द्यौ उसे रात्रि को पालनार्थ दे देती है, तथा वह रात्रि माता का दूध पीकर परिपुष्ट होता है।

अथवा ये दो माताएं पृथिवी तथा द्यौ (द्युलोक) भी हो सकती हैं, पृथिवी कृष्णाभ है, द्यौ गौरवर्णा है। पृथिवी का वत्स हरि है अर्थात् सोम वनस्पति,[२९]

---

२५. द्यौः = दिन, नि. १.९। सायण ने तैत्तिरीय आरण्यक १.१० का अनुसरण करते हुए इनके लिए रात्रि तथा अहः (अहोरात्रे) शब्द रखे हैं। परन्तु माता के लिए स्त्रीलिंग शब्द रखने में औचित्य होने से हमने दिनवाची स्त्रीलिंग शब्द दिव् (द्यौ) लिया है।

२६. तुलनीय : रात्रिर्वै कृष्णा शुक्लवत्सा, तस्या असावादित्यो वत्सः। शत. ९.२.३.३०

२७. 'हरिः हरितवर्णोऽग्निः। शुक्रः शुक्लः आदित्यः।' ३३.५. का यजुर्वेद-भाष्य, उवट तथा महीधर। सायण ने हरि आदित्य को तथा शुक्र अग्नि को माना है—'हरिः रसहरणशील आदित्यः। शुक्रः निर्मलदीप्तिरग्निः।'

२८. 'हरिः मनोहारी चन्द्रः'। दयानन्द, ३३.५ का यजुर्भाष्य।

२९. हरिः सोमो हरितवर्णः। निरु. ४.१९

एवं द्यौ का वत्स सूर्य है। द्यौ माता पर्जन्यवृष्टि द्वारा पृथिवी के पुत्र को पय:पान कराती है, और पृथिवी द्यौ के पुत्र सूर्य को, यतः सूर्य अपने किरण-रूप ओष्ठों से पृथिवीस्थ रसों का पान करता है।[30]

दस युवतियों का एक पुत्र

दशेमं त्वष्टुर्जनयन्त गर्भमतन्द्रासो युवतयो विभृत्रम्।
तिग्मानीकं स्वयशसं जनेषु विरोचमानं परि षीं नयन्ति ॥

ऋग् १.६५.२

आलस्यरहित दस युवतियां अपने पति त्वष्टा द्वारा गर्भस्थ एक पुत्र को जन्म देती हैं, जो सबसे धारण करने योग्य है। तीक्ष्णमुख, यशस्वी, विरोचमान उस पुत्र को वे युवतियां जन-जन के पास ले जाती हैं।

सायण ने इस पहेली की दो व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं। प्रथम व्याख्यानुसार दस युवतियां दस प्राची आदि दिशाएं हैं। त्वष्टा मध्यमस्थानीय दीप्त वायु है। उसके द्वारा दिशाओं के मेघरूप उदर में गर्भ स्थापित किया जाता है, जिससे वे दिशाएं वैद्युताग्नि-रूप पुत्र को जन्म देती हैं, जो तीक्ष्णमुख, अतिशय यशस्वी तथा विशेष रूप से दीप्यमान है। द्वितीय व्याख्यानुसार यज्ञकर्ता की दस अंगुलियां दस युवतियां हैं। त्वष्टा पूर्ववत् वायु है। अंगुलियां अरणिमन्थन करके वायु की सहायता से यज्ञाग्नि-रूप पुत्र को उत्पन्न करती हैं।

दिशापरक व्याख्या में त्वष्टा से सूर्य अर्थ भी लेना संभव है। यह शब्द 'त्विष् दीप्तौ' धातु से निष्पन्न होता है तथा निरुक्तानुसार अग्नि, वायु, सूर्य तीनों का वाची है[31]। दिशाओं में सूर्य द्वारा उत्पन्न पुत्र सौर तेज है, जो जन-जन के पास पहुंचा हुआ है।

अध्यात्म में दस इन्द्रिय-शक्तियां युवतियां हो सकती हैं तथा त्वष्टा प्राण। ये इन्द्रियां प्राण द्वारा ज्ञान या कर्म रूपी यशस्वी, विरोचमान पुत्र को उत्पन्न करती हैं और उसे सर्वत्र ले जाती हैं, उसका प्रसार करती हैं। श्री अरविन्द की वेदव्याख्या-शैली का अनुसरण करने वाले कपालीशास्त्री कृत सिद्धांजनभाष्य में ये युवतियां सूक्ष्म धीशक्तियां मानी गयी हैं,[32] जो दिव्य सम्पत्ति के लिए

---

३०. द्रष्टव्य: ऋग् १.१६४.५१, भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः।

३१. द्रष्टव्य: निरु. ८.१४; १०. ३३; १२.११।

३२. द्रष्टव्य: ऋग्वेदसंहिता, सिद्धांजनभाष्य। श्री अरविन्द आश्रम, १९५१, पृ. ११७, ७०८।

यज्ञयात्रा करने वाले यजमान के अन्दर दिव्य अग्नि रूपी शिशु को उत्पन्न करती हैं।

वत्स माताओं को उत्पन्न करता है

क इमं वो निण्यमाचिकेत वत्सो मातॄर्जनयत स्वधाभिः।
बह्वीनां गर्भो अपसामुपस्थान्महान् कविर्निश्चरति स्वधावान्॥
ऋग् १.६५.४

तुममें से कौन इस गुह्य रहस्य को जानता है? वत्स अपनी शक्तियों से माताओं को उत्पन्न करता है। उन बहुत सी माताओं का गर्भभूत वह वत्स स्वयं भी उनके गर्भ से बाहर निकल आता है। वत्स का परिचय यह है कि वह बहुत महान् है, कवि है तथा शक्तिशाली या आत्मनिर्भर है।

यह वत्स सूर्य है, उषाएं उसकी माताएं हैं, यतः वह उषाओं में से आविर्भूत होता है। पर उषाओं को कौन उत्पन्न करता है? उनका उत्पादक भी सूर्य ही है, क्योंकि क्षितिज के नीचे विद्यमान सूर्य का प्रकाश ही तो उषा[३३] है। इसी को अन्यत्र आलंकारिक रूप में वेद इस प्रकार कहता है कि सूर्य उषा रूपी वर्तिका को अपने मुख में पकड़े हुए आता है[३४]। इसी लिए पहले हमें मुख में पकड़ी हुई उषा के दर्शन होते हैं, पश्चात् सूर्य के।

अथवा, वत्स अग्नि है. उसकी माताएं अरणियां हैं, क्योंकि वह मन्थन द्वारा अरणियों से प्रकट होता है। पर अरणियां कहां से आती हैं? अग्नि ही वृष्टि द्वारा उन्हें उत्पन्न करता है। एवं अग्नि अरणियों का वत्स भी है और उत्पादक भी।

अथवा, वत्स मेघवर्ती वैद्युताग्नि है। उसकी माताएं मेघस्थ जल (आपः) हैं। पर इन मेघस्थ जलों का उत्पादक भी अग्नि है, क्योंकि अग्नि में प्रदत्त आहुति वृष्टि में निमित्त होती है। एवं वह वत्स माताओं का जनक भी कहलाता है[३५]।

---

३३. तुलनीयः आदित्यो दक्ष इत्याहुः, आदित्यमध्ये च स्तुतः। अदितिर्दाक्षायणी। 'अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि' इति च। तत्कथमुपपद्येत? समानजन्मानौ स्याताम्। अपि वा देवधर्मेण इतरेतरजन्मानौ स्यातामितरेतरप्रकृती। निरु. ११.२०

३४. द्रष्टव्यः ऋग् १.११७.१६

३५. इस व्याख्या के लिए द्रष्टव्यः इस मन्त्र पर सायण तथा विल्सन का भाष्य।

आकाश के मध्य में स्थित पांच बैल

अमी ये पञ्चोक्षणो मध्ये तस्थुर्महो दिवः।
देवत्रा नु प्रवाच्यं सध्रीचीना निवावृतु-
र्वित्तं मे अस्य रोदसी।। ऋग् १.१०५.१०

पांच बैल (उक्षणः) महान् द्युलोक के मध्य में स्थित हैं। वे उसके पास, जो देवों में प्रशंसनीय है, एक साथ आते हैं तथा फिर लौट जाते हैं। हे द्यावापृथिवी (अर्थात् द्यावापृथिवी-वासी समस्त स्त्री-पुरुषो), मेरी इस पहेली को बूझो।

सायण के अनुसार इन्द्र, वरुण, अग्नि, अर्यमा तथा सविता ये पांच देव अथवा अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा तथा विद्युत् रूप पांच देव ही द्युलोक के पांच बैल या उक्षा हैं। उक्षा शब्द 'उक्ष सेचने' धातु से बना है। सेचक या कामाभिवर्षक होने के कारण ये उक्षा कहलाते हैं। देवों में प्रशंसनीय स्तोत्र के प्रति ये पांचों देव आते हैं तथा यजमान की परिचर्या स्वीकार कर तृप्त हो प्रतिनिवृत्त हो जाते हैं[३६]।

नक्षत्रविद्या-परक व्याख्या में ये पांच बैल, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र तथा शनि नामक पांच ग्रह हो सकते हैं, जो मिलकर देवों में प्रशंसनीय सूर्य की परिक्रमा कर रहे हैं। आकाश में बैल की आकृति बनाने वाली वृष राशि के पांच प्रमुख तारे भी पांच बैल समझे जा सकते हैं[३७]। देवों में प्रशंसनीय सूर्य से इनका योग तथा वियोग होता रहता है, क्योंकि सूर्य मेष, वृष आदि बारह राशियों में क्रमशः प्रविष्ट तथा निर्गत हुआ करता है।

अध्यात्म में शरीर का उत्तमांग द्युलोक है। उसमें रहने वाले पांच उक्षा पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं, यतः वे ज्ञान का सेचन या वर्षण करते हैं। देवों में प्रशसनीय आत्मा है, जिसके समीप वे जाते-आते रहते हैं तथा जिससे प्रेरणाएं प्राप्त करते हैं।

---

३६. उक्षणः सेक्तारः कामाभिवर्षकाः पञ्च। तत्र इन्द्रस्तद् वरुणस्तदग्निस्तदर्यमा तत्सविता चनो धात् (ऋग्. १. १०७. ३) इत्यर्धर्चेन प्रतिपादिताः पञ्चसंख्याका देवाः। यद् वा, अग्निर्वायुः सूर्यश्चन्द्रमा विद्युदित्येवं पञ्चसंख्याकाः। तथा च शाट्यायनकम्—'एतान्येव पञ्च ज्योतींषि यान्येषु लोकेषु दीप्यन्ते। अग्निः पृथिव्यां वायुरन्तरिक्षे आदित्यो दिवि चन्द्रमा नक्षत्रे विद्युदप्सु' इति। नक्षत्रे नक्षत्रलोके, अप्सु मेघस्थोदकेषु। तैत्तिरीयेऽप्याम्नातम्—'अग्निः पृथिव्यां वायुरन्तरिक्षे सूर्यो दिवि चन्द्रमा दिक्षु नक्षत्राणि स्वर्लोके' (तै. आ. १. २०. १) इति। सायण

३७. Those five Bulls : the stars of some constellation. Griffith.

वृक को मार्ग से हटाने वाले आकाशवासी सुपर्ण

सुपर्णा एत आसते मध्य आरोधने दिवः ।
ते सेधन्ति पथो वृकं तरन्तं यह्वतीरपो
वित्तं मे अस्य रोदसी ।। ऋग् १.१०५.११

आकाश के व्याप्त प्रदेश के मध्य में कुछ सुपर्ण (गरुड़) उपविष्ट हैं। वे विस्तीर्ण जलों (आपः) को तैरना चाहते हुए वृक (भेड़िये) को मार्ग से हटा देते हैं। हे द्यावापृथिवी, मेरी इस पहेली को बूझो।

सायण-कृत व्याख्या में सुपर्ण या गरुड़ सूर्य-रश्मियां हैं, जो आकाश के मध्य में स्थित हैं। इस सूक्त का ऋषि त्रित कूप में गिरा हुआ है। कूप में गिरने से पूर्व नदी के परले पार से उसे एक भेड़िये ने देखा तथा उसे खाने के लिए नदी को तैर कर आने लगा। फिर सूर्य-रश्मियों पर उसकी दृष्टि पड़ी तो उसने सोचा कि यह त्रित को खाने का उपयुक्त अवसर नहीं है। उपयुक्त अवसर तो रात्रि हो सकती है, जब सूर्य-रश्मियां न हों, अतः वह लौट गया। एवं रश्मियों ने भेड़िये को मार्ग से निवृत्त कर दिया।

फिर सायण स्वयं यास्क का पक्ष दर्शाते हुए कहते हैं कि उसके पक्ष में 'आपः' (जल) अन्तरिक्षवाची है, वृक चन्द्रमा है,[३८] जो द्वादशराश्यात्मक आकाश-मार्ग को पार कर रहा है, सुपर्ण सूर्यरश्मियां ही हैं। दिन में सूर्यरश्मियां चन्द्रमा को निरुद्ध अर्थात् निष्प्रभ कर देती हैं। ग्रिफिथ अन्धकार या चन्द्रग्रहण को वृक तथा तारों को सुपर्ण मानने का प्रस्ताव करते हैं।[३९]

इस पहेली की आकाशीय तारासमूह परक व्याख्या भी संभव है। वर्षा से हेमन्त ऋतु तक आकाश-गंगा के मध्य श्रवण तारे के समीप गरुड़-तारासमूह दिखाई देता है, जिसका अंग्रेजी नाम ऐक्विला (Aquila : the Eagle) है। वर्षाऋतु में दक्षिण में इसी आकाश-गंगा के पश्चिमी तट पर वृक नामक तारा-समूह रहता है, जिसे ल्यूपस(Lupus) कहते हैं। तट पर स्थित यह ऐसा प्रतीत होता है, मानो तैर कर आकाश-गंगा को पार करना चाहता है, पर गरुड़ के तारे इसे मार्ग से हटा देते हैं, अर्थात् आकाश-गंगा को पार नहीं करने देते। हटा देने की संगति इस प्रकार भी लग सकती है कि अगली दो ऋतुओं में भी गरुड़ तो आकाश में दीखता है, परन्तु वृक वर्षा के उपरान्त अस्त हो, जाता है।

---

३८. आपः=अन्तरिक्ष, नि० १.३, वृकश्चन्द्रमा भवति'। निरु० ५.२०

३९. Those Birds of beauteous pinion : the stars. The wolf : darkness or eclipse of the Moon. —Griffith.
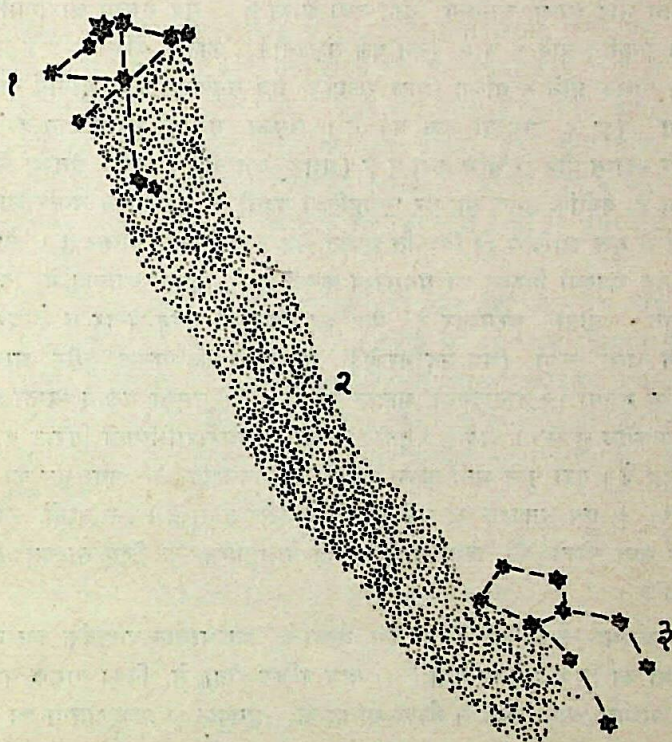
१. गरुड़, २. आकाश-गंगा, ३. वृक

तीन भाई

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः ।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् ॥

ऋग् १. १६४.१, (अथर्व ९. ९. १)

एक अतिसुन्दर (वाम), पके बालों वाला वृद्ध (पलित) है, जिसे 'होता' कहते हैं। उसका मध्यम भ्राता अश्न (बहुत खाने वाला) है। तृतीय भ्राता घृतपृष्ठ (जिसके पृष्ठ पर घृत लगाया जाये) है। इनमें से जो सात पुत्रों वाला है, उसे मैंने विश्पति (सब प्रजाओं का पालक) समझा है।

यहां वाम, पलित, होता, अश्न आदि शब्द श्लिष्ट हैं। प्रहेलिका रूप में इनका ऊपर दर्शाया हुआ अर्थ होता है, किन्तु समाधानपक्ष में अन्य अर्थ। सायण ने इस मन्त्र को दो प्रकार से व्याख्यात किया है। प्रथम व्याख्यानुसार

ये तीन भाई क्रमशः आदित्य, वायु तथा अग्नि हैं। सूर्य समस्त आरोग्यार्थियों द्वारा सेवनीय होने से वाम (वन षण संभक्तौ), प्रकाश, वृष्टि आदि के प्रदान द्वारा पालक होने से पलित (पाल रक्षणे) एवं सबके द्वारा आह्वानार्ह होने से 'होता' (ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च) है। उसका मध्यम भ्राता वायु है, जो सर्वत्र व्याप्त होने से अश्न कहाता है (अशूङ् व्याप्तौ)। तृतीय घृतपृष्ठ भ्राता अग्नि है, क्योंकि उसके पृष्ठ पर घृताहुतियां पड़ती हैं। इनमें से सप्तरश्मिरूपी पुत्रों से युक्त आदित्य ही विश्पति अर्थात् सब प्रजाओं का पालक है। सायण की यह व्याख्या निरुक्त का अनुसरण करती है।[४०] द्वितीय व्याख्या में 'वाम,' 'पलित', 'होता' परमेश्वर हैं, यतः वह विश्व को अपने अन्दर से उद्गीर्ण करने वाला स्रष्टा (वम उद्गिरणे), सृष्ट जगत् का पालक, और आदाता अर्थात् संहर्ता (हु दानादनयोः आदाने चेत्येके) है। उसका मध्यम भ्राता अश्न व्यापनशील सूत्रात्मा वायु है। तृतीय भ्राता स्थूलशरीराभिमानी विराट् है, जो घृतपृष्ठ है। यहां पृष्ठ शब्द कृत्स्न शरीरों का उपलक्षक है, तथा घृत का अर्थ प्रदीप्त है, एवं घृतपृष्ठ का अर्थ प्रकाशित-शरीर होता है। इन तीनों भाइयों में से सप्त लोकों का स्रष्टा परमेश्वर ही मोक्षप्राप्ति के लिए साक्षात् करने योग्य है।

आत्मानन्द का मत है कि इस ऋचा में अवस्थात्रयकथनपूर्वक चित्स्वरूप आत्मा का चित्रण किया गया है। वाम पलित होता से विश्व नामक आत्मा का, मध्यम भ्राता अश्न से तैजस आत्मा का, घृतपृष्ठ से प्राज्ञ आत्मा का तथा सत्पुत्र विश्पति से तुरीय आत्मा का ग्रहण होता है[४१]।

छह लोकों को धारण करने वाला अज

> अचिकित्वान् चिकितुषश्चिदत्र, कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान्।
> वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांसि, अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्॥
>
> ऋग् १.१६४.६, (अथर्व ९.९.७)

अज्ञ मैं विज्ञ मनीषियों से एक प्रश्न पूछता हूं। सचमुच मैं ज्ञानवर्धन के लिए पूछ रहा हूं, विद्वान् बन कर नहीं। मैंने सुना है कि अज (बकरे) का रूप धारण किए हुए कोई एक है, जिसनें इन छहों लोकों (रजांसि) का भार उठाया हुआ है। वह कौन है?

---

४०. द्रष्टव्य: निरु. ४.२६। तुलनीय : बृ० दे० ४.३३
"अग्निस्तु वामः पलितो वायुर्भ्राता तु मध्यमः।
घृतपृष्ठस्तृतीयोऽत्र सप्त वै रश्मयस्तु ताः॥"

४१. द्रष्टव्य: आत्मानन्द के 'अस्यवामीयसूक्तम्' में इस मन्त्र का भाष्य।

प्रथम यह अज (बकरा) आदित्य है[४२], क्योंकि यह अपनी धुरी पर गति करता है, तथा अन्य पृथिव्यादि ग्रहोपग्रहों को अपने चारों ओर गति कराता है (अज गतिक्षेपणयोः)। इस आदित्य ने ही सौर जगत् के पृथिवी, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि इन छहों लोकों का भार उठाया हुआ है। अथवा छह ऋतुएं छह लोक हैं,[४३] जिनका सूर्य निर्माण करता है। अथवा तीन भूमियां और तीन द्युलोक ये छह लोक हैं,[४४] मध्य के तीन अन्तरिक्ष इन्हीं में समाविष्ट हो जाते हैं।

दूसरे यह अज परमात्मा है, यतः वह कभी जन्म नहीं लेता[४५]। वह भी उक्त छहों लोकों को धारण किये हुए है। शरीर में यह अज जीवात्मा है[४६]। वह शरीर के पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा एक मन रूपी अथवा पंच प्राण एवं एक मन रूपी षड् लोकों को धारण करता है। आत्मानन्द ने अज का अर्थ नित्य आत्मा तथा 'षड् रजांसि' का अर्थ रजोगुण के कार्य कामादि षड् रिपु किया है, जिन्हें आत्मा स्तम्भित करता है[४७]।

सिर से दूध देने तथा पैरों से पानी पीने वाली गौएं

इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेद अस्य वामस्य निहितं पदं वेः।
शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदापुः

ऋग् १.१६४.७, (अथर्व ९.९.५)

जो कोई जानता हो वह इस पहेली को बूझे। एक बड़ा ही भव्य पक्षी है, जिसने अपना पैर निहित किया हुआ है। उसके पास गौएं हैं। उसकी वे गौएं सिर से दूध देती हैं, तथा रूप को धारण करने वाली वे पैर से पानी पीती हैं।

यह पक्षी सूर्य है,[४८] जिसने द्युलोक में अपना पैर रखा हुआ है। उसकी

---

४२. अजस्य गमनशीलस्य जन्मरहितस्य वा आदित्यस्य। सायण

४३. यद् वा, षड् रजांसि विलक्षणाः षड् ऋतवः। सायण

४४. अथवा षडिमानि रजांसि त्रिविधान् द्युलोकान् त्रिविधान् भूलोकांश्च यस्तस्तम्भ। 'तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रीरुत द्यून् (ऋग् २.२७.८) इति निगमः। सायण

४५. अजस्य जननादिरहितस्य चतुर्मुखस्य ब्रह्मणः। सायण

४६. द्रष्टव्य : श्वेता. ४.५

४७. इमा इमानि प्रसिद्धानि कामादीनि षड् रजांसि मलानि रजोगुणकार्याणि वा। आत्मानन्द

४८. वेः गन्तुरादित्यस्य। सायण

गौएं किरणें[४९] हैं। वे सिर से दूध देती हैं, अर्थात् उपरिस्थ मेघमण्डल में से वर्षा करती हैं, और फिर अपने पैरों से भूमिष्ठ पानी को पी लेती हैं, वाष्प बनाकर ऊपर ले जाती हैं।

अथवा इस पहेली को इस रूप में घटा सकते हैं कि यह सुन्दर पक्षी 'वृक्ष'[५०] है, जिसने भूमि में अपना पैर निहित किया हुआ है, अर्थात् जड़ जमायी हुई है। इस पर चढ़ी हुई लताएं इसकी गौएं हैं, जो सिर से फल रूपी दूध को देती हैं, तथा पैरों (जड़ों) से पानी पीती हैं।

शरीर में आत्मा रूपी पक्षी[५१] की गौएं ज्ञानेन्द्रियां हैं।[५२] वे स्नायुजाल रूपी पैरों से वाह्य समाचार ग्रहण करती हैं, तथा सिर के मुखादि अवयवों से ज्ञान रूप दूध देती हैं। पक्षी से हृदय भी गृहीत हो सकता है, जो एक स्थान पर पैर जमाये हुए निरन्तर अपने पंख चला रहा है, गति कर रहा है। इसकी पेशियां या गौएं पैर-तुल्य दो शिराओं से शरीर के अशुद्ध रक्त रूपी पानी को पीती हैं तथा फुप्फुसों द्वारा उसे शुद्ध करवा शुद्ध रक्त रूपी दूध में परिणत कर शरीर की पुष्टि के लिए वृहत् धमनि रूपी सिर से बाहर भेज देती हैं।

गर्भ में वत्स को लिए गौ उड़ रही है

अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात्।
सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात् क्व स्वित् सूते नहि यूथे अन्तः॥

ऋग् १.१६४.१७, अथर्व ९.९.१७

एक गौ है, उसके गर्भ में वत्स है। आगे के पैरों को पीछे मोड़कर और पीछे के पैरों को आगे मोड़ कर उदरस्थ वत्स को दबाये हुए वह गौ उड़ रही है। गर्भभार के कारण उसकी गति मन्थर है। मन्थर गति वाली वह भला कितना सा मार्ग पार कर सकेगी! थोड़ी दूर ही जाकर वत्स को जन देगी। पर कहां जनेगी? इतना अता-पता ध्यान रखिये कि पशुओं के यूथ में नहीं जनेगी।

वैदिक साहित्य से सूत्र ग्रहण कर इस पहेली की कई व्याख्याएं हो सकती हैं।

---

४९. सर्वेऽपि रश्मयो गाव उच्यन्ते। निरु. २.७
५०. वृक्ष पत्र रूपी पंखों वाला होने से पक्षी है।
५१. द्रष्टव्यः द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया। ऋग् १.१६४.२०
५२. इन्द्रियं वै वीर्यं गावः, शत. ५.४.३.१०। गावः पशवः इन्द्रियाणि वा—दयानन्द, ऋग् १.३८.२ का भाष्य।

१. यज्ञ-भूमि गौ है, अग्नि उसका वत्स है।[५३] यज्ञ की सब तैयारी हो चुकी है, केवल अग्नि प्रदीप्त नहीं की गयी है, वह गर्भ में विद्यमान है। शीघ्र ही यज्ञभूमि अग्नि रूपी वत्स को जन्म देने वाली है, क्योंकि जब सब संभार एकत्र हो चुके हैं, तो अग्नि-प्रदीपन भी होगा ही। यह लीजिए, गौ ने वत्स को जन दिया। पर कहाँ जना है? गौ होते हुए भी गो-यूथ में तो जना नहीं, यज्ञकुण्ड में जना है।

२. यज्ञाहुति गौ है[५४], यज्ञ-फल वत्स है। यज्ञाहुति रूपी गौ यज्ञफल को गर्भ में धारण किये हुए ऊपर उड़ती है।[५५] पर कब तक उड़ती रहेगी? आदित्यलोक में पहुंच कर विश्रान्त हो जाती है, तथा यज्ञकर्ताओं को यज्ञफल प्रदान कर देती है।

३. आकाशस्थ मेघ गौ है,[५६] उसके गर्भ में विद्यमान जल उसका वत्स है। वह मेघ-गौ आकाश में उड़ रही है। शीघ्र ही गर्भस्थ जल को बरसा देगी। यही वत्स का जन्म है।

४. अन्तरिक्ष गौ है, वायु उसका वत्स है।[५७] वायु आकाश के गर्भ में विलीन है, संचार नहीं कर रहा। सब प्राणी अकुला रहे हैं, अपने को सन्दूक में बन्द हुआ सा अनुभव कर रहे हैं, वायु के जन्म की प्रतीक्षा कर रहे हैं, सत्वर ही शीतल मन्द पवन बहने लगा। प्राणियों में प्राण का संचार हो गया। गौ ने वत्स को जन्म दे दिया।

५. दिशाएं गौ हैं, चन्द्रमा उनका वत्स है।[५८] पूर्व या पश्चिम दिशा के गर्भ में चन्द्रमा विद्यमान है, अभी उदित नहीं हुआ है। पर कब तक उदित नहीं होगा? लीजिए यह चन्द्रोदय हो गया, गौ ने वत्स को जन्म दे दिया।

६. द्युलोक गौ है, आदित्य उसका वत्स है।[५९] रात्रि के अन्धकार में आदित्य विलीन हो गया है, वह द्यौ के गर्भ में विद्यमान है। पर सदा सूर्य गर्भ में ही प्रच्छन्न नहीं रहेगा, शीघ्र सूर्योदय होगा। यह देखिए, सूर्य उदित हो गया, गौ ने वत्स को जन्म दे दिया।

---

५३. पृथिवी धेनुस्तस्या अग्निर्वत्सः। अथर्व ४.३९.२
५४. अत्र अग्नौ हूयमानाहुतिर्गोरूपेण स्तूयते। सायण
५५. अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। मनु ३.७६
५६. द्रष्टव्यः ऋग् १. १६४. २८ का सायणभाष्य —'मेघरूपा गौः।'
५७. अन्तरिक्षं धेनुस्तस्या वायुर्वत्सः। अथर्व ४. ३९. ४
५८. दिशो धेनवस्तासां चन्द्रो वत्सः। वही, ४. ३९. ८
५९. द्यौर्धेनुस्तस्या आदित्यो वत्सः। वही, ४. ३९. ६

७. वेदवाणी गौ है,[६०] उसका रहस्यार्थ या उसमें प्रतिपादित विषय उसका वत्स है। जो लोग वेदवाणी को केवल कण्ठस्थ कर लेते हैं, अर्थज्ञ नहीं होते, वे उस मनुष्य के समान हैं, जो घास-फूस की बनी ऐसी गौ को लिए फिरता है, जो न ब्याती है, न दूध देती है। पर जो विवेकीजन वेदार्थ-परिज्ञान के प्रति उत्सुक होते हैं, उनके प्रति वेदवाक्-रूपिणी गौ अर्थ रूपी वत्स को उत्पन्न करती है। उन्हें ही वेदाध्ययन का सच्चा फल या वेदवाक्-रूपिणी गौ का दूध प्राप्त होता है।[६१]

८. प्रकृति गौ है, जगत् उसका वत्स है। सृष्ट्युत्पत्ति से पूर्व सत्त्व, रजस्, तमस् की साम्यावस्था प्रकृति विद्यमान होती है, जगत्प्रपंच उसके गर्भ में विलीन रहता है।[६२] प्रकृति में क्रिया उत्पन्न होने के अनन्तर जगत् रूपी वत्स उत्पन्न हो जाता है।

एक वृक्ष पर बैठे दो सुन्दर पक्षी

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति

ऋग् १. १६४.२०, (अथर्व ९.९.२०)

सुन्दर पंखों वाले दो पक्षी हैं, जो साथ-साथ रहते हैं, एक-दूसरे के सखा हैं, समान वृक्ष पर बैठे हुए हैं। उनमें से एक स्वादु फलों का भक्षण करता है, दूसरा भक्षण नहीं करता है।

यहां वृक्ष यह जगत्प्रपंच अथवा मनुष्य-शरीर है। उस पर बैठे दो पक्षी जीवात्मा और परमात्मा हैं। जीवात्मा वृक्ष के फलों को खाता है, अर्थात् सांसारिक भोगों को अथवा कर्मफलों को भोगता है। परन्तु परमात्मा भोगता नहीं, द्रष्टा मात्र रहता है[६३]। अथवा आकाशरूपी वृक्ष है, उस पर सूर्य और

---

६०. वाग् वै धेनुः, गो० पू० २. २१; ता० ब्रा० १८. ९. २१। वाचं धेनुमुपासीत, शत० १४, ८. ९. १।

६१. स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्। योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥ निरु० १. १८। ऋग् १० ७१. ४, ५ भी द्रष्टव्य हैं।

६२. सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा। ऋग् १०. १२९. ४

६३. 'अत्र लौकिकपक्षिद्वयदृष्टान्तेन जीवपरमात्मानौ स्तूयेते'—सायण। यह मंत्र अथर्व ९.९.२०, निरुक्त १४.३०, मु. ३.१, श्वेता. ४.६ में भी आया है।

चन्द्र[64] दो पक्षी अवस्थित हैं। उनमें से चन्द्र क्षय-वृद्धि-रूपी फलों को भोगता है, सूर्य प्रकाशकमात्र रहता है। अथवा, देवयजनस्थलरूपी वृक्ष पर ब्रह्मा और यजमान[65] ये दो पक्षी बैठते हैं, जिनमें यजमान यज्ञफल को भोगता है। ये दो पक्षी अग्नि-सूर्य, प्राण-अपान, अहोरात्र आदि युगल भी हो सकते हैं[66]।

कभी न मरने वाला ग्वाला

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः॥

ऋग् १.१६४.३१; १०.१७७.३

मैंने एक ग्वाले को देखा है, जो कभी मरता नहीं, मार्गों से आता है और जाता है। वह साथ रहने वाली तथा अन्य स्थानों में रखी हुई पोशाकों को पहन कर भुवनों के अन्दर आता-जाता है।

इस मन्त्र की व्याख्या सायण ने ऋग् १.१६४ में सूर्यपरक तथा ऋग् १०.१७७ में सूर्य और प्राण-परक की है। यजुर्वेद में उवट एवं महीधर ने सूर्यपरक व्याख्यान किया है।

अधिदैवत पक्ष में यह ग्वाला सूर्य है, क्योंकि यह प्रजा रूप गौओं की अथवा अपनी रश्मि रूप गौओं की रक्षा करता है[67]। यह प्रवाह-रूप से अमर है, यतः

अद्वैतवादियों ने इसकी अद्वैतपरक व्याख्या की है। स्वामी दयानन्द ने इसे सत्यार्थप्रकाश समु. ८ में त्रैत की पुष्टि में उल्लिखित किया है।

६४. सुपर्ण=सूर्य, द्रष्टव्य : ऋग् १.३५.७; ५.४७.३;
अथर्व १३.२.६, ३६, ३७; १६.६५.१। सुपर्ण=चन्द्रमा,
द्रष्टव्य : ऋग् १.१०५. १

६५. सुपर्णा सुपर्णौ सुपतनौ ...... यजमानब्रह्माणौ ......, ऋग् १०.११४.३ पर सायणभाष्य।

६६. इस सूक्त के २२वें मन्त्र के पश्चात् ग्रिफिथ ने निम्न टिप्पणी दी है—
Suparna (dual) has been explained by different scholars as two species of souls, day and night, Sun and Moon; (plural) as rays of light, stars, metres, spirits of the dead, priests; and the tree on which they rest as the body, the orb or region of the Sun, the sacrificial post, the world, and the mythical world-tree.

६७. 'एष वै गोपा, य एष (सूर्यः) तपति, एष हीदं सर्वं गोपायति।
शत. १४१.४.६

ग्रस्त होने के पश्चात् भी पुनः उदित हो जाता है। अन्तरिक्षमार्गों से प्रातः आता है तथा सायं चला जाता है। अपने साथ रहने वाली दीप्तिरूपी पोशाक को तथा अन्यत्र चन्द्रादि में स्थित दीप्ति को भी धारण करता हुआ पुनः-पुनः पृथिव्यादि लोकों में आवागमन करता है।

अध्यात्म में यह ग्वाला प्राण है[६८]। वह इन्द्रियरूपी गौओं का रक्षक है, मार्गों से शरीर में आता-जाता है। वह शरीर की समानान्तर तथा असमानान्तर नस-नाड़ियों का वस्त्र पहन कर जन्म-जन्मान्तर में आवागमन करता है।

यह ग्वाला परमात्मा, जीवात्मा तथा मन भी हो सकते हैं[६९]। परमात्मा लोक-लोकान्तरों का रक्षक होने से गोपा है, वह अमर भी है। नाना मार्गों (उपायों) से साधकों को वह कभी प्रत्यक्ष तथा कभी ओझल होता रहता है। वह एक दिशा में या विपरीत दिशाओं में जाने वाली नदी, दिशा आदियों को बसाता हुआ भुवनों के अन्दर व्याप्त हुआ-हुआ है। जीवात्मा भी शरीरस्थ इन्द्रिय-गौओं का रक्षक, अमर, शरीरों में आने-जाने वाला, देहों के अन्दर एक दिशा में या विरुद्ध दिशाओं में चलने वाली रक्तवाहिनी एवं ज्ञानवाहिनी नाड़ियों को धारण करता हुआ जन्म-जन्मान्तर में विभिन्न योनियों में कर्मानुसार आता-जाता रहता है। इसी प्रकार मनुष्य का मन ज्ञानेन्द्रिय, वाणी आदि गौओं का रक्षक होने से गोपा, मुक्तिपर्यन्त आत्मा के साथ रहने से अमर, नाना मार्गों से समीप तथा दूरवर्ती स्थानों पर आने-जाने वाला और एक दिशा में तथा विरोधी दिशाओं में जाने वाली संकल्पशक्तियों को धारण करने वाला है, तथा वह अपनी कल्पना की उड़ानों से विभिन्न लोकों में पहुंच जाता है।

राष्ट्र में राजा भूमियों का रक्षक होने से गोपा है। वह अनिपद्यमान है, अर्थात् सोया नहीं रहता, किन्तु सदा प्रजापालन में जागरूक रहता है। राज्य में बने हुए अनेक मार्गों से वह प्रजा के मध्य आता-जाता रहता है। वह समान तथा असमान पेशों वाली प्रजाओं को धारण करता हुआ अन्य राष्ट्रों में भी आवागमन करता रहता है।

पके बैल का धुआं

शकमयं धूममारादपश्यं विषूवता पर एनावरेण।
उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्॥

ऋग् १.१६४.४३, (अथर्व ९.१०.२५)

मैंने दूर पर गोबर का धुआं (शकमय धूम) देखा है, जो इस व्याप्तिमान् भूलोक से परे आकाश में है। वीरों ने चितकबरे बैल (उक्षा पृश्नि) को पकाया

६८. प्राणो वै गोपाः। स ही सर्वमनिपद्यमानो गोपायति। जै. उ.३.३७.२
६९. द्रष्टव्यः निरु १४.३

है, उसी का यह धुआं है। पर वीरों ने चितकबरे बैल को पकाया क्यों? यह तो उनका धर्म ही है। बताइये, यह बैल कौन है और धुआं क्या है?

प्राचीन परम्परानुसार यहां उक्षा पृश्नि सोमवल्ली है। सर्वानुक्रमणी में इस मन्त्र का देवता सोम लिखा है[७०]। सायण ने भी सोमपरक व्याख्यात किया है। बृहद्देवता में भी सोम को ही उक्षा कहा है[७१]। सायण की व्याख्यानुसार यहां वीरों से ऋत्विजों का ग्रहण करना चाहिए–'वीरा विविधेरणकुशला ऋत्विजः'। वे सोमवल्ली को पकाते हैं, जिससे धुआं उठता है। उसे देख यजमान कहता है कि मैं शकमय धूम को देख रहा हूं, तथा उस व्याप्तिमान् अवर धूम से उत्कृष्ट जो उसका कारणभूत अग्नि है, उसे भी देख रहा हूं। यह व्याख्या कर सायण ने वैकल्पिक दूसरी व्याख्या के लिए एक श्लोक[७२] दिया है, जिसका भाव है कि सोम उक्षा है, यज्ञार्थ उसे देवों ने गोबर से पकाया, उससे उत्पन्न धूम मेघ हो गया, वही शकधूम है।

आत्मानन्द के मत में शकमय धूम आवरक अज्ञान है, जो सर्वत्र प्रसृत प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्ध ब्रह्म (विपूवत्) से अवर जीव के साथ स्थित है। उसे महावाक्यार्थ-बोध द्वारा विगलित अविद्या वाला जन देख रहा है। इस पहेली की निम्न व्याख्याएं भी संभव हैं।

(क) उक्षा पृश्नि (बैल) पार्थिव समुद्र है[७३]। वीर सूर्य की किरणें हैं[७४]। वे किरणें समुद्र रूपी बैल को पकातीं अर्थात् सन्तप्त करती हैं। उससे समुद्र-जल वाष्प बन कर ऊपर जाता है तथा मेघ रूप को धारण कर लेता है। यह मेघ ही शकमय धूम है, क्योंकि देखने से गोबर का धुआं सा प्रतीत होता है[७५]।

(ख) शकधूम का अर्थ धूमकेतु या पुच्छल तारा भी हो सकता है। पुच्छल तारे में तीन अंश होते हैं-केन्द्र, सिर तथा पुच्छ। पुच्छ इसमें सदा नहीं रहती। सूर्य के समीप पहुंचने पर इसके अन्दर से रजःकण जैसे पदार्थ निकलने लगते हैं, वे

---

७०. शकमयमिति शकधूम उक्षाणं पृश्निमिति सोमः। का. ऋ. सर्वा.

७१. बृ. दे. ४.४१

७२. सोम उक्षाभवत् पूर्वं तं देवाः शकृतापचन्। यज्ञार्थे तद्भवो धूमो मेघ आसीत् तदुच्यते। तत्परत्वेन वा मन्त्रो व्याख्येयोऽयं विचक्षणैः॥

७३. उक्षा समुद्रः। ऋग् ५.४७.३

७४. विशेषेण ईरयन्ति ऊर्ध्वं प्रेरयन्ति पार्थिवान् रसानिति वीराः सूर्यरश्मयः।

७५. The whole may, perhaps, be a figurative description of the gathering of the rainclouds.—Griffith.
मेघे शकस्तस्य धूमः सलिलं वास एव वा। बृ. दे. ४.४१

ही प्रधानतः सूर्य की चमक से प्रकाशित होकर पुच्छ से दिखाई देते हैं। यह पुच्छभाग धूम सा होता है। परन्तु भेद यह है कि पार्थिव धूम तो कृष्णाभ होता है तथा यह चमकीला। इसी लिए इसे 'परः एना अवरेण' अर्थात् इस पार्थिव धूम से विशेष या भिन्न कहा हैं। यह धूम आया कहां से ? उक्षा पृश्नि (पुच्छहीन धूमकेतु) को वीरों (सूर्यकिरणों) ने पकाया, उसी से धूम निकल रहा है।

(ग) कौशिकसूत्र १००.३ में इस मन्त्र को चन्द्रग्रहण की प्रायश्चित्ति के निमित्त पढ़ने में विनियुक्त किया है। इससे इस पहेली को चन्द्रग्रहण परक भी समझा जा सकता है। चन्द्र ग्रसा जा रहा है। अभी परिपूर्ण विम्व दिखायी दे रहा था, अभी यह गोवर का धुआं सा उसके कोने पर आ जाता है, तथा यह वढ़ता ही चलता है। यह धूम कहां से आया ? यह पार्थिव धूम तो नहीं, यह तो इस अवर भूलोक से परे का है। इस चन्द्र को, उक्षा पृश्नि को, सूर्य-किरण रूप वीर पकाते या परिपक्व करते हैं, जिससे यह प्रकाशित होता है।

(घ) अथर्व ६.१२८ में शकधूम को नक्षत्रों का राजा कहा गया हैं। सामान्यतः नक्षत्रराज चन्द्रमा समझा जाता है[७६]। परन्तु उक्त प्रकरण में शकधूम का चन्द्रमा अर्थ प्रतीत नहीं होता, क्योंकि उस शकधूम से जिनके लिए भद्रदिन की प्रार्थना की गयी है, उनमें एक चन्द्रमा भी है[७७]। चन्द्रमा से ही यह प्रार्थना करना कि वह चन्द्रमा के लिए भद्र दिन लाये संगत नहीं हो सकता। यहां शकधूम से नीहारिका (Nebula) अभिप्रेत हो सकती है, जिसे वेद में अदिति भी कहा गया है[७८]। इसे शकधूम कहना सार्थक भी प्रतीत होता है, यतः यह रात्र्याकाश में धूम सी ही प्रतीत होती है। ऐसी कई नीहारिकाएं आकाश में विद्यमान हैं, जिनमें से एक प्रसिद्ध नीहारिका मृगशीर्ष नक्षत्रपुंज में दिखायी देती है। प्रस्तुत पहेली में भी शकधूम से नीहारिका गृहीत हो सकती है। ये नीहारिकाएं कई आकृतियों की होती हैं। वैल के समान आकृति वाली नीहारिका को देख द्रष्टा कह रहा है कि मुझे सुदूर आकाश में गोवर का धुआं सा दीख रहा है, जो इस अवर विषुवत् रेखा से परे है, ऐसा लगता है मानों उसे किन्हीं वीरों ने पकाया हो, उसी का यह धुआं हो।

---

७६. चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः। अथर्व ५. २४.१०

७७. अहोरात्राभ्यां नक्षत्रेभ्यः सूर्याचन्द्रमसाभ्याम्। भद्राहमस्मभ्यं राजन् शक-धूम त्वं कृधि ॥ अथर्व ६.१२८.३

७८. द्रष्टव्यः ऋग् १०.७२

तीन केशधारी साधु

त्रयः केशिन ऋतुथा विचक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम् ।
विश्वमेको अभिचष्टे शचीभिः ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम् ॥
ऋग् १. १६४. ४४, (अथर्व ९. १०.२६)

तीन केशधारी साधु हैं, वे समय-समय पर कृपादृष्टि करते रहते हैं। उनमें से एक वर्ष भर बाल काटना रूपी नापित का कार्य करता है या बीज बोता और फसल काटता रहता है, या जलाता रहता है (वपते),[७९] दूसरा अपनी क्रियाओं से विश्व को प्रकाशित करता है। तीसरा ऐसा है जिसकी गति तो दीखती है, रूप नहीं।

निरुक्त तथा तदनुसार सायण ने इस पहेली का निम्न समाधान किया है। ये केशधारी तीन साधु क्रमशः अग्नि, आदित्य तथा वायु हैं।[८०] अग्नि के धूम रूपी केश होते हैं, तथा वह वर्ष भर जलाने का कार्य या जलाने द्वारा केशस्थानीय ओषधि, वनस्पति आदि का छेदन रूपी नापित का कार्य करता है।[८१] आदित्य के रश्मि रूपी केश होते हैं, तथा वह विश्व को प्रकाशित करता है। तीसरे वायु के रजःकण या जलकण रूपी केश होते हैं, तथा उसकी गति तो प्रत्यक्ष अनुभूत होती है, रूप नहीं दीखता।

ये तीन साधु क्रमशः जीवात्मा, परमाणु-समूह तथा ब्रह्म भी हो सकते हैं। जीवात्मा कर्म करता हुआ शुभाशुभ संस्कारों का बीज बोता तथा वैसी ही अच्छी या बुरी फसल काटता अर्थात् अच्छे-बुरे फल भोगता रहता है। दूसरा परमाणु-समूह है जो अपने गुण-कर्मों से विश्व को रूपयुक्त करता है (अभिचष्टे)। तीसरा साधु ब्रह्म है, जिसकी क्रिया तो जगत् में सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है, रूप नहीं दीखता।

---

७९. वप् धातु के वेद में जलाना, बीज बोना तथा काटना तीनों अर्थ होते हैं। वपते = दहति, निरु. १२.२६। बीज बोना, यथा—'कृते योनौ वपतेह बीजम्,' ऋग् १०.१०१.३। काटना, यथा—'वप्ता वपसि केशश्मश्रु', अथर्व. ८.२.१७

८०. केशी केशा रश्मयः तैस्तद्वान् भवति। अथाप्येते उत्तरे ज्योतिषी केशिनी उच्येते, धूमेनाग्निः रजसा च मध्यमः। निरु. १२.२५.२६

८१. संवत्सरे वपत एक एषामित्यग्निः पृथिवीं दहति—निरु. १२.६२। वपते दाहेन केशस्थानीयौषधिवनस्पत्यादिच्छेदनं नापितकार्यं करोति—सायण।

शरीर में ये तीन साधु क्रमशः मन, आत्मा तथा प्राण लिये जा सकते हैं। मन निरन्तर विचार द्वारा सिद्धान्तों के स्थापन एवं खण्डन रूपी बोने और काटने का कार्य करता है। आत्मा सबका प्रत्यक्ष करता है। तीसरे प्राण की गति तो दिखाई देती है, रूप नहीं दीखता।

एक अद्‌भुत चक्र

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शंकवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः॥[८२]

१.१६४.४८, (अथर्व १०.८.४)

एक चक्र है, जिसमें बारह प्रधियां हैं, तीन नभ्य हैं। उसमें ३६० कीलें जड़ी हुई हैं, जो अत्यन्त चंचल हैं। कौन इस चक्र को जानता है?

यह संवत्सर रूपी चक्र है। वर्ष के बारह मास ही बारह प्रधियां हैं। वसन्त-ग्रीष्म, वर्षा-शरद्, हेमन्त-शिशिर ये तीन ऋतुयुगल ही तीन नभ्य हैं। जटित ३६० कीलें वर्ष के ३६० अहोरात्र हैं। ये अहोरात्र रूप कीलक अत्यन्त चंचल हैं, क्योंकि एक-एक करके व्यतीत हो जाते हैं।

आत्मानन्द ने इस पहेली की प्रथम इसी प्रकार की कालचक्र-परक व्याख्या कर फिर इसे अध्यात्मपरक भी घटाया है। अध्यात्म में यह अद्‌भुत चक्र शरीर है। दस इन्द्रियां, मन तथा बुद्धि ये बारह प्रधियां हैं, जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएं ही तीन नभ्य हैं। ३६० कीलें हैं शरीरस्थ अनेक अस्थियां, मज्जाएं या अस्थिसन्धियां।

एक विशाल कौआ

दिव्यं सुपर्णं वायसं बृहन्तमपां गर्भं दर्शतमोषधीनाम्।
अभीपतो वृष्टिभिस्तर्पयन्तं सरस्वन्तमवसे जोहवीमि॥

ऋग् १.१६४.५२, (अथर्व ७.३९.१)

मैं अपनी रक्षा के लिए कौए (वायस) को बारम्बार पुकारता हूं। वह कौआ आकाश में निवास करने वाला, स्वर्णिम पंखों वाला, बहुत विशाल, जलों को ग्रहण करने वाला अर्थात् बहुत पानी पीने वाला, ओषधियों का दर्शन कराने वाला, चारों ओर के जगत् को वृष्टियों से तृप्त करने वाला तथा अपार जलों वाला है।

---

८२. अथर्ववेद में इस मन्त्र का उत्तरार्ध इस प्रकार है—तत्राहतास्त्रीणि शतानि शङ्कवः षष्टिश्च खीला अविचाचला ये।

यह कौआ या वायस सूर्य है। उपर्युक्त वर्णन सूर्य में पूर्णतः घट जाता है। वह आकाशनिवासी है, किरणरूपी स्वर्णिम पंखों से युक्त है, विशाल इतना है कि ज्योतिर्विदों के अनुसार आठ लाख छियासठ सहस्र मील लम्बा इसका व्यास है। भूमिष्ठ जलों का पान भी करता है तथा वृष्टि करके ओषधि-वनस्पतियों को उत्पन्न करता है। वह सरस्वान् भी है, क्योंकि आकाश में बादलरूप में जल का समुद्र एकत्र कर लेता है, अथवा ताप या ज्योति का सागर होने से सरस्वान् है। वेद में अन्य भी हंस, पतंग आदि पक्षीवाची शब्दों से सूर्य को स्मरण किया गया है।[८३] यह वायस पर्जन्य या प्राण[८४] भी हो सकता है। परमात्मा-पक्ष में भी इसकी संगति लग सकती है, जिसके लिए कहा गया है—'रसो वै सः' (तै.उ.२.६.१)।

स्वर्ग पहुंचाने वाला रथ

प्राता रथो नवो योजि सस्निश्चतुर्युगस्त्रिकशः सप्तरश्मिः।
दशारित्रो मनुष्यः स्वर्षाः स इष्टिभिर्मतिभी रंह्यो भूत्॥

ऋग् २.१८.१

एक रथ है, जो प्रातःकाल जोड़ा जाता है। वह नूतन या प्रशंसायोग्य है, साफ-सुथरा है। उसमें चार जुए (युग), तीन चाबुकें (कशाः), सात रासें (रश्मियां) तथा दश पहिए (अरित्र) हैं। वह मनुष्यों के लिए हितकर तथा स्वर्ग पहुंचाने वाला है। वह इच्छाओं और मतियों से चलाया जाता है।

सायण के अनुसार यह रथ प्रातःकालीन यज्ञ है। चार युग सोमरस निकालने के चार सिलबट्टे (ग्रावा), अथवा होता, उद्गाता, अध्वर्यु, ब्रह्मा रूपी चार ऋत्विज् हैं। तीन कशाएं मन्द्र, मध्यम, उत्कृष्ट रूप तीन वाणियां हैं, अथवा तीन कशाओं से तीन सवन अभिप्रेत हैं। सात रश्मियां गायत्र्यादि सात छन्द हैं। दस पहिए दस ग्रह हैं, जो पापों से रक्षा करते हैं। यह यज्ञ मनुष्यों का हितकर तथा स्वर्ग देने वाला है ही। प्रायणीय, आतिथ्य आदि इष्टियों से तथा मननीय स्तोत्रों से शब्दनीय (रंह्यः) होता है।[८५]

---

८३. द्रष्टव्यः ऋग् ४.४०.५; १०.१८६.३

८४. द्रष्टव्यः अथर्व, प्राणसूक्त ११.४

८५. रथः रंहणाद् रथो यज्ञः। स च नवः। नूयते स्तूयते ऽत्रेति नवः स्तुतिमान्। चतुर्युगः, युज्यन्ते इति युगानि ग्रावाणः, चत्वारि युगानि यस्य स तथोक्तः, अध्वर्य्वाद्यृत्विगभिप्रायं वा... दशारित्रः अरिभ्यः पापेभ्यस्त्रायन्त इत्यरित्रा ग्रहाः दशसंख्याका ग्रहा यस्य स तादृशः, चमसाध्वर्य्वभिप्रायं वा। मनुष्यः मनुष्याणां हितः। स्वर्षाः स्वर्गस्य दाता। सायण.

इस रथ की मानव-शरीर परक व्याख्या भी की जा सकती है। यह इन्द्र अर्थात् आत्मा रूपी रथी का रथ है। रात्रि भर विश्राम कर प्रातः चलने के लिए तैयार हो जाता है। अन्य प्राणियों के शरीर-रथों की अपेक्षा नवीन तथा प्रशंसनीय है। दो भुजाएं तथा दो पैर अथवा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इसके चार जुए हैं। मन, वाणी और प्राण ये तीन कशाएं हैं। पंच ज्ञानेन्द्रियां, मन तथा बुद्धि ये सात रासें हैं। दस प्राण ही दस पहिए हैं। यह स्वर्ग या मोक्ष की प्राप्ति का साधन है। यज्ञभावनाओं से (इष्टिभिः) तथा मतियों से चलाया जाता है[८६]

छह भार उठाने वाला अचल बैल

षड् भारौं एको अचरन् बिभर्ति ऋतं वर्षिष्ठमुप गाव आगुः।
तिस्रो महीरुपरास्तस्थुरत्या गुहा द्वे निहिते दर्श्येका॥

ऋग् ३. ५६. २

एक विशाल बैल है, जो चलता नहीं, पर छः भार उठाये हुए है। उसके समीप अनेक गौएं आती हैं। तीन विशाल घोड़ियां उसके निकट स्थित हैं, जिनमें दो गुहा में निहित अर्थात् अदृश्य हैं और एक दिखायी देती है।

सायण की व्याख्यानुसार यह बैल संवत्सर है, जो स्वयं चलता नहीं, स्थिर रहता है। छह भार वसन्तादि छह ऋतुएं हैं, जिन्हें वह धारण किये है। उनके समीप आने वाली गौएं सूर्य-किरणें हैं, जो संवत्सर को व्याप्त किये रखती हैं। निकट स्थित तीन घोड़ियां पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ हैं, जिनमें एक पृथिवी स्पष्ट दिखायी देती है, तथा अन्तरिक्ष और द्यौ गुहा में निहित हैं, अर्थात् स्पष्टतः दृष्टिगोचर नहीं होते।

अध्यात्म में यह बैल प्राण है[८७]। छः भार हैं पंच ज्ञानेन्द्रियां तथा छठा मन, जिन्हें यह धारण करता है[८८]। समीप आने वाली गौएं अन्य इन्द्रियां हैं। निकटस्थित तीन घोड़ियां त्रिविध वाणियां हैं, जिनमें दो अर्थात् मनःस्थ और बुद्धिस्थ वाणियां गुहानिहित हैं तथा तीसरी स्थूल वाणी प्रत्यक्ष श्रुतिगोचर होती है।

---

८६. तुलनीयः आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। कठ० ३ ३। यं कुमार नवं रथमचक्रं मनसाकृणोः। एकेषं विश्वतः प्राञ्चमपश्यन्न-धितिष्ठसि॥ ऋग् १०.१३५.३

८७. अनड्वान् प्राण उच्यते। अथर्व ११:४.१३

८८. प्राण इन्द्रियों का धारक है, एतदर्थ द्रष्टव्यः छा. उ. ५.१।

बैल के घोंसले में उत्पन्न सिर-पैर-विहीन शिशु

स जायत प्रथमः पस्त्यासु महो बुध्ने रजसो अस्य योनौ ।
अपादशीर्षा गुहमानो अन्तायोयुवानो वृषभस्य नीडे ।।

ऋग् ४.१.११

महान् विश्व के मूल में, इस लोक के घर में, एक शिशु प्रजाओं के मध्य में उत्पन्न हुआ है। वह चरणविहीन तथा सिरविहीन है, अपने पार्श्वों को (कच्छप के समान) अन्दर ही अन्दर छिपा रहा है, बैल के घोंसले में सिमटा बैठा है।

यह अद्भुत शिशु अरणियों द्वारा नवजात यज्ञाग्नि है, जो इस लोक के यज्ञगृह में उत्पन्न होता है। यह आरम्भ में ज्वालाहीन होने से अशीर्ष है। यज्ञकुण्ड के मध्य में अरणियों द्वारा उत्पन्न होने के कारण इसका कोई अधोवर्ती मूल भी नहीं होता, अतः यह अपात् है। इसके अग-प्रत्यंग होते तो हैं, जो कि पश्चात् इसके विस्तीर्ण होने पर निकल भी आते हैं, पर इस समय यह उन्हें कछुए के समान अपने अन्दर ही समेटे होता है। कामनाओं का वर्षक होने से यज्ञ ही वृषभ या बैल हैं, उसका नीड यज्ञकुण्ड है, उसमें यह सिमटा बैठा होता है।

अथवा यह शिशु वैद्युताग्नि है। वह अन्तरिक्ष-लोक के घर में उत्पन्न होता है। विस्तीर्ण रूप में प्रकट न होने से वह सिर तथा चरणों से विहीन है और अपने पार्श्वों को अन्दर ही संकुचित किये होता है। वृषभ वर्षक मेघ है, जिसके नीड में यह संकुचित हुआ स्थिर रहता है।[८९]

अध्यात्म में वृषभ जीवात्मा है, उसका नीड यह शरीर है। उसमें उत्पन्न शिशु प्राण है। वह प्रत्यक्ष सिर-पैरों से रहित है, यद्यपि शक्तिरूप में वे उसके अन्दर प्रच्छन्न हैं, मानों यह एक कछुवा है।[९०]

चार सींग और तीन पैर धारी वृषभ

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश ।।

ऋग् ४.५८.३ (यजु १७ ९१)

एक वृषभ है, जिसके चार सींग हैं, तीन पैर हैं, दो सिर हैं, सात हाथ हैं। तीन स्थानों से बंधा हुआ वह बहुत अधिक बोल रहा है। वह एक महान् देव है, जो मनुष्यों में प्रविष्ट हुआ है।

---

८९ उक्त दोनों व्याख्याओं के लिए द्रष्टव्य: इस मन्त्र का सायण-भाष्य ।
९०. प्राणो वै कूर्मः । शत ७.५.१.७

इस पहेली के अनेक समाधान किये गये हैं। निरुक्त के अनुसार यह वृषभ यज्ञ है। चार वेद ही उसके चार सींग हैं। प्रातः, मध्यान्ह तथा सायं के तीन सवन ही तीन पैर हैं। प्रायणीय तथा उदयनीय उसके दो सिर हैं। गायत्र्यादि सात छन्द सात हाथ हैं। वह यज्ञ रूप वृषभ मन्त्र, ब्राह्मण, कल्प इन तीन खूंटों से बंधा हुआ है। यज्ञ में होने वाला मन्त्रपाठ ही उस वृषभ का बोलना है।[६१]

पतजलि अपने महाभाष्य में इसका निम्न हल प्रस्तुत करते हैं। यह वृषभ शब्द है। शब्द के चार भेद नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ही इसके चार सींग हैं। भूत, भविष्य, वर्तमान काल ही तीन पैर हैं। सुप् और तिङ् दो सिर हैं। सात विभक्तियां सात हाथ हैं। उरस्, कण्ठ और सिर इन तीन स्थानों में बंधा हुआ वह बोल रहा है, यतः तीनों स्थानों की सहायता से उच्चरित होता है।[६२]

सायण का कथन है कि इस सूक्त के अग्नि, सूर्य, अप्, गो तथा घृत ये पांच देवता होने से यह मन्त्र पंचधा व्याख्यात हो सकता है। यज्ञात्मक अग्नि तथा सूर्य के पक्ष में उसने व्याख्या प्रदर्शित भी की है। यज्ञ-परक व्याख्यान निरुक्त का ही अनुसरण करता है, केवल दो सिर यास्कोक्त प्रायणीय तथा उदयनीय के स्थान पर ब्रह्मौदन तथा प्रवर्ग्य कहे गये हैं। सूर्य-परक व्याख्यान इस प्रकार है—"चार दिशाएं चार सींग हैं, तीन वेद तीन पैर हैं, अहोरात्र दो सिर हैं, सात रश्मियां अथवा षड् विलक्षण ऋतुएं तथा एक साधारण ऋतु सात हाथ हैं, तीन क्षित्यादि लोकों में अग्न्यादि रूप से संबद्ध है, अथवा ग्रीष्म, वर्षा, हेमन्त इन तीन द्वारा तीन रूपों में बद्ध है। वर्षक होने से वह वृषभ है तथा वृष्ट्यादि द्वारा शब्द भी करता है। सब मनुष्यों को प्राप्त होकर उनका नियंत्रण करता है।"

यजुर्वेदभाष्य में इस मन्त्र की उवट ने दो व्याख्याएं दी हैं, एक यज्ञ-परक और दूसरी शब्दग्रामपरक। महीधरभाष्य में तीन व्याख्याएं हैं, दो यज्ञ-परक और एक शब्दग्रामपरक। यज्ञपरक एक व्याख्या निरुक्त का ही अनुसरण करती है। दूसरी के अनुसार चार सींग हैं ब्रह्मा, उद्गाता, होता और अध्वर्यु ये चार ऋत्विज्; तीन पैर ऋग्, यजुः, साम हैं; दो सिर हविर्धान तथा प्रवर्ग्य हैं; सात हाथ सप्त होता या सप्त छन्द हैं; प्रातःसवन माध्यन्दिन सवन तथा तृतीय सवन इन तीन से वह बद्ध है। शब्दग्रामपरक व्याख्या प्रायः पतंजलि

---

६१. द्रष्टव्यः निरु. १३.७

६२. महाभाष्य, आह्निक १, व्याकरणाध्ययनप्रयोजनप्रकरण।

की व्याख्या के समान है। केवल इतना अन्तर है कि पतंजलि ने तीन कालों को तीन पैर माना है, किन्तु यहां उनके साथ विकल्प-रूप में प्रथम, मध्यम तथा उत्तम पुरुष को भी तीन पैर कहा है। दो सिर उवट ने नाम और आख्यात तथा महीधर ने कार्यता-व्यङ्ग्यता कहे हैं, जबकि पतंजलि ने सुप्-तिङ् माने हैं। जिन तीन स्थानों में वह शब्द-रूप वृषभ बद्ध है वे पतंजलि ने उरस्, कण्ठ एवं सिर कहे हैं, किन्तु उवट तथा महीधर ने एकवचन, द्विवचन, और बहुवचन माने हैं।

इन व्याख्याओं के अतिरिक्त शरीर में यह वृषभ प्राण हो सकता है।[६३] अन्तःकरण-चतुष्टय इसके चार सींग हैं। व्यान, उदान, समान तीन पैर हैं। प्राण, अपान दो सिर हैं। पंच ज्ञानेन्द्रियां, मन एवं बुद्धि ये सात हाथ हैं। उत्तमांग, मध्यांग तथा निम्नांग इन तीनों स्थानों में बंधा हुआ वह श्वासोच्छ्वास द्वारा अथवा वाणी द्वारा शब्द कर रहा है। इस पहेली की ब्रह्मादिपरक इतर व्याख्याएं भी संभव हैं।

आकाश में उड़ने और रंग बदलने वाला बैल

उक्षा समुद्रो अरुषः सुपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुराविवेश।
मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा, वि चक्रमे रजसस्पात्यन्तौ॥

ऋग् ५.४७.३, (यजु १७.६०; तै. सं. ४.६.३.३.)

एक बैल (उक्षा) है, उसे समुद्र भी कहते हैं। रंग लाल है, सुन्दर पंख हैं। पूर्व दिशा में स्थित पिता के घर में प्रविष्ट है। कभी उड़ता-उड़ता आकाश के मध्य में चला जाता है, तब चितकबरा हो जाता है। इसका नाम अश्मा (पत्थर) भी है। बड़े-बड़े कदम रखता है, इस लोक के पूर्व-पश्चिम दोनों प्रान्तों का प्रहरी है।

यह बैल प्राची में उदित सूर्य है। यह उक्षा इस कारण है, क्योंकि अपने प्रभातकालीन सौम्य प्राण से सब जड़-चेतन को सिक्त करता है[६४] (उक्ष सेचने)। रश्मियों का सागर होने से यह समुद्र है। रंग लाल है ही। पूर्व से पश्चिम की ओर पक्षी के समान उड्डयन करने से सुपर्ण है। मध्याकाश में पहुंचकर चितकबरा या सात रंगों वाला हो जाता है, और जगत् में सर्वत्र अपने तेज से व्याप्त होने के कारण अश्मा कहलाता है (अशूङ् व्याप्तौ)। वामन विष्णु होकर बड़े-बड़े तीन चरणन्यास करता है, शाकपूणि के अनुसार पृथिवी-अन्तरिक्ष

---

६३. अनड्वान् प्राण उच्यते। अथर्व ११.४.१३
६४. प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः। प्रश्न १.८

और द्यौ में, तथा और्णवाभ के मत में उदयाकाश, मध्याकाश तथा पश्चिमाकाश में।[९५] यह प्रहरी के समान प्रातः पूर्व में तथा सायं पश्चिम में आकर स्थित होता है।

पिता-माता के लिए महिष और मृग पकाने वाला युवक

अर्भको न कुमारकोऽधि तिष्ठन्नवं रथम्।
स पक्षन्महिषं मृगं पित्रे मात्रे विभुक्रतुम्॥

ऋग् ८. ६९. १५ (अथर्व २०. ९२. १२)

एक प्राणी है, जो अल्प-शरीर कुमार के समान नवीन रथ पर आरूढ़ होता है। वह पिता-माता के लिए व्यापक कर्म वाले महिष (भैंसे) और मृग (हरिण) को पकाता है।

ऋचा इन्द्रदेवताक होने से यह प्राणी इन्द्र है। अधिदैवत दृष्टि से यह इन्द्र आदित्य है, जो ज्योतिर्मय नवीन रथ पर आरूढ़ होकर आकाश में अवतीर्ण होता है। पिता-माता द्यावापृथिवी अथवा जगत् के स्त्री-पुरुष हैं। भैंसे के समान कृष्णवर्ण होने से तथा हरिण के समान आकाश में दौड़ते फिरने से मेघ ही महिष एवं मृग है। महिषाकृति तथा मृगाकृति धारण करने से भी यह महिष तथा मृग कहला सकता है।[९६] यह विभुक्रतु है, क्योंकि ओषधि-वनस्पतियों के उत्पादन, प्राणप्रदान आदि विविध व्यापक कर्मों को करता है। इन्द्र द्वारा इस महिष तथा मृग को पकाने का अभिप्राय है मेघ को वर्षोन्मुख करना।[९७]

---

९५. इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। ऋग् १.२२.१७। त्रिधा निधत्ते पदं पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः। समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसीत्यौर्णवाभः। निरु. १२.१९

९६. सायण ने महिष का निघण्टु (३.३) के अनुसार महान् अर्थ लेकर महिष को मृग का विशेषण माना है।

९७. स इन्द्रः महिषं महान्तं मृगं मृगवदिनस्ततो धावन्तं सर्वैर्मृग्यं वा विभुक्रतुं बहुकर्माणं मेघं पक्षत् पचति, वृष्ट्यभिमुखं करोतीत्यर्थः—सायण।
His Mother and his Sire : Earth and Heaven. The Buffalo is the dark rain-cloud which Indra pierces with his lightning, or perhaps the demon Vala is intended.—Griffith.
इस पहेली से इन्द्र के लिए सौ महिषों (भैंसों) के पकाये जाने (ऋग् ६.१७.११) तथा इन्द्र द्वारा तीन सौ महिषों का मांस खाये जाने (ऋग् ५.२९.८) की भी व्याख्या हो जाती है।

अध्यात्मदृष्टि से इन्द्र आत्मा है, जो शरीर रूपी नवीन रथ पर अधिष्ठित होता है।[९८] महिष तमोगुण का तथा मृग रजोगुण का प्रतीक है।[९९] एवं महिष तमोमय मन तथा मृग रजोमय मन हुआ। आत्मा जगत् के माता-पिताओं के लाभार्थ उनके तमोमय तथा रजोमय मन को परिपक्व[१००] करके सत्त्वगुण-युक्त करता है। विविध संकल्पों तथा कर्मों वाला होने से मन विभुक्रतु है।[१०१]

सात दोग्धाओं से दुही जाने वाली गौ

दुहन्ति सप्तैकामुप द्वा पञ्च सृजतः।
तीर्थे सिन्धोरधि स्वरे॥ ऋग् ८. ७२.७

एक गौ है, जिसे सात दोग्धा दुहते हैं। उन सात में दो ऐसे हैं जो शेष पांच को दुहराने की प्रेरणा भी करते रहते हैं। वह दोहन सिन्धु के तीर्थ पर स्वर नामक स्थान में होता है।

यह गौ यज्ञाग्नि है। सात ऋत्विज् सात दोग्धा हैं। इनमें से अध्वर्यु तथा प्रतिप्रस्थाता शेष पांच ब्रह्मा, होता, उद्गाता, आग्नीध्र तथा प्रस्तोता को कार्य के लिए प्रेरणा भी करते हैं[१०२]। यह दोहन सिन्धु के तीर्थ पर होता है।

---

९८. द्रष्टव्य : ऋग् १०.१३५.३; कठ ३.३।

९९. पशु-पक्षियों के नामों द्वारा किसी प्रवृत्ति को सूचित करने की शैली वेद में अन्यत्र भी प्राप्त होती है। यथा—'उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्। ऋग् ७.१०४. २२। समिन्द्र गर्दभं मृण नुवन्तं पापयामुया। ऋग् १.२९.५

१००. तुलनीय : यो मा पाकेन मनसा चरन्तम्, ऋग् ७. १०४ ८। पाकेन पक्वेन शुद्धेन मनसा—सायण। वेद में परिपक्व होने का बहुत महत्त्व माना गया है। सज्जनों को पाकशंस (ऋग् ७.१०४.९) पाकस्थामा (ऋग् ८.३.२१) आदि नामों से स्मरण किया है, जो अपाक (अपरिपक्व) हैं, उन्हें शत्रु कहा है तथा उनसे रक्षा की प्रार्थना की है (ऋग् ८.२.३५)। देवों को परिपक्वों का पक्षपाती अथवा स्वयं परिपक्व कहा है (पाकत्रा स्थन देवाः, ऋग् ८.१८.१५। हे देवाः...... यूयं पाकत्रा पाकेषु विपक्वप्रज्ञेषु स्तोतृषु स्थन भवथ। यद्वा प्रथमार्थे त्रा प्रत्ययः। पाकत्रा पाकाः परिपक्वज्ञाना भवथ—सायण)।

१०१. द्रष्टव्य : यजु ३४.३

१०२. उक्त ऋत्विज् हमने सायण के अनुसार लिखे हैं, यद्यपि उसने उद्गाता के स्थान पर यजमान को लिया है, तथा उसकी व्याख्या भी कुछ भिन्न

सिन्धु यज्ञ है, यतः यह स्वर्गादि फल का स्यन्दन करता है[१०३]। उसका तीर्थ है यज्ञगृह। उस तीर्थ में भी स्वर वेदिस्थान है, जहां बैठकर ऋत्विज् गण स्वरण या मन्त्रोच्चारण करते हैं[१०४]।

अथवा, यह गौ अन्तरिक्षस्थ मेघमाला हो सकती है[१०५]। उसे दोहने वाले अर्थात् उससे वर्षा कराने वाले सात दोग्धा होंगे सूर्य, विद्युत्, पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, आकाश। इनमें से प्रथम दो शेष पांच को प्रेरणा करते हैं, क्योंकि ये ही पृथिव्यादि को वर्षा के अनुकूल बनाते हैं। यह दोहन सिन्धु के तीर्थ अर्थात् आकाश[१०६] के तट पर स्वरपूर्वक या विद्युद्गर्जनरूपी शब्द के साथ होता है।

अध्यात्म में शरीरस्थ प्राण-शक्ति गौ है[१०७]। मन, बुद्धि तथा पंच ज्ञानेन्द्रियां ये सात दोग्धा उससे दूध दुह रहे हैं, अपने-अपने प्रकार की शक्ति पा रहे हैं।[१०८] इनमें से प्रथम दो मन तथा बुद्धि शेष पांचों को दोहने की प्रेरणा भी करते हैं। यह दोहन सिन्धुओं के तीर्थ अर्थात् स्नायुजालों के केन्द्र मस्तिष्क में होता है, जिसका नाम स्वर है।[१०९]

अथवा शरीर में वाक्शक्ति गौ है।[११०] सातों इन्द्रियां उसे दुहती हैं, अर्थात् अपने द्वारा आनीत ज्ञान को उससे कहलाती हैं। मन जो विचार करता है, वाणी ही उसे प्रकट करती है। बुद्धि जो बोध कराती है वाणी ही उसे प्रकट करती है। इसी प्रकार चक्षु, श्रोत्र, नासिका, जिह्वा, त्वचा जो-जो ज्ञान मस्तिष्क में लाती हैं, वाणी ही उन्हें प्रकट करती है। इनमें मन और बुद्धि शेष पांच को प्रेरित करने वाले भी हैं। यह दोहन अर्थात् वाणी द्वारा ज्ञान का

है। ऋग् २. १. २. में सात ऋत्विज् निम्न हैं—होता, पोता, नेष्टा, अग्नीध्, प्रशास्ता, अध्वर्यु और ब्रह्मा।

१०३. सिन्धुः स्यन्दनात्। निरु. ९. २४

१०४. स्वृ शब्दोपतापयोः।

१०५. तुलनीयः उपह्वये सुदुघां धेनुमेतां सुहस्तो गोधुगुत दोहदेनाम्, ऋग् १.१६४.२६। वृष्ट्या प्रीणयित्रीं मेघलक्षणां धेनुम्—सायण

१०६. सिन्धु=समुद्र=आकाश। नि. १, ३

१०७. प्राणो हि गौः। शत. ४. ३. ४. २५

१०८. तुलनीय: छा.उ. ५. १ प्राण के श्रेष्ठ होने तथा सब इन्द्रियों के प्राण से ही शक्ति पाने की कथा।

१०९. सु ऋ गतौ। जहां से तथा जिसकी ओर शोभन प्रकार से स्नायु (Nerves) गये हुए हैं।

११०. वाग् वै धेनुः। गो. पू. २.२१; ता. ब्रा. १८. ९. २१

प्रकाशन सिन्धु के तीर्थ पर 'स्वर' में होता है। सिन्धु शब्द है,[111] उसका तीर्थ-स्थान या उत्पत्तिस्थल स्वर अर्थात् स्वरसंस्थान है, जिसमें कण्ठबिल से लेकर कंठपिटक (Larynx), काकल (Glottis), स्वरतन्त्री (Vocal chord), अभिकाकल (Epiglottis), नासिकाविवर, मुखविवर, कंठ, तालु, जिह्वा आदि अंग आ जाते हैं। जब आत्मा बुद्धि के साथ मिल मन को शब्दोच्चारण का आदेश देता है, तब मन से प्रेरित मारुत उरस् से उठता है, और कण्ठबिल से होकर उपर्युक्त अंगों की सहायता से शब्द को उच्चरित करता है[112]।

वृक्ष पर बैठी हुई गौ

वृक्षे वृक्षे नियतामीमयद् गौस्ततो वयः प्र पतान् पूरुषादः।
अथेदं विश्वं भुवनं भयात इन्द्राय सुन्वद् ऋषये च शिक्षत्॥

ऋग् १०.२७.२२

वृक्ष-वृक्ष पर एक-एक गौ बैठी हुई रंभा रही है। उसमें से बहुत से पक्षी निकल रहे हैं, जो पुरुषों को खा जाने वाले हैं। यह देख कर सारा भुवन भय-भीत हो उठा है, और वह इन्द्र का पूजन तथा ऋषियों को दान करने लगा है।

यह वृक्ष, गौ और पुरुषभक्षी पक्षी क्या हैं? अधिभूत में वृक्ष धनुष है, यतः वह बाणों से शत्रुओं का व्रश्चन करता है। गौ उस पर आरोपित प्रत्यंचा है। उस प्रत्यंचा से निकलने वाले पुरुषभक्षी पक्षी बाण हैं। यह युद्ध का दृश्य है। सब योद्धाओं के पास धनुष हैं, सब पर प्रत्यंचा चढ़ी है, सबकी प्रत्यंचाओं से संहारक बाण निकल रहे हैं। इस भयावह दृश्य को देखकर सब जन भयभीत हो उठते हैं[113]।

अधिदैवत पक्ष में अन्तरिक्ष वृक्ष है, क्योंकि इसमें मेघ का व्रश्चन किया जाता है। उस पर बैठी हुई रंभाने वाली गौ माध्यमिक वाणी है। उससे ओले

---

१११. महाभाष्य में पतञ्जलि ने सिन्धवः का अर्थ शब्दविभक्तियां किया है। आह्निक १, व्याकरणाध्ययनप्रयोजन-प्रकरण।

११२. द्रष्टव्य : पा. शि. श्लोक ७

११३. ज्यापि गौरुच्यते। गव्या चेत् ताद्धितम्, अथ चेन्न गव्या गमयति इषू-निति। 'वृक्षे वृक्षे नियतामीमयद् गौः ततो वयः प्रपतान् पूरुषादः' वृक्षे वृक्षे धनुषि धनुषि। वृक्षो व्रश्चनात्, वृत्वा क्षां तिष्ठतीति वा। ...... विरिति शकुनिनाम वेतेर्गतिकर्मणः, अथापि इषुनामेह भवत्येतस्मा-देव। निरु. २.६

रूपी पुरुषभक्षी पक्षी या वाण भूमि पर गिरते हैं। घोर गर्जन-तर्जन-वर्षण से सब भयभीत हो जाते हैं[११४]

अध्यात्म में शरीर वृक्ष है[११५], क्योंकि इसका व्रश्चन होता है, या यह मरण-धर्मा है। उसमें अवस्थित गौ वाणी है। उस वाणी से निकलने वाले पक्षी शब्द हैं, जो पुरुषभक्षी अर्थात् नास्तिक पुरुषों को परास्त करने वाले हैं।

उल्टी लीला

> इदं सु मे जरितरा चिकिद्धि प्रतीपं शापं नद्यो वहन्ति।
> लोपाशः सिंहं प्रत्यञ्चमत्साः क्रोष्टा वराहं निरतक्त कक्षात्॥
>
> ऋग् १०.२८.४

हे भाई स्तोता, इस मेरी पहेली को ध्यान से बूझो। नदियां विपरीत दिशा में पानी वहा रही हैं। मृग सिंह को पकड़ने के लिए दौड़ रहा है। गीदड़ शूकर को गुल्म से बाहर खदेड़ रहा है[११६]।

विपरीत दिशा में पानी बहाने वाली नदियां शरीर की रक्त-नाड़ियां हैं। अन्य नदियों में तो ऊपर से नीचे की ओर पानी बहता है, पर इन नाड़ियों में नीचे से ऊपर की ओर भी रक्त प्रवाहित होता है[११७]। फिर, मृग सिंह को पकड़ने के लिए दौड़ता है। सिंह अग्नि है,[११८] मृग वनस्पति या इन्धन है। यज्ञ में इन्धन अग्नि की ओर जाता ही है। तीसरे, गीदड़ शूकर को गुल्म से बाहर खदेड़ता है। गीदड़ या क्रोष्टा मध्यम-स्थानीय इन्द्र अथवा वैद्युताग्नि है, क्योंकि वह आक्रोश या गर्जन करता है। वराह मेघ है[११९]। इन्द्र उसे आकाशरूपी गुल्म से खदेड़ कर नीचे बरसा देता है[१२०]।

---

११४. तुलनीय. ऋग् १.१६४.४१; ५.८३.२

११५. वृक्षं शरीरम्, निरु. १४.३०; वृश्च्यते इति वृक्षो देहः, ऋग् १.१६१.२० का सायणभाष्य।

११६. शापम् उदकम्। लुप्यमानं तृणमश्नातीति लोपाशो मृगः। प्रत्यञ्चम् आत्मानं प्रति गच्छन्तं सिंहम् अत्साः अत्सारीत् आभिमुख्येन गच्छति। तथा क्रोष्टा शृगालः वराहं बलवन्तमपि शूकरं कक्षात् अतिगहनदेशात् निरतक्त निर्गमयति। सायण

११७. तुलनीय : को अस्मिन्नापो व्यदधात्......ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः। अथर्व १०.२.११

११८. द्रष्टव्य : ऋग् १.९५.५

११९. वराहो मेघो भवति वराहारः। निरु. ५.४

१२०. तुलनीय : विध्यद् वराहं तिरो अद्रिमस्ता। ऋग् १.६१.७

युवक को वृद्ध ने निगल लिया

विधुं दद्राणं समने बहूनां,[121] युवानं सन्तं पलितो जगार ।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वा अद्या ममार स ह्यः समान ॥

ऋग् १०.५५.५, (साम. पू. ३.१०.३; अथर्व ६.१०.६)

प्रकम्पनशील तथा युद्ध में बहुतों का दमन करने वाले एक युवक को श्वेत बालों वाले वृद्ध ने निगल लिया । देव का महत्त्व तथा चमत्कार देखो, जो कल जीवित था, वह आज मरा पड़ा है ।

निरुक्त में इस पहेली की संक्षिप्त अधिदैवत तथा अध्यात्म व्याख्या दी गयी है[122] । अधिदैवत पक्ष में युवक विधु चन्द्रमा है, पके बालों वाला वृद्ध सूर्य है । इन दोनों का मानों युद्ध हो रहा है । रात्रि में चन्द्रमा प्रबल हो जाता है, और आकाश में विजयोल्लास के साथ चमकता है, तथा दिन में सूर्य प्रबलता प्राप्त कर लेता है, और विजयी हो अपनी रश्मियां चारों ओर विस्तीर्ण कर देता है । यह मन्त्र प्रातः सूर्य के गगन में कुछ ऊंचा चढ़ जाने के पश्चात् बोला गया है, जब वह लालिमा को छोड़ श्वेत हो जाता है । सूर्य अपनी अनुपम आभा के साथ गगन में उदित हो गया है, और एक ओर चन्द्रमा निस्तेज मृत सा पड़ा है । उसे देख द्रष्टा कहता है कि इस चमत्कार को देखो, पके बालों वाले एक वृद्ध ने युवक को निगल लिया ।

अध्यात्मपक्ष में युवक यह शरीर है, जो संघर्षों में बहुतों का दमन करने वाला है । वृद्ध आत्मा है, जो अजर-अमर एवं सनातन है । दिन में जागते हुए शरीर प्रबल रहता है, तथा इसी की महिमा दृष्टिगोचर होती है । परन्तु रात्रि आने पर यह निद्रा के वशीभूत हो मृततुल्य होकर पड़ जाता है, मानों आत्मा ने उसे निगल लिया । इस समय शरीर की इन्द्रियां आदि बाह्य शक्तियां आत्मा में केन्द्रीभूत हो जाती हैं, तथा आत्मा की प्रबलता प्रतीत होती है । कैसा चमत्कार है । यह हाड़-मांस का पुतला शरीर जादूगर के समान कैसे अद्भुत वीरता के कार्य कर रहा था, वही इस समय मरा-सा पड़ा है ।

सायण के अनुसार पुरुष युवक है, काल वृद्ध है । काल सदा से चला आ रहा है, सनातन है । उसकी तुलना में पुरुष आज ही उत्पन्न हुआ है, एवं युवक

---

१२१. अथर्ववेद में 'समने बहूनां' के स्थान पर 'सलिलस्य पृष्ठे' पाठ है ।

१२२. विधुं विधमनशीलं, दद्राणं दमनशीलं युवानं चन्द्रमसं पलित आदित्यो गिरति, सद्यो म्रियते स दिवा समुदितेत्यधिदैवतम् । अथाध्यात्मम्, विधुं विधमनशीलं दद्राणं दमनशीलं युवानं महान्तं पलित आत्मा गिरति रात्रौ । निरु. १४.१८

है। पुरुष इतना शक्तिशाली है कि संग्राम में अनेकों शत्रुओं का दमन कर सकता है। पर काल के संमुख उसका वश नहीं चलता। कल जो जीवित था, वह आज मृत हुआ पड़ा है।

इस पहेली की व्याख्या चन्द्रग्रहणपरक भी हो सकती है। युवक, जिसे मन्त्र में विधु शब्द से स्मरण किया है, चन्द्र है। राहु (विधुन्तुद) वृद्ध है, जो उसे निगल जाता है। चन्द्रमा सूर्य से प्रकाश पाता है। जब वह इस दशा में जाता है कि सूर्य और चन्द्रमा के मध्य में पृथिवी आ कर सूर्य से चन्द्रमा पर आने वाले प्रकाश को रोक लेती है, तब वह प्रकाशित नहीं होता, एवं चन्द्रग्रहण हो जाता है। वैज्ञानिक परिभाषानुसार वह कोणविशेष ही राहु है, जिसमें पृथिवी मध्य में आकर सूर्य से चन्द्रमा पर आने वाले प्रकाश को निरुद्ध करती है[१२३]।

चार चोटियों वाली युवति

> चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा घृतप्रतीका वयुनानि वस्ते।
> तस्यां सुपर्णा वृषणा निषेदतुः यत्र देवा दधिरे भागधेयम्॥
>
> ऋग् १०. ११४.३

एक युवति है, उसकी चार चोटियां हैं। वह सुरूपवती है, मुख पर घृत लगाये है, वयुन की साड़ी पहने है। उस युवति के सिर पर वर्षा करने वाले दो पक्षी स्थित हैं। उसी के द्वारा देव अपना-अपना भाग प्राप्त करते हैं।

सायण के अनुसार यह युवति यज्ञवेदि है। चतुष्कोण होने से वह चार चोटियों वाली है, अलंकृत होने से सुरूपवती है, घृतहवि से युक्त होने के कारण घृतप्रतीका है। वयुन अर्थात् वेदमन्त्र या यज्ञविधियां ही उसकी साड़ी हैं। उस वेदि पर स्थित दो पक्षी हैं याज्ञिक पति-पत्नी या यजमान और ब्रह्मा, जो दोनों ही हवि की वर्षा करते रहते हैं। उस वेदि द्वारा ही अग्न्यादि देव अपने-अपने हविर्भाग को पाते हैं।

इसी भाष्यकार की दूसरी व्याख्या को लें तो यह युवति औपनिषदी वाक् है। नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ही उसकी चार चोटियां हैं। देदीप्यमान वर्णावयवों वाली होने से वह घृतप्रतीका है। वयुन अर्थात् ब्रह्मज्ञान उसकी साड़ी है। उसमें स्थित दो पक्षी जीवात्मा तथा परमात्मा हैं, जिनका वह वर्णन करती है।

---

१२३. वेद में राहु के लिए द्रष्टव्यः ऋग् ५.४०; अथर्व १९. ९. १०

समुद्रशायी सुपर्ण

एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश, स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे ।
तं पाकेन मनसापश्यमन्तितस्तं माता रेढि स उ रेढि मातरम् ॥

ऋग् १०. ११४.४

एक सुपर्ण (सुन्दर पंखों वाला पक्षी या गरुड़) है, वह समुद्र के अन्दर प्रविष्ट है। वह इस समस्त भुवन को देख रहा या प्रकाशित कर रहा है। उसके विषय में निकट हो परिपक्व मन से मैंने यह देखा है कि उसे माता चाट रही है और वह माता को चाट रहा है।

यह मन्त्र निरुक्त में मध्यम-स्थानीय देव (वायु) परक व्याख्यात है[124]। सायण ने इसकी वायु, प्राण तथा परमात्मा परक तीन व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं। इस पहेली के निम्न समाधान हो सकते हैं।

१. सुपर्ण मध्यमस्थानीय देव वायु है, यतः वह शोभन प्रकार से उड़ता या संचार करता है। वह अन्तरिक्षरूपी समुद्र में प्रविष्ट है तथा सब भूतजात पर अनुग्रह-दृष्टि रखता है। माता माध्यमिक वाणी है। दोनों एक दूसरे को चाट रहे हैं अर्थात् वृष्टिकर्म में परस्पर निर्भर हैं।

२. सुपर्ण प्राण है। वह शरीर रूप समुद्र में प्रविष्ट है। सारे शरीर पर दृष्टि रख उसे संचालित करता है। माता वाणी है। वह प्राण को चाटती है, तथा प्राण उसे चाटता है। स्वप्नकाल में प्राण वाणी को चाट लेता है, अतः मनुष्य बोलता नहीं। अध्ययन-काल में वाणी प्राण को चाट लेती है, अतः वाग्व्यापार स्पष्ट श्रुतिगोचर होता है[125]।

३. सुपर्ण परमात्मा[126] है। विशाल ब्रह्माण्ड समुद्र है, जिसमें वह प्रविष्ट है। वहां प्रविष्ट हुआ वह समस्त लोकलोकान्तरों को देख रहा है। माता जगत्प्रपंच की उपादान-कारणभूत प्रकृति या परमाणुसंहति है। दोनों एक-दूसरे को चाटते अर्थात् सृष्ट्युत्पत्ति के लिए परस्पर अपेक्षा करते हैं।

४. यह मन्त्र यज्ञ-प्रकरण में है। अतः अग्नि भी सुपर्ण हो सकती है। यज्ञ में एक वेदि सुपर्णाकृति होती भी है। वह ज्वालारूपी पंखों से उड्डयन

---

१२४. द्रष्टव्यः निरु. १०.४४

१२५. तं प्राणं माता वाक् रेढि, वाक् प्राणेऽन्तर्भवतीत्यर्थः। स्वापे हि वाग्व्यापारो न दृश्यते, प्राणव्यापारस्तु दृश्यते। अध्ययनकाले वाग्व्यापारो दृष्टः। स ह प्राणो हि मातरं वाचं रेढि—सायण। ऋक् प्रा. १.१ भी द्रष्टव्य : वाक्प्राणयोर्यश्च होमः परस्परम्।

१२६. सुपर्णः पक्षवान् निराधारसंचार्येकः प्राणवायुः परमात्मा वा। सायण

करता है। वह यज्ञरूप समुद्र में प्रविष्ट हुआ है। माता यज्ञवेदि है। अग्नि तथा यज्ञवेदि दोनों परस्पर चाट रहे हैं।

५. सुपर्ण आदित्य है[१२७]। वह किरणरूप पंखों से आकाश में उड़ रहा है। द्युलोकरूपी समुद्र में स्थित है। सौर जगत् के सब ग्रहोपग्रहों पर अनुग्रह-दृष्टि रखता है। माता उषा है। वह उषा को चाट रहा है, तथा उषा उसे चाट रही है।

६. चन्द्रमा[१२८] सुपर्ण है। वह अन्तरिक्षरूपी समुद्र में प्रविष्ट है। सब भुवन को देखता या प्रकाशित करता है। माता पृथिवी है। वह चन्द्रमा को चाटती है अर्थात् अपने ओषधि-वनस्पति रूप मुखों से चन्द्रिकामृत का आस्वादन करती है। चन्द्रमा उसे चाटता है, अर्थात् उसके निकट रहता हुआ उसकी परिक्रमा करता है।

७. संवत्सर भी[१२९] सुपर्ण है। वह इस भूगोल रूप समुद्र में प्रविष्ट है। उत्त-रायण-दक्षिणायन रूप दो पक्षों से उड़ रहा है। माता पृथिवी है, यतः उसके सूर्य की परिक्रमा करने से ही संवत्सर का निर्माण होता है। पृथिवी तथा संवत्सर दोनों एक-दूसरे को चाट रहे हैं, अर्थात् परस्पर उपकारक हैं।

केशी भगवान् का विष-पान

वायुरस्मा उपामन्थत् पिनष्टि स्मा कुनन्नमा।
केशी विषस्य पात्रेण यद्रुद्रेणापिबत् सह॥ ऋग् १०.१३६.७

जटाधारी केशी भगवान् हैं, वे रुद्र के साथ प्याले से (पात्रेण) विष-पान करते हैं। उस विष को इनके लिए कुनंनमा नाम की अप्सरा ने पीसा है और वायु ने मथा है।

यह केशी सूर्य है, क्योंकि उसके रश्मि रूपी केश होते हैं, अथवा क्योंकि वह सबको प्रकाशित करता है[१३०]। रुद्र अन्तरिक्षसंचारी पवन है[१३१]। विष वर्षा-

---

१२७. द्रष्टव्य : टिप्पणी ६४

१२८. चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि। ऋग् १. १०५. १

१२९. अथ ह वा एष महासुपर्ण एव यद् संवत्सरः। तस्य यान् पुरस्ताद् विषुवतः षण्मासानुपयन्ति सोऽन्यतरः पक्षः, अथ यान् षडुपरिष्टाद् सोऽन्यतरः। शत. १२. २. ३.७

१३०. केशी, केशा रश्मयः तैंस्तद्वान् भवति, काशनाद् वा। निरु.१२.२५

१३१. रुद्र निरुक्त में अन्तरिक्षस्थानीय देवों में पठित होने से अन्तरिक्षसंचारी पवन है। निरु. १०.६

जल है[132]। भूमिष्ठ वर्षा-जल को सूर्य आकाशवर्ती पवनरूपी साथी के रश्मिजाल रूपी पात्र[133] से पान करता है। पर यह भूमिष्ठ वर्षा-जल आया कहां से? 'कुनंनमा' अप्सरा ने इसे आकाश रूपी शिला पर पीस-पीस कर नीचे गिराया। कुनंनमा आकाशीय विद्युत् है, क्योंकि यह कु अर्थात् भूमि को जल बरसा कर नीचे बैठा देती है[134]। पिसी पिट्ठी को मथा भी जाता है। यह मथने का कार्य भूमिष्ठ 'वायु' ने किया है[135]।

अध्यात्मपक्ष में केशी आत्मा है, जिसके ज्ञानरूपी केश हैं, रुद्र प्राण है। आत्मा प्राण के साथ मिलकर ब्रह्मानन्द रूपी निर्मल रस (विष) का पान करता है। आत्मा की दिव्य शक्ति ही उसका पात्र या पीने का साधन है। कुनन्नमा दिव्य प्रज्ञा तथा वायु गतिशील दिव्य मन है, जिसमें वह रस पीसा जाकर तथा मथा जा कर तैयार होता है।

यजुर्वेद की प्रहेलिकाएं

ऋग्वेद की प्रहेलिकाओं के निदर्शन-रूप में अभी २८ प्रहेलिकाओं पर विचार किया गया है। अब यजुर्वेद की प्रहेलिकाओं को लेते हैं। ऊपर उद्धृत ऋग्वेद की प्रहेलिकाओं में से कुछ ऋग्वेद के साथ-साथ यजुर्वेद में भी आती हैं, उसका संकेत यथास्थान कर दिया गया है। अब वाजसनेयि यजुर्वेद की दो ऐसी प्रहेलिकाएं प्रस्तुत की जाती हैं, जो केवल इसी वेद की सम्पत्ति हैं तथा जिसका प्रहेलिकात्मक रूप भी विशेष चारु एवं आकर्षक है।

सरस्वती में गिरने वाली पांच नदियां

पञ्च नद्यः सरस्वतीमपि यन्ति सस्रोतसः।
सरस्वती तु पंचधा सो देशेऽभवत् सरित्॥ यजु ३४.११

पांच नदियां हैं, जिनका स्रोत या उद्गम-स्थान एक ही है। वे सरस्वती में जाकर गिरती हैं। उस संगम-स्थल पर वह सरस्वती पांच प्रकार की हो जाती है, अर्थात् पांचों धाराएं पृथक्-पृथक् दिखायी देती हैं।

---

१३२. विषमित्युदकनाम विष्णातेः विपूर्वस्य वा सचतेः निरु. १२.२५

१३३. पात्रेण पानसाधनेन रश्मिजालेन। सायण.

१३४. तुलनीय : यस्य व्रते पृथिवी नन्नमीति। ऋग् ५.८३.५। कुनंनमा कुत्सितमपि भृशं नमयित्री स्वयं नमयितुमशक्या स्वनन्त्रा माध्यमिका वाक् पिनष्टि स्म यथाधस्तात् स्रवति तथा चूर्णीकरोति। सायण.

१३५. वायुः उपामन्थत् भूगतं सर्वं रसमुपमथ्नाति, यद्वा यदा अपिबत् पीतवान् भवति तदा सूर्यमण्डले घनीभूतमस्य तदुदकं वायुरुपमथ्नाति, मन्थनेन वैद्युताग्निनालोडयति। सायण.

भाष्यकारों ने भौगोलिक प्रसिद्ध सरस्वती नदी में किन्हीं पांच नदियों का संगम न होते देख संगति के लिए सरस्वती का अर्थ सिन्धु नदी कर लिया है, और उसमें रावी, चनाव, सतलुज, जैहलम, व्यास इन पांच नदियों के संगम का वर्णन इस मन्त्र में है, ऐसी कल्पना कर ली है[१३६]। परन्तु वस्तुतः यह एक पहेली है और इसके द्वारा वेद किसी अन्य ही रहस्यार्थ को प्रकट कर रहा है। पांच नदियां हैं पांचों ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त होने वाली पांच ज्ञानधाराएं। इन सबका उद्गम-स्थान एक ही है और वह मन है, क्योंकि विना मन रूपी माध्यम के कोई भी ज्ञानेन्द्रिय ज्ञानधारा को नहीं बहा सकती। ये पांचों ज्ञान-धाराएं सरस्वती में जा गिरती हैं। यह सरस्वती क्या है? सरस्वती वाणी है[१३७]। विविध ज्ञानेन्द्रियों से जो ज्ञानधाराएं निकलती हैं, उनका प्रतिपादन वाणी द्वारा ही होता है। इसी को इस रूप में कहा गया है कि उस संगमस्थल पर वह सरस्वती पांच प्रकार की हो जाती है, यतः प्रत्येक इन्द्रिय से प्राप्त ज्ञान को वाणी पृथक्-पृथक् प्रतिपादित करती है।[१३८]

शरीर में निवास करने वाले सात ऋषि

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ॥

यजु ३४.५५

एक शरीर है, जिसमें सात ऋषि अवस्थित हैं। वे सातों बिना प्रमाद के उसकी रक्षा में तत्पर रहते हैं। जब वह शरीर सो जाता है, तब शरीर में व्याप्त रहने वाले वे ऋषि अन्य लोक में चले जाते हैं। किन्तु उस शयनावस्था में भी दो देव जागते रहते हैं, जिन्हें निद्रा नहीं आती।

निरुक्तकार ने इस पहेली की अधिदैवत तथा अध्यात्म एवं उवट तथा महीधर ने केवल अध्यात्म परक व्याख्या की है।

---

१३६. याः दृषद्वत्याद्याः पंच नद्यः। महीधर
Sarasvati : here apparently, meaning the Indus-Griffith.

१३७. सरस्वती = वाक्। नि.१.११

१३८. पंच पंच ज्ञानेन्द्रियवृत्तयः नद्यः नदीवत् प्रवाहरूपाः, सरस्वतीं प्रशस्त-विज्ञानवतीं वाचम् अपियन्ति प्राप्नुवन्ति, सस्रोततः समानं मनोरूपं स्रोतः प्रवाहो यासां ताः। सरस्वती तु पंचधा पंचज्ञानेन्द्रियशब्दादिविषय-प्रतिपादनेन पंचप्रकारा। दयानन्द.

अधिदैवत में शरीर संवत्सर है,[१३९] उसमें निवास करने वाले सप्त ऋषि सूर्यरश्मियां हैं। वे सदा ही संवत्सर की रक्षा करती रहती हैं। इस संवत्सर में ३६५ अहोरात्र होते हैं, जिनमें प्रति अहोरात्र यह रात्रि में १२ घंटे सोता है तथा दिन में १२ घंटे जागता है। जब यह सोने लगता है, अर्थात् जब सूर्यास्त होता है, तब भूमण्डल पर विस्तीर्ण किरणें सूर्य में लीन हो जाती हैं। पर उस स्वप्नावस्था में भी वायु तथा अग्नि[१४०] ये दो देव जागृत रहते हैं।

अध्यात्म में शरीर मानव-देह है। इसमें अवस्थित सात ऋषि हैं पंच ज्ञानेन्द्रियां, छठा मन और सातवीं बुद्धि।[१४१] ये सातों ज्ञानप्रदान द्वारा इस शरीर के रक्षक होते हैं, क्योंकि यदि शरीर इनके द्वारा दर्शन, श्रवण आदि व्यापार न करे तो संकटग्रस्त हो जाये। जब शरीर सो जाता है, तब ये कार्य से उपरत हो आत्मलोक में चले जाते हैं। परन्तु उस समय भी प्राणापानरूप दो देव जागते रहते हैं।[१४२]

अधियज्ञ व्याख्या में शरीर से यज्ञ अभिप्रेत हो सकता है। उसमें स्थित सात ऋषि सात ऋत्विज होंगे। ये अपना-अपना कार्य करते हुए यज्ञ को रक्षित करते हैं। यज्ञ के सो जाने अर्थात् स्थगित या उपरत हो जाने पर ये स्वलोक या स्वगृह को चले जाते हैं। परन्तु उस समय भी दो देव यजमान तथा यजमान-पत्नी अथवा यजमान और गार्हपत्याग्नि जागते रहते हैं।

नक्षत्र-परक व्याख्या को लें तो उत्तराकाश रूपी शरीर में सप्तर्षि तारे रूपी सात ऋषि अवस्थित हैं, पुच्छ की ओर से क्रमशः जिनके नाम मरीचि, वसिष्ठ, अंगिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह तथा क्रतु हैं। ये ध्रुव तारे के साथ सम्बन्ध रूपी अपने यज्ञ की रक्षा कर रहे हैं। जब इनका सोने का समय

---

१३९. निरुक्त में अधिदैवत व्याख्या में आदित्य तथा संवत्सर दोनों को मिला दिया है। प्रथम 'शरीरे आदित्ये' कहा है, पुनः 'सदं संवत्सरम्,' जब कि अध्यात्म व्याख्या में ऐसा नहीं है। द्रष्टव्य : निरु. १२.३५

१४०. निरुक्त में 'वाय्वादित्यौ' पाठ है। निरु. १२.३५

१४१. षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी, निरु. १२.३५। सप्त ऋषयः प्राणाः त्वक्-चक्षुःश्रवणरसनाघ्राणमनोबुद्धिलक्षणाः—महीधर।

१४२. निरुक्तकार ने दो देव प्राज्ञ आत्मा तथा तैजस आत्मा माने हैं, किन्तु उवट तथा महीधर ने प्राणापान। तुलनीय प्रश्नः ४.३ प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति।

होता है तब, अर्थात् दिन में, ये अदृश्य हो जाते हैं।[१४३] परन्तु उस समय भी सूर्य एवं वायु ये दो देव जागरूक रहते हैं।

सामवेद की प्रहेलिकाएं

सामवेद में १८७५ मन्त्र हैं, जिन में ऐसे मन्त्र जो ऋग्वेद में नहीं आते केवल १०४ हैं।[१४४] इन १०४ मन्त्रों में दो-तीन मन्त्र ही ऐसे हैं जो प्रहेलिका का रूप धारण कर सकते हैं। जो मन्त्र ऋग्वेद के समान हैं उनमें भी स्पष्ट प्रहेलिकाएं दो-तीन से अधिक नहीं हैं, जिनमें से एक प्रहेलिका ऋग्वेद की पहेलियों में हम व्याख्यात कर चुके हैं। सामवेद के नूतन मन्त्रों में से एक प्रहेलिका नीचे दी जा रही है।

दो ऊधसों वाली गौएं

सहर्षभाः सहवत्सा उदेत विश्वा रूपाणि बिभतीर्द्व्यूध्नीः।
उरुः पृथुरयं वो अस्तु लोक इमा आपः सुप्रपाणा इह स्त ॥
साम. पू. ५. ४. १२

हे गौओ, सब रूपों को धारण करने वाली, दो ऊधसों वाली तुम बैल सहित तथा बछड़ों सहित आओ। विशाल तथा विस्तीर्ण यह लोक तुम्हारे निवास के लिए होवे। ये जल हैं, इनका सुचारु रूप से पान करती रहो।

सायण ने यहां गौएं पशु रूप ही मानी हैं। दो ऊधस् होने का समाधान इस प्रकार किया है कि वे प्रातः तथा सायं दोनों समय दूध देती हैं, अतः दो ऊधस् वाली हुईं।[१४५] इस पहेली की निम्न व्याख्याएं भी हो सकती हैं।

१. उषाएं गौएं हैं।[१४६] सविता (उदय से पूर्व क्षितिज के नीचे वर्तमान आदित्य) ऋषभ हैं[१४७]। उदित सूर्य वत्स है, अथवा यज्ञाग्नि वत्स है, क्योंकि उषा-काल में यज्ञाग्नि प्रदीप्त होती है।[१४८] यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से ये रक्तवर्ण

---

१४३. अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृश्रे कुह चिद् दिवे युः।
ऋग् १. २४. १०

१४४. द्रष्टव्यः सामवेद संहिता, सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, संवत् १९९६ पृ. २२०।

१४५. सायंप्रातःकाले द्विविधानि ऊधांसि यासां ताः द्व्यूध्नीः। सायण

१४६. एता उ त्या उषसः केतुमक्रत— प्रति गावोऽरुषीर्यन्ति मातरः।
ऋग् १. ९२. १

१४७. ऋग् ७. ७६. १ ; निरु. १६. १२, १३

१४८. (उषसः) अजीजनन्त्सूर्यं यज्ञमग्निम्। ऋग् ७. ७८. ३

दिखाई देती हैं, तो भी क्योंकि इनकी किरणों में सब रंग होते हैं, अतः ये विश्वरूपा हैं। पूर्व दिशा एवं आकाश इनके दो ऊधस् हैं, जहां से ये प्रकाशरूपी दूध देती हैं। स्तोता भूलोक में इनका आह्वान कर रहा है तथा जलपान का निमन्त्रण दे रहा है। हविर्भूत यज्ञान्न या यज्ञिय सलिल ही जल (आपः) हैं।[१४९]

२. सूर्यरश्मियां गौएं हैं, सूर्य ऋषभ है।[१५०] ग्रहोपग्रह वत्स हैं, जो सूर्य-रश्मियों के प्रकाश-दुग्ध का पान करते हैं। सतरंगी होने के कारण रश्मियां विश्वरूपा हैं। इनके दो ऊधस् हैं, एक द्युलोक दूसरा अन्तरिक्षलोक। द्युलोक रूपी ऊधस् से ये प्रकाश रूपी दूध देती हैं तथा अन्तरिक्षरूपी ऊधस् से वर्षा-जलरूपी दूध। स्तोता इन्हें भूलोक में जलपान करने का निमन्त्रण दे रहा है। उसका निमन्त्रण स्वीकार कर सचमुच ये जलपान करती भी हैं।

३. दिशाएं गौएं हैं, सूर्य ऋषभ है, चन्द्रमा वत्स है।[१५१] वे दिशाएं नाना रंगों वाली पुष्पित वनस्पति आदि से युक्त होने के कारण विश्वरूपा हैं। मेघ तथा पर्वत दो ऊधस् हैं, जहां से वर्षाजल एवं नदीप्रवाह आते हैं। ये दिशा-रूपी गौएं जलपान भी करती हैं, क्योंकि वाष्पीभूत जल इन में विद्यमान रहता है।

४. गौएं वेदवाणियां हैं, परमात्मा या प्राण ऋषभ है, मन वत्स है।[१५२] ऋग् और यजु अथवा ज्ञानकाण्ड एवं कर्मकाण्ड दो ऊधस् हैं। गर्भित रहस्यार्थ इन वाणियों का दूध है। इनका प्रचार करना ही इन्हें जलपान द्वारा प्रवृद्ध करना है।

अथर्ववेद की प्रहेलिकाएं

अब अथर्ववेद की कुछ पहेलियों पर दृष्टिपात किया जाएगा। ऊपर उद्धृत ऋग्वेद की प्रहेलिकाओं में से कुछ अथर्ववेद में भी आती हैं। यहां अथर्ववेद की जो अपनी नूतन पहेलियां हैं, जो अन्य वेदों में नहीं हैं, उनमें से कुछ प्रस्तुत की जा रही हैं।

---

१४९. अन्नं वा आपः, शत. २ १. १ ३। प्रातःसवनरूपा नु आपः, कौ. ब्रा.११ ३

१५०. सर्वेऽपि रश्मयो गाव उच्यन्ते. निरु. २. ७। स एव सप्तरश्मिर्वृषभः। जै० उ० १. ८८. २

१५१. दिशो धेनवस्तासां चन्द्रो वत्सः। अथर्व ४. ३९. ८

१५२. वाचं धेनुमुपासीत...तस्याः प्राण ऋषभो मनो वत्सः। शत० १४. ८ ९. १

दस सिरों वाला ब्राह्मण

ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः ।
स सोमं प्रथमः पपौ स चकारारसं विषम् ।। अथर्व ४. ६. १

एक श्रेष्ठ ब्राह्मण उत्पन्न हुआ, जिसके दस सिर और दस मुख थे । उसने सोम का पान किया तथा विष को निष्प्रभाव कर दिया ।

ब्रह्म की सन्तान होने से यह ब्राह्मण सूर्य है । चार दिशा, चार उपदिशा, ऊर्ध्वा तथा ध्रुवा ये दस दिशाएं उसके दस सिर हैं, और इन में व्याप्त रश्मिपुंज उसके दस मुख हैं । इन मुखों द्वारा वह भूमिष्ठ रसों का पान करता है तथा अपने तेज से विष को निष्प्रभाव कर देता है ।[१५३]

अध्यात्म में यह ब्राह्मण आत्मा है । उसके दस प्राण तथा दस इन्द्रिय रूपी दस सिर एवं दस मुख हैं । उसने अमरता के सोमरस का पान किया हुआ है, अतएव वह अमर है, तथा उस पर सांसारिक विषों का प्रभाव नहीं होता । शरीर विष से मृत्यु को प्राप्त हो भी जाए, तो भी वह मृत्यु का पात्र नहीं बनता ।

द्यावापृथिवी का धारक बैल

अनड्वान् दाधार पृथिवीमुत द्यामनड्वान् दाधारोर्वन्तरिक्षम् ।
अनड्वान् दाधार प्रदिशः षड्उर्वीरनड्वान् विश्वं भुवनमाविवेश ।।
अथर्व ४. ११. १

एक बैल (अनड्वान्) है, जिसने द्यावापृथिवी को उठाया हुआ है, विशाल अन्तरिक्ष को उठाया हुआ है, विस्तीर्ण छह प्रमुख दिशाओं को उठाया हुआ है । उसका अता-पता यह है कि वह सारे भुवन में प्रविष्ट है ।

यह बैल परब्रह्म, आदित्य या सूत्रात्मा प्राण है । अनस् शकटवाची है, जो शकट को वहन करे उसे अनड्वान् कहते हैं । यहां ब्रह्माण्ड रूपी शकट को वहन करने वाले उक्त तीनों हैं ।[१५४]

---

१५३. तुलनीय : सूर्ये विषमासजामि । ऋग् १. १९१. १०

१५४. अनः ब्रह्माण्डरूपं शकटं वहतीत्यनड्वान् परब्रह्म, आदित्यः, प्राणो वा । "अनड्वान् प्राण उच्यते", अथर्व ११. ४ १३ । "श्येत इव ह्येष सूर्य उद्यंश्चास्तं च यन् भवति, तस्माच्छ्येतोऽनड्वान्", शत. ५. ३. १. ७

सहस्र चरणों वाला श्येन

श्येनो नृचक्षा दिव्यः सुपर्णः सहस्रपाच्छतयोनिर्वयोधाः ।
स नो नियच्छाद् वसु यत् पराभृतमस्माकमस्तु पितृषु स्वधावत् ॥

अथर्व ७. ४१. २

एक श्येन (बाज पक्षी) है, जो सब मनुष्यों को देखता है, आकाशवासी है, सुन्दर पंखों वाला है। उसके सहस्र चरण हैं, सौ घोंसले हैं। वह सबको आयु या अन्न (वयः) देता है। जो चुराया हुआ धन (वसु) है, उसे वह पुनः प्रदान करता है। वह माता-पिताओं को आत्मनिर्भरता रूपी वसु देता है।

अधिदैवत पक्ष में यह श्येन आदित्य है।[१५५] वह सब मनुष्यों का द्रष्टा या प्रकाशक है। सुन्दर ज्योति रूप पंखों से आकाश में उड़ता है। उसके किरण-रूपी सहस्र चरण हैं, सैंकड़ों घोंसले या प्रवेशस्थान हैं, क्योंकि वह सर्वत्र व्याप्त होता है। वह आयु और अन्न का दाता भी है। प्राणियों का स्वास्थ्य-रूपी धन क्षीण हो जाता है, उसे वह पुनः प्रदान करता है। सूर्य से ही शक्ति पाकर माता-पिता आत्मनिर्भर होते हैं।

शरीर में प्राण श्येन है।[१५६] वह सब मनुष्यों पर कृपादृष्टि रखता है, दिव्य है, आवागमन करने या शरीर से पुनर्जन्म द्वारा दूसरे शरीर में उड़ान लेने के कारण सुपर्ण है। उसके सहस्रों श्वासोच्छ्वास रूपी चरण हैं। शरीर के अंग-प्रत्यंग रूप सैंकडों उसके घोंसले हैं, जिनमें वह प्राण, अपान, व्यान आदि रूपों में निवास करता है। वह वयोधा अर्थात् आयुष्य की वृद्धि करने वाला है। वही शरीर के क्षीण हुए तेज, बलादि रूप वसु को प्रदान करता है।

यह श्येन परमात्मा भी हो सकता है।[१५७] वह भी मनुष्यों का द्रष्टा, दिव्य और सुपर्ण अर्थात् शोभन प्रकार से पार कराने वाला है। वह सहस्रों चरणों वाला अर्थात् सर्वगत है।[१५८] पृथिवी, मंगल, बुध आदि ग्रहोपग्रह एवं नक्षत्र सभी उसके अनेक घर या नीड हैं। वह वायु, अन्न तथा सर्वविध वसु का भी प्रदाता है।

---

१५५. श्येन आदित्यो भवति श्यायतेर्गतिकर्मणः। निरु. १४. १३

१५६. निरुक्त में श्येन मध्यमस्थानीय देवों में पठित होने से वायु या प्राण का वाची भी होता है। निरु. ११. १

१५७. श्येन आत्मा भवति श्यायतेर्गतिकर्मणः। निरु. १४. १३

१५८. तुलनीय : सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। ऋग् १०. ९०. १

आठ चक्रों और नौ द्वारों वाली अयोध्या-पुरी

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ।। अथर्व १०. २. ३१

एक देवपुरी अयोध्या है, जिसमें आठ चक्र तथा नौ द्वार हैं। उसके अन्दर एक हिरण्यय कोष (स्वर्णिम भवन) है, जिसे स्वर्ग कहते हैं तथा जो ज्योति से अलंकृत है।

मानव-शरीर ही यह देवपुरी अयोध्या है।[१५६] इसे देवपुरी इस कारण कहते हैं क्योंकि वाह्य जगत् के अग्नि, वायु आदि सब देव विभिन्न रूपों में इसके अन्दर प्रविष्ट हैं। अथर्ववेद के अनुसार "शरीर की अस्थियों को समिधा वनाकर, रस-रक्त आदि को जल वनाकर, रेतस् को घृत बनाकर सब देव पुरुष-शरीर में प्रविष्ट हैं और यज्ञ रच रहे हैं। इस शरीर में सब जल, सब देवता, समस्त विराट् जगत् प्रविष्ट है, प्रजापति भी इसके अन्दर है। सूर्य चक्षु रूप में शरीर में विद्यमान है, वायु प्राणरूप में, शरीर के अन्य अंग अग्नि को मिले हैं। विद्वान् मनुष्य इस पुरुष-शरीर को साक्षात् देवपुरी या ब्रह्मपुरी समझता है, क्योंकि इसमें सब देवता वैसे ही प्रविष्ट हैं, जैसे गौएं गोष्ठ में"।[१६०] ऐतरेय उपनिषद् के अनुसार अग्नि वाक् वन कर मुख में प्रविष्ट है, वायु प्राण वनकर नासिका में प्रविष्ट है, आदित्य चक्षु वन कर नेत्रों में प्रविष्ट है, दिशाएं श्रोत्र वन कर कर्णों में प्रविष्ट हैं, ओषधि-वनस्पतियाँ लोम वन कर त्वचा में प्रविष्ट हैं, चन्द्रमा मन वन कर हृदय में प्रविष्ट है, मृत्यु अपान वनकर नाभि में प्रविष्ट है, जल रेतस् वनकर शिश्न में प्रविष्ट हैं"।[१६१] इस शरीर में नीचे से ऊपर की ओर क्रमशः मूलाधार (गुदा में), स्वाधिष्ठान (उपस्थ में), मणिपूर (नाभि में), अनाहत (हृदय में), विशुद्ध (कण्ठ में), ललित (जिह्वा में), आज्ञा (भ्रूमध्य में), तथा सहस्रार (मस्तिष्क में) ये आठ चक्र हैं। इन्हें चक्र इस कारण कहते हैं, क्योंकि इनमें प्राण चंक्रमण करता है। एवं यह शरीर रूपी धुरी आठ चक्रों वाली है। इसमें नौ द्वार हैं—दो कर्णछिद्र, दो नासिकाछिद्र, दो आंखें, एक मुख, दो अधोद्वार।[१६२] इसमें विद्यमान हिरण्यय कोश आनन्दमय कोश है, उसे ही स्वर्ग

---

१५६. इस मन्त्र की व्याख्या के लिए द्रष्टव्य : सातवलेकर कृत अथर्ववेदभाष्य।

१६०. अथर्व ११. ८. २९-३२

१६१. ऐ. उ. २. ४

१६२. तुलनीय : श्वेता. ३. १८, जहाँ शरीर को नवद्वार पुर कहा गया है।

कहते हैं। इसमें ब्रह्म वास करता है। यह शरीर-पुरी अयोध्या इस लिए है, क्योंकि विरोधी शक्तियों द्वारा इसे सरलता से परास्त नहीं किया जा सकता।

खड्डी से अनन्त वस्त्र बुनने वाली दो युवतियां

तन्त्रमेके युवती विरूपे अभ्याक्रामं वयतः षण्मयूखम्।
प्रान्या तन्तूंस्तिरते धत्ते अन्या नाप वृञ्जाते न गमातो अन्तम्॥
अथर्व १०.७.४२

भिन्न-भिन्न रूपों वाली दो युवतियां हैं, एक कृष्णा है, दूसरी गौरवर्णा। वे तत्परतापूर्वक खड्डी से वस्त्र बुन रही हैं। उसके लिए छह खूंटे गाड़े हुए हैं। एक तन्तुओं को फैलाती है अर्थात् ताना तनती है, दूसरी बाना भरती है। न वे मध्य में कभी विराम करती हैं, न उनके कार्य का अन्त होता है।

ये दो काली-गोरी युवतियाँ रात्रि एवं उषा हैं। ये सृष्टि रूपी वस्त्र का वयन कर रही हैं। चार पूर्वादि दिशाएं, एक ऊर्ध्वा दिशा, एक ध्रुवा दिशा ये छह खूंटे हैं, अथवा वसन्तादि छह ऋतुएं ही छह खूंटे हैं। उषा ताना तनती है, रात्रि बाना भरती है। उनका यह वस्त्र बुनने का कार्य निरन्तर चलता रहता है।

अध्यात्म में ये युवतियाँ विद्या (ज्ञानवृत्ति) तथा अविद्या (कर्मवृत्ति) हैं। ये दोनों मिलकर जीवन की खड्डी से मनुष्य के मोक्ष रूपी वस्त्र को बुन रही हैं।[163] छह खूंटे हैं पंच प्राण या पंच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा एक मन।

छह युगल शिशुओं का एक अकेला भाई

इदं सवितर्विजानीहि षड् यमा एक एकजः।
तस्मिन् हापित्वमिच्छन्ते य एषामेक एकजः॥ अथर्व १०. ८. ५

हे भाई सविता, मेरी इस पहेली को बूझो। छह युगल शिशु हैं, और एक अकेला शिशु है। उस अकेले के साथ छह युगल शिशु भ्रातृत्व-सम्बन्ध रखते हैं।

ये छह युगल शिशु छह ऋतुएं हैं, क्योंकि वे दो-दो मासों से मिलकर बनी हैं। अकेला शिशु त्रयोदश मास है, जो चान्द्र वर्ष में प्रति तृतीय वर्ष एक अधिक मास हो जाता है[164]। उसके साथ छह शेष ऋतुओं का भ्रातृत्व-सम्बन्ध है ही।

---

१६३. तुलनीय : विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥ यजु ४०. १४
"विद्यां च आत्मज्ञानं च, अविद्यां कर्म च"—उक्त मन्त्र पर उवट का भाष्य।

१६४. Twins : the seasons, consisting each of two months. One : the intercalary month.—Griffith.

अध्यात्म में शरीरवर्ती छह युगल शिशु हो सकते हैं दो कर्ण, दो नेत्र, दो प्राणापान, दो मुखवर्ती युगल रसना एवं वाणी, दो हाथ तथा दो पैर। अकेला शिशु मन है। उस मन के साथ शेष युगल शिशुओं का निकट भ्रातृत्व-सम्बन्ध है, क्योंकि ये युगल मन के बिना कार्य नहीं कर सकते।

उल्टा कटोरा

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्।
तत्रासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः।

एक कटोरा है, जिसका छिद्र नीचे तथा तला ऊपर है, अर्थात् वह उल्टा किया हुआ है। उसमें विश्वरूप यश निहित है। साथ ही उसमें इकट्ठे सात ऋषि भी आसीन हैं, जो इस महान् कटोरे के रक्षक बने हुए हैं।

अधिदैवत दृष्टि से यह कटोरा आदित्य है। वह अधोबिल तथा ऊर्ध्वपृष्ठ ही प्रतीत होता है। उसमें विविध यश भरा हुआ है, क्योंकि उसकी अनेकविध महिमा है, अथवा वह प्रकाशरूपी यशोरस से परिपूर्ण है। उसके अन्दर आसीन सात ऋषि सात रंगों वाली रश्मियां हैं। वे इसकी रक्षा कर रही हैं, क्योंकि किरणें न रहें तो सूर्य का सूर्यत्व ही समाप्त हो जाए। अथवा, द्यौ तथा पृथिवी ये दो कटोरे हैं, जिनमें द्यौरूपी कटोरा अधोमुख तथा दूसरा ऊर्ध्वमुख है। पहेली द्यौरूपी कटोरे की ओर संकेत करती है। द्युलोक में विविध यश अवस्थित है, उसमें सप्तर्षि तारे रूप सात ऋषि भी हैं[१६५]।

अध्यात्मपक्ष में यह कटोरा सिर या मस्तिष्क है। इस का पृष्ठ या शिरःकपाल ऊपर तथा मुखछिद्र नीचे है। सात ऋषि सात इन्द्रियाँ हैं, पांच ज्ञानेन्द्रिय, मन तथा बुद्धि। ये ही इसके रक्षक हैं[१६६]।

स्वर्ग का यात्री हंस

सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ परेर्हंसस्य पततः स्वर्गम्।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यत् याति भुवनानि विश्वा॥
अथर्व १०. ८; १८, १३. २. ३८

एक हंस है, उसका नाम हरि भी है। वह स्वर्ग की ओर उड़ रहा है। उसके पंख सहस्रों दिनों से फैले हुए हैं। वह अपने वक्षस्थल में सब देवों को

---

१६५. The bowl : the hemispherical sky, the earth being regarded as another bowl.—Griffith.
ऋग् ३. ५५. २ में इन दोनों कटोरों को वसु से भरपूर कहा है।

१६६. द्रष्टव्यः निरु १२. ३६; शत. १४. ५. २

निहित किये हुए सब भुवनों पर दृष्टि डालता हुआ यात्रा कर रहा है ।

अधिदैवत पक्ष में यह हंस आदित्य है । रसों को हरण करने के कारण उसका नाम हरि भी है । वह प्रातः पूर्वाकाश में अपने नीड से निकल कर मध्याकाश रूपी स्वर्ग की ओर उड़ना आरम्भ करता है । वक्षःस्थल में स्थित समस्त देव रश्मियाँ हैं । वह सब भुवनों पर अनुग्रह–दृष्टि प्रक्षिप्त करता हुआ इस यात्रा में संलग्न है ।

आकाश में हंस नाम का एक तारासमूह भी है, जो उत्तर में वर्षा, शरद् तथा हेमन्त ऋतुओं में आकाश- गंगा के मध्य उड़ता हुआ स्पष्ट दिखाई देता है । इस की पुच्छ सब से अधिक चमकीली होती है । यह अपने उरस् में आकाश-गंगा के अन्य तारों को धारण किये हुए उड़ान भर रहा है ।
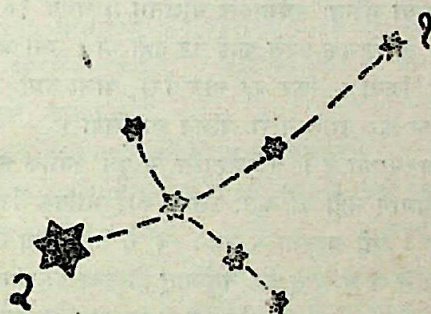
हंस तारासमूह
१. मुख, २. पुच्छ

अध्यात्म में यह हंस आत्मा है[१६७] । वह स्वर्ग या मोक्ष की प्राप्ति के लिए अहर्निश प्रयत्न कर रहा है, यही उसका स्वर्ग की ओर उड़ना है । उड़ान भरते हुए उसके ज्ञान और कर्म रूपी पंख सदा फैले रहते हैं । उसके वक्षः स्थल में स्थित सब देव विविध दिव्यगुण हैं । उन्हें धारण किये हुए भुवन की सब वस्तुओं को देखता हुआ वह यात्रा कर रहा है ।

दो जादू की लकड़ियां

यो वै ते विद्यादरणी याभ्यां निर्मथ्यते वसु ।
स विद्वान् ज्येष्ठं मन्येत स विद्याद् ब्राह्मणं महत् ।। अथर्व १०. ८ २०

---

१६७. नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते वहिः । श्वेता ३. १८

दो जादू की लकड़ियां (अरणी) हैं, उनकी रगड़ से धन (वसु) उत्पन्न होता है। जो इस रहस्य को जान लेता है वह सबसे बड़े को जान लेता है, वह 'महान् ब्राह्मण' को जान लेता है।

यज्ञ में दो अरणियां होती हैं, एक अधरारणि, दूसरी उत्तरारणि, उनके मन्थन से यज्ञाग्नि रूपी वसु उत्पन्न होता है, जिससे यज्ञ चलता है।[१६८] इसी प्रकार अध्यात्म में उपासक का अपना देह एक अरणि है, प्रणव दूसरी अरणि है, ध्यान करना ही उनका मन्थन है। इन दोनों के मन्थन से परब्रह्मरूप अग्नि का साक्षात्कार होता है।[१६९]

बिना पैरों का प्राणी

अपादग्रे समभवत् सो अग्रे स्वराभरत्।

चतुष्पाद् भूत्वा भोग्यः सर्वमादत्त भोजनम्॥ अथर्व १०. ८. २१

एक प्राणी है, जिसके पहले कोई पैर नहीं था। उसी अवस्था में उसने स्वः को उत्पन्न किया। फिर वह चार पैरों वाला तथा भोग्य हो गया। पश्चात् भोक्ता बन कर उसने सारा भोजन खा लिया।

यह प्राणी परमात्मा है। सृष्ट्युत्पत्ति से पूर्व क्योंकि सृष्टि की कोई वस्तु स्थूल रूप में विद्यमान नहीं थी, अतः उसका कोई भौतिक पैर नहीं था, सब पैर अन्तर्निगूढ़ थे। इसी अवस्था में उसने स्वः से उपलक्षित सृष्टि को उत्पन्न किया। सृष्ट्युत्पत्ति के पश्चात् वह चतुष्पात् हो गया। छान्दोग्य उपनिषद्[१७०] में इन चार पादों का वर्णन इस प्रकार है। एक पाद प्रकाशवान् है, जिसकी प्राची, प्रतीची, दक्षिणा, उदीची ये चार कलाएं हैं। द्वितीय पाद अनन्तवान् है, जिसकी पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, समुद्र ये चार कलाएं हैं। तृतीय पाद ज्योतिष्मान् है, जिसकी अग्नि, सूर्य, चन्द्र, विद्युत् ये चार कलाएं हैं। चतुर्थ पाद आयतनवान् है, जिसकी प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन ये चार कलाएं हैं। इस समय वह भोग्य था, क्योंकि अनेक उपासक उसके अमृतरस का आस्वादन करते थे। फिर भोक्ता होकर उसने सारा भोजन खा लिया अर्थात् प्रलयकाल में सब कुछ निगीर्ण कर लिया[१७१]। एवं इस पहेली में परमात्मा के उत्पादक, धारक तथा

---

१६८. द्रष्टव्य: ऋग् ३. २९

१६९. स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्॥ श्वेता. १. १४

१७०. द्रष्टव्य : छा. उ. प्रपा. ४, खंड ५-८

१७१. तुलनीय : अहमन्नम् अन्नमदन्तमद्मि। साम पू. ६.१.९। अहमन्नम्, अहमन्नम्, अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः। तै. उ. १०.७। अत्ता चराचरग्रहणात्। वे.सू. १.२.९

संहारक रूपों की झांकी दी गयी है।

नव-द्वार कमल

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः॥

अथर्व १०.८.४३

एक कमल है, जिसमें नौ द्वार हैं, वह तीन गुणों (सूत्रों) से आवृत है। उसमें आत्मा सहित एक यक्ष वास करता है। जो ब्रह्मविद् हैं, वे ही उसे जानते हैं।

मानव-शरीर ही वह कमल है। इसके नौ द्वार हैं, दो कर्णद्वार, दो नासिकाद्वार, दो नेत्रद्वार, एक मुख और दो अधोद्वार। यह सत्त्व, रजस्, तमस् अथवा त्वचा, मज्जा, मांस रूपी तीन गुणों से आवृत है। आत्मा सहित उसके अन्दर वास करने वाला यक्ष ब्रह्म है[१७२]। ब्रह्मवित् उसी का साक्षात्कार करते हैं।

एक पैर से उड़ने वाला हंस

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्।
यदङ्ग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्री नाहः
स्यान्न व्युच्छेत् कदाचन॥ अथर्व ११.४.२१

एक हंस है जो मानसरोवर के सलिल से उड़ता हुआ एक पैर को नहीं उठाता। हे भाई, यदि वह उसे भी उठा ले, तो न आज हो, न कल हो, न रात्रि हो, न दिन हो, न हीं कभी उषा उदित हो।

यह मन्त्र अथर्ववेद के प्राणसूक्त का है। प्राण ही वह हंस[१७३] है, क्योंकि निरन्तर गति करता रहता है। सलिल या मानसरोवर हैं दोनों फुप्फुस। श्वास का बाहर निकलना ही उस प्राणरूपी हंस का उड़ना है। वह उड़ते हुए एक पैर तो उठा लेता है, किन्तु एक पैर वहीं स्थिर रखता है, क्योंकि श्वास के बाहर

---

१७२. यक्षम् आत्मन्वत् : the Supreme self or soul.
Nine portalled Lotus flower : the human body. Enclosed with triple bands and bonds : or, which the three Qualities enclose. 'It is possible ... that these may be here a first reference to the three Gunas (fundamental qualities) afterwards so celebrated in Indian philosophical speculation. Muir.' The word Guna meaning both rope or bond and quality. —Griffith.

१७३. हन्ति गच्छति कृत्स्नशरीरं व्याप्य वर्तते इति हंसः। सायण

निकल जाने पर भी प्राण अन्य रूप में शरीर में रहता ही है। यदि वह पूर्ण-रूप से ही उड़ जाए या शरीर से दोनों पैर उठा ले, तब क्या परिणाम हो? शरीर मृत हो जाए, और मृत शरीर के लिए आज क्या, कल क्या, दिन क्या, रात्रि क्या, उषा क्या, कुछ भी नहीं।

इस पहेली का अन्य समाधान सूर्य परक भी हो सकता है[१७४]। सूर्य प्राण का मुख्य स्रोत है[१७५], अतः प्राणसूक्त में उसका स्तवन किया गया है। अन्धकार, रोगादि का हननकर्त्ता अथवा गतिशील होने से सूर्य हंस है। सलिल आकाश है। सूर्य का एक ही पैर है, अतएव उसे एकपाद् देव कहा गया है[१७६]। जब सूर्य-हंस आकाशरूप मानसरोवर से उड़ने अर्थात् अस्त होने लगता है, तब भी वह अपने उस एक पैर को उठाता नहीं, किन्तु पूर्ववत् उसे जमाये हुए अक्षपरि-भ्रमण करता रहता है। अतएव पृथिवी के एक भाग में अस्त होने पर भी दूसरे भाग में दृष्टिगत होता है[१७७]। यदि वह अपने पैर को सर्वथा उठा ले तब तो आज, कल, दिन, रात्रि, उषा कुछ भी न हो, सौर जगत् में प्रलय हो जाए।

प्रहेलिकात्मक शैली के विचार का महत्त्व

असंगत प्रकरणों की व्याख्या में सहायता

ऊपर जो वेदों की कतिपय पहेलियां प्रस्तुत की गयी हैं, उनसे स्पष्ट है कि इस शैली का वेदों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतः वेदार्थ करते हुए इस शैली को ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है। इसे ध्यान में रखने से वेदों के अनेक ऐसे वर्णन जो असंगत से प्रतीत होते हैं, संगत, सुसंबद्ध, अर्थपूर्ण, आकर्षक तथा मनोहारी दीखने लगते हैं। इस शैली का अनुसंधान करने से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि सर्वत्र मन्त्रों के स्थूल अर्थ को ही वास्तविक अर्थ समझ लेना युक्त नहीं है। वेदों में बुद्धिपूर्वा वाक्यकृति है, यह वेद के सम्बन्ध में ऋषि-महर्षियों का विचार रहा है[१७८]। अतः यदि कहीं कोई असम्भव या बुद्धि-विरोधी वर्णन प्रतीत होता है, तो उसे ही अन्तिम अर्थ मान लेने से पूर्व यह विचार कर लेना आवश्यक है कि कहीं यहां प्रहेलिकात्मक शैली तो नहीं है। नीचे हम

---

१७४. हन्ति गच्छतीति हंसः जगत्प्राणभूतः सूर्यः। सायण
१७५. प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः। प्रश्न. १. ८
१७६. शं नो अज एकपाद् देवो अस्तु। ऋग् ७.३५.१३
तं सूर्यं देवम् अजम् एकपादम्। तै. ब्रा. ३. १. २. ८
१७७. द्रष्टव्य: ऐ. ब्रा. ३.४४; गो ब्रा. उ. ४.१०
१७८. बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे। वैशेषिक ६.१.१

कुछ ऐसे प्रसंग देंगे जिनका अभिप्राय भाष्यकारों ने इस शैली को ध्यान में न रखने के कारण अन्यथा ही समझ लिया है।

वृषभ तथा मेष को पकाने का आशय

ऋग्वेद १०म मण्डल के २७वें सूक्त में इन्द्र आत्मस्तुति कर रहा है। इस प्रसंग में द्वितीय मन्त्र में वृषभ को पकाने का तथा सत्रहवें मन्त्र में मेषों को पकाने का वर्णन आया है। द्वितीय मन्त्र इस प्रकार है—

यदीदहं युधये संनयान्यदेवयून् तन्वा शूशुजानान्।
अमा ते तुम्रं वृषभं पचानि तीव्रं सुतं पंचदशं निषिञ्चम्॥

सायण ने इसे इन्द्र के पुत्र वसुक्र की उक्ति माना है और व्याख्या की है कि वसुक्र इन्द्र को कहता है कि मैं तेरे लिए मोटे-ताजे बैल को पकाता हूं[१७९]। पर वस्तुतः प्रथम तथा अगले मन्त्रों के समान इसे इन्द्र की उक्ति मानना अधिक संगत है। इन्द्र कहता है — "यदि मैं देवों की आराधना न करने वाले, शरीर से परिपुष्ट हुए शत्रुओं को युद्धार्थ रणभूमि में लाता हूं, तो साथ ही हे स्तोता तेरे लिए मैं स्थूल वृषभ को पकाता हूं तथा उस वृषभ में पन्द्रहवां तीव्र अभिषुत रस निषिक्त कर देता हूं"। अधिदैवत पक्ष में ये शत्रु जिनसे इन्द्र युद्ध करता है, वृत्र या मेघ हैं, जिन्हें युद्ध में पराजित कर वह भूमि पर बरसा देता है। वृत्रों के साथ इन्द्र का युद्ध प्रसिद्ध है। अपना दूसरा कार्य जो इन्द्र ने यहां वर्णित किया है, वृषभ को पकाना है। प्रश्न यह है कि यहां सायण के समान वृषभ को पकाने का अर्थ बैल पशु को पकाना ही गृहीत किया जाए, अथवा इसे पहेली मानकर किसी रहस्यार्थ के उद्घाटन का प्रयत्न किया जाए। विचार करने पर ज्ञात होता है कि वस्तुतः यह एक पहेली ही है। जिस सूक्त का यह मन्त्र है वह ऋग्वेद के प्रहेलिकात्मक सूक्तों में से एक है तथा इसके अन्य कई मन्त्र भी पहेलीरूप ही हैं[१८०]। यहां वृषभ का अभिप्राय सोम (चन्द्रमा या सोमवल्ली) प्रतीत होता है। सायण ने भी ऋग्वेद के अनेक स्थलों में वृषभ को सोमपरक स्वीकार किया है। नवम मण्डल में ११ वार एकवचनान्त वृषभ शब्द आया है, जिसमें ९ स्थलों में सायण ने सोम को ही वृषभ माना है।[१८१] चन्द्रमा को पकाने या परिपक्व करने का अभिप्राय

---

१७९. तुम्रं प्रेरकं बलिनं, पीवानमित्यर्थः, वृषभं सेचनसमर्थं पुंपशुं पचानि। सायण

१८०. विशेषतः मन्त्र ११ से २४ तक

१८१. द्रष्टव्य: ९म मण्डल १९.४; ७०.७; ७२.७; ७६.५; ८०.५; ८५.९; ९६.७; १०८.८, ११ का सायण भाष्य।

है उसे परिपूर्ण करना। कृष्णपक्ष में क्षीण हुए चन्द्रमा को इन्द्र पुनः परिपक्व कर देता है। जब वह एक-एक कला बढ़ते हुए चतुर्दशी के चांद तक पहुंच जाता है, तब उसमें पन्द्रहवां रस या पन्द्रहवीं कला भी निषिक्त कर देता है और वह पूर्णिमा का परिपूर्ण चांद हो जाता है। सोमवल्ली अर्थ लेने पर भी ऐसी ही व्याख्या होगी, क्योंकि उस का भी चन्द्रमा से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है और वह भी चन्द्रमा के क्षय के साथ क्षीण तथा उसकी परिपूर्णता के साथ परिपूर्ण होती है।[१८२]

सायणने १०।२८।१०,११ में गोधा का अर्थ गोह न करके गायत्री किया है—'गमयति वर्णानिति गौर्वाक् तत्र निधीयमानत्वाद् गायत्री गोधा'। जब वेद की गोह गायत्री हो सकती है, तब बैल सोम हो इस में आश्चर्य क्या? इसी सूक्त के ११ वें मन्त्र में सायण ने 'सिम उक्ष्णोऽवसृष्टान् अदन्ति' में बैल को खाना अर्थ न लेकर सोम-भक्षण अर्थ किया है। परन्तु ३य मन्त्र में 'पचन्ति ते वृषभान्' में वृषभ पकाने का अर्थ बैल पशु को पकाना लिया है, सोम को पकाना नहीं, जब कि द्वितीय चरण में 'सुन्वन्ति सोमान्' स्पष्ट पठित भी है। २य मन्त्र में वृषभ शब्द आया है, पर उसका अर्थ सायण ने 'कामनाओं का वर्षक इन्द्र' कर लिया है। इससे वेदव्याख्या में सायण की अनिश्चयात्मकता स्पष्ट है।

इस प्रसंग में उक्षा पृश्नि (श्वेत बैल) को पकाने की पूर्ववर्णित पहेली (ऋग् १.१६४.४३) भी द्रष्टव्य है, जहां स्वयं सायण ने उक्षा का अर्थ बैल न करके सोम अर्थ किया है (पृ० ५६—५८)। चतुर्थ अध्याय में व्याख्यात ऋग् १०.८६.१३,१४ की व्याख्या भी देखनी चाहिए, जहां इन्द्र के लिए पन्द्रह और बीस उक्षा (बैल) पकाने का वर्णन है।

१८२. यत् त्वा देव प्रपिबन्ति तत आप्यायसे पुनः, ऋग् १०.८५.५ की व्याख्या निरुक्त ११.४ में सोमवल्ली तथा चन्द्रमा उभयपरक की है। इस सम्बन्ध में सुश्रुत संहिता के निम्न श्लोक भी द्रष्टव्य हैं—

सर्वेषामेव सोमानां पत्राणि दश पञ्च च।
तानि शुक्ले च कृष्णे च जायन्ते निपतन्ति च॥
एकैकं जायते पत्रं सोमस्याहरहस्तदा।
शुक्लस्य पौर्णमास्यां तु भवेत् पञ्चदशच्छदः॥
शीर्यते पत्रमेकैकं दिवसे दिवसे पुनः।
कृष्णपक्षक्षये चापि लता भवति केवला॥

सुश्रुत, चिकित्सित स्थान २९. २०—२२।

अब १७वें मन्त्र पर आते हैं–

पीवानं मेषमपचन्त वीरा न्युप्ता अक्षा अनु दीव आसन् ।
द्वा धनुं बृहतीमप्स्वन्तः पवित्रवन्ता चरतः पुनन्ता ॥

सायण ने यहां यह अभिप्राय लिया हैं कि प्रजापति के पुत्र वीर अंगिरसों ने मेदोमांसादियुक्त मेष पशु को इन्द्र के लिए पका कर पशुयाग किया।[183] पर वस्तुतः यह भी एक पहेली है, जिसका रहस्यार्थ इस प्रकार है। आकाश में मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ, मीन ये बारह राशियां हैं। प्रस्तुत मन्त्र में मेष तथा धनु राशि का वर्णन है। "वीरों ने स्थूल मेष को पकाया", यहां मेष मेषराशि का नक्षत्र-समूह ही प्रतीत होता है[184]। इसे पकाने या परिपक्व करने का अभिप्राय है आकाश में इस रूप में चमकाना कि हम उसे देख सकें। जब पृथिवी अपने क्रान्तिवृत्त पर सूर्य की परिक्रमा करती हुई मेष राशि के तारापुंज के संमुख आ जाती है, तब वह आकाश में भासमान दिखाई देने लगता है। मन्त्र के द्वितीय चरण में कहा है कि गगन में छिटके तारे ऐसे प्रतीत होते थे मानो द्यूतफलक पर जुए के गोटे बिखरे हुए हों। मन्त्र का उत्तरार्ध धनु-राशि परक है। "पवित्रयुक्त (कुशाधारी) कोई दो विशाल धनु को जलों के अन्दर पवित्र करते हुए विचरते हैं।" ये दो हैं एक सूर्य, दूसरा चन्द्रमा। जलवाची अप् निघण्टु के अनुसार अन्तरिक्षवाची भी है[185]। धनु धनुराशि का नक्षत्र समूह है। सूर्य-चन्द्रमा पवित्रवान् हैं, क्योंकि उनके पास शोधक रश्मिरूपी कुशाएं विद्यमान हैं।[186] तो अभिप्राय यह हुआ कि सूर्य-चन्द्रमा यथासमय आकाश में विशाल धनुराशि के तारापुंज को पवित्र करते या चमकाते हैं।

लुडविग तथा उसके अनुसर्ता ग्रिफिथ ने फिर भी इस मन्त्र की प्रहेलिकात्मकता को ध्यान से ओझल नहीं किया है तथा सायण के समान मेष को

---

१८३. वीराः प्रजापतेः पुत्रा अङ्गिरसः पीवानं स्थूलं, मेदोमांसादियुक्तमित्यर्थः, मेषम् अजम् अपचन्त प्रजापतिरूपस्येन्द्रस्यार्थाय पक्ववन्तोऽभवन्, पशुयागं कुर्वन्त इत्यर्थः। सायण

१८४. तिलक ने अपनी पुस्तक 'ओरायन' में ऋग्. १०.८६ की व्याख्या करते हुए उस सूक्त में आये मृग शब्द से मृगशीर्ष नक्षत्रपुंज अर्थ गृहीत किया है। इसी प्रकार मेष, धनु आदि शब्द इन नक्षत्रपुंजों के सूचक हो सकते हैं।

१८५. नि. १. १२

१८६. रश्मयः पवित्रमुच्यन्ते। निरु. ५.६।

पकाने का अभिप्राय मेष पशु को पका कर पशुयाग करना न लेकर विस्तीर्ण मेघ रूपी मेष को परिपक्व कर बरसाने का भाव लिया है।[१८७]

पशुओं की आहुति का आशय

अब एक अन्य मन्त्र को लेते हैं, जो ऋग्वेद तथा यजुर्वेद दोनों में आया है।

यस्मिन्नश्वास ऋषभास उक्षणो वशा मेषा अवसृष्टास आहुताः।
कीलालपे सोमपृष्ठाय वेधसे हृदा मतिं जनये चारुमग्नये॥

ऋग्. १० ९१. १४; यजु. २०. ७८

कात्यायन, सायण, उवट, महीधर आदि के अनुसार यह मन्त्र पशुयज्ञ में अश्व, बैल, सांड, वन्ध्या गौ तथा मेष पशुओं को काट-काट कर अग्नि में उनकी आहुति देने का वर्णन करता है।[१८८] परन्तु वस्तुतः यह भी एक पहेली है। ऋग्वेद में जिस सूक्त में यह मन्त्र आया है उसमें इससे पूर्व के मन्त्रों में अग्नि अन्न, घृत तथा समिधा की हवि चाहता है या यजमान उसे इन की हवि देते हैं, ऐसा कई बार उल्लेख हुआ है।[१८९]

---

१८७. The falted wether: Perhaps, the swollen rain-cloud. The dice: the stars. Two: tho Sun and Moon. These are Ludwig's suggestion.–Griffith.

इस प्रसंग में द्रष्टव्यः महिष मृग को पकाने की पहेली पृ. ६६ जहां सायण ने भी मृग पशु को पकाने का अभिप्राय न लेकर मृग के समान इतस्ततः दौड़ने वाले मेघ को वृष्टचभिमुख करने का भाव लिया है।

१८८. द्रष्टव्य: का. श्रौ.सू. १९. ६.२१। 'यस्मिन् अग्नौ उक्षणः उक्षाणः सेचन-समर्थाः अश्वासः अश्वाः ऋषभासः वृषभाश्च वशाः स्वभाववन्ध्याश्च मेषाश्च अवसृष्टासः देवतार्थम् अवसृष्टाः परित्यक्ताः सन्तोऽश्वमेधे आहुताः आभिमुख्येन हुता भवन्ति'–सायण। 'यस्मिन्नग्नौ अश्वासः ऋषभासः उक्षणः वशाः मेषाः अवसृष्टासः अवदायावदाय चतुरवत्तेन निक्षिप्ताः, आदायादाय हुताः'–उवट। 'यस्मिन्नग्नौ एते पशवः अवसृष्टाः अवदायावदाय चतुरवत्तेन निक्षिप्ताः, तथा आहुताः आदायादाय हुताः'—महीधर।

१८९. मन्त्र १–इषयन् (अन्नमिच्छन्)। मंत्र ४–योनिं · · · घृतवन्तमासदः। मन्त्र ५– स्वयं चिनुषे अन्नमास्ये। मन्त्र ७– अन्ना वेविषद्। मंत्र ९–दधति प्रयांसि (अन्नानि) ते। मंत्र ११–तुभ्यं · · · समिधा दाशत्।

उसके साथ यह पशुओं की आहुति मेल नहीं खाती तथा प्रहेलिकात्मकता को सूचित करती है। पहेली में जितना असंभव तथा असंबद्ध सा वर्णन हो उतना ही उसका प्रहेलिकात्मक रूप निखरता है। अतएव ऐसा वर्णन इस मन्त्र में है। यहां 'अवसृष्टासः' पद पर ध्यान देने से पहेली सुलझ जाती है। अग्नि में इन पशुओं को काट कर हवन नहीं करना है, अपितु सार्वजनिक हित के लिए इनका दान या त्याग करना है। अग्नि को अर्पण करने का भाव यह है कि अब यह पशु अग्नि देवता का हो गया, मेरा नहीं रहा, एवं सार्वजनिक हित के काम आयेगा। इस प्रसंग में शतपथ ब्राह्मण का पुरुषमेध-प्रकरण भी अवलोकनीय है। वहां विभिन्न पुरुषों का अग्नि में होम नहीं किया जाता, किन्तु उन्हें केवल अग्नि के समीप लाकर छोड़ दिया जाता है[१९०]। ऋग्वेद में पुरुष-सूक्त के ठीक बाद ही प्रस्तुत सूक्त है। यदि पुरुषमेध में पुरुषों की हवि दी जानी अभिप्रेत नहीं है, तो यहां अश्व, ऋषभ आदि का हवि दिया जाना वेदाभिमत क्यों अंगीकार किया जाए[१९१] ?

---

१९०. अथ हैनं वागभ्युवाद। पुरुष मा संतिष्ठिपो यदि संस्थापयिष्यसि पुरुष एवं पुरुषमत्स्यतीति। तान् पर्यग्निकृतानेवोदसृजत्। तद्देवत्या आहुतीर-जुहोत्। ताभिस्ता अप्रीणात्। ता एवं प्रीता अप्रीणन् सर्वैः कामैः। शत. १३. ६. २

१९१. अग्नि में इन पशुओं को आहुत करने का अभिप्राय इन्हें रक्षार्थ अग्नि को सौंपना भी लिया जा सकता है। ऋग् ५. ६. १,२ में कहा है कि अग्नि सबका निवासक तथा गृहवत् आश्रयभूत है, उसके पास धेनुएं (धेनवः), शीघ्रगामी घोड़े (अर्वन्तः रघुद्रुवः) तथा सुजात स्तोतृजन (सुजातासः सूरयः) आकर एकत्र होते हैं, अर्थात् वह इनका भी निवासक तथा आश्रयदाता है, नकि भक्षक। इन मन्त्रों का अर्थ सायण ने भी पश्वाहुतिपरक नहीं किया है. अन्यथा क्या पशुओं के साथ स्तोतृजनों की भी आहुति दी जाती ? ऋग् ६.१६.४७ में अग्नि को सम्बोधन कर कहा गया है कि हम ऋचा या स्तुति के साथ हृदय से संस्कृत हवि तुझे देते हैं, वे हवियां तेरे लिए उक्षा, ऋषभ और वशा होवें। इससे प्रतीत होता है अग्नि में सचमुच के सांड, बैल और गाय की आहुति न देकर हवियों की ही आहुति देनी अभिप्रेत है। ऋग् २.७. ५ में अग्नि को अष्टापदी वशाओं से आहुत कहा है। सायण ने अष्टापदी वशाओं का अभिप्राय लिया है गर्भिणी गौएं। पर वस्तुतः वेद स्वयं इस पहेली का समाधान प्रस्तुत कर देता है, जब वह ऋग्०

साथ ही अग्नि का अर्थ यह पार्थिव अग्नि ही नहीं है, अपितु उत्तर ज्योतियां अर्थात् अन्तरिक्षस्थ विद्युत् एवं द्युलोकस्थ सूर्य भी अग्नि पद से वाच्य होते हैं[१९२]। द्युलोक की अग्नि में भी ये अश्व, ऋषभ, उक्षा आदि पशु प्रकृति ने आहुत करके आकाश में छोड़े हुए हैं। ये अश्व आदि आकाश के तारासमूह-विशेष हैं। उच्चैःश्रवा नामक पौराणिक अश्व तथा नर-तुरंग व्योम में विहार करते हैं। 'अश्वासः' से इन तारासमूहों के तारे गृहीत हो सकते हैं। इसी प्रकार 'ऋषभासः'; 'उक्षणः' तथा 'वशाः' से वृषराशि के तारे, एवं 'मेषाः' से मेषराशि के तारे अभिप्रेत होने संभव हैं। यह आकाशस्थ अग्नि 'कीलालपाः' अर्थात् आकाश-गंगा के प्रकाश-सलिल का पान करने वाली है। चन्द्रमा इसके पृष्ठपर होने से यह सोमपृष्ठ है।

अध्यात्म में आत्मा अग्नि[१९३] है। अध्यात्म-मार्ग का उन्मुख ऋषि कहता है कि मैं हृदय-सहित अपनी मति को उस आत्मा के प्रति प्रेरित करता हूं, जो कीलालपा है अर्थात् दिव्य अमृतरस का पान किये हुए है, तथा सोमरस जिसकी धाराओं को वह शरीर की मन, बुद्धि, वाक्, प्राण, चक्षु श्रोत्र, आदि सब शक्तियों पर प्रवाहित करना चाहता है, जिसके पृष्ठ पर बहता है। उस आत्मा में अश्व, ऋषभ आदि आहुत हैं. इसका अभिप्राय यह है कि इनसे उपलक्षित अपनी सब शक्तियों का उपयोग आत्मा के प्रति समर्पण करते हुए ही करना चाहिए, इन्हें स्वतन्त्र रख कर नहीं। अश्व प्राण या शारीरिक बल की शक्तियां हैं, ऋषभ भारवाहिता की शक्तियां हैं, उक्षा सेचनशक्तियां हैं, वशा सौम्यता, माधुर्य, प्रेम एवं मातृत्व की शक्तियां हैं[१९४], मेष आच्छादन की शक्तियां हैं।

८.७७.१२ में वाणी को अष्टापदी कहता है—वाचमष्टापदीमहम्।

१९२. स न मन्येत अयमेवाग्निरिति, अप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते। निरु. ७. १७

१९३. आत्मा वा अग्निः। शत. ७. ३. १. २

१९४. ये शक्तियां वशा को दोग्ध्री गौ मान कर गृहीत की गयी हैं, सायण के समान वन्ध्या गौ मानकर नहीं। जैसा 'वैदिक इण्डैक्स' में इस शब्द पर लिखित है, वन्ध्या गौ के लिए यह बहुत कम प्रयुक्त हुआ है। अधिकतर यह दोग्ध्री गौ के लिए आया है, यहाँ तक कि अथर्व १०.१० में तो इसे सहस्रधारा (मन्त्र ४) कहा है, तथा लिखा है कि साध्य और वसुगण इसके दूध को पीकर उसकी प्रशंसा करते नहीं थकते (मन्त्र ३१)।

अश्वमेध तथा अजमेध

अन्य भी वेदों के ऐसे अनेक प्रसंग हैं, जिनकी व्याख्या प्रहेलिकात्मक शैली को ध्यान में रखते हुए ही की जानी चाहिए। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद का अश्वमेध-प्रकरण लिया जा सकता है; जो यद्यपि वस्तुत: प्रहेलिकात्मक है, परन्तु दुर्भाग्य से भाष्यकारों का ध्यान उसके प्रहेलिकात्मक रूप पर नहीं गया है। यह है प्रथम मण्डल का १६२ वां सूक्त, जिसकी कर्मकाण्डपरक व्याख्या के अनुसार अश्व को काट कर तथा पका कर अग्नि में आहुति दी जाती है। वस्तुत: यहां १६१ से १६४ तक चारों सूक्त प्रहेलिकात्मक हैं। १६१ वें सूक्त में ऋभुओं के चमत्कारों की पहेलियां हैं। सूक्त १६२ तथा १६३ में अश्व की पहेली है। १२४ वां वह प्रसिद्ध अस्यवामीय सूक्त है, जिसकी कई पहेलियों पर हम इसी अध्याय में विचार कर चुके हैं। आश्चर्य का विषय है कि १६१ वें तथा १६४ वें सूक्त की प्रहेलिकात्मकता की ओर तो भाष्यकारों का ध्यान गया, परन्तु मध्य के १६२-६३ सूक्तों की व्याख्या अश्व पशु को काटने तथा पकाने परक ही की जाती रही है[१६५]।

वेद में अग्नि, पर्जन्य, सोम, आदित्य आदि को अश्व कहा गया[१६६] है। ब्रह्म, आत्मा, प्राण, राष्ट्रपति आदि के लिए भी अश्व प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि ये ब्रह्माण्ड, शरीर, राष्ट्र आदि रथों को वहन करते हैं। इन अर्थों को दृष्टि में रख कर ही अश्वमेध की पहेली का समाधान किया जाना चाहिये[१६७]। यथा, अधिदैवत पक्ष में संवत्सर का संचालन ही अश्वमेध यज्ञ है। सूर्यमण्डल अश्व का सिर है, मेघ उदर है। उत्तरायण काल इस अश्व के परिपुष्ट होने का समय है, दक्षिणायनकाल काट कर उत्सर्ग किये जाने का। वर्षाऋतु में इस अश्व का मेघ रूपी उदर काटा जाता है। उसका आकाश में बन्धन तथा

---

१६५. स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के अश्वमेध-प्रकरणों की प्रचलित व्याख्या से भिन्न व्याख्या की है।

१६६. यथा, अग्नि—ऋग् १०.१८८. १। पर्जन्य—ऋग् ५ ८३.६। सोम—ऋग् ९.८९.४। आदित्य—ऋग् ७.७७.३।

१६७. एष वा अश्वमेधो य एष (सूर्यः) तपति, शत. १०. ६. ५. ८। एष एवाश्वमेधो यश्चन्द्रमाः, शत. ११. २. ५. १। राष्ट्रं वा अश्वमेधः शत. १३. १. ६. ५। "राष्ट्रपालनमेव क्षत्रियाणामश्वमेधाख्यो यज्ञो भवति नाश्वं हत्वा तदङ्गानां होमकरणं चेति" दयानन्द, ऋ. भा. भू. राजप्रजाधर्म विषय।

विशसन करने वाले मरुत् हैं, जो विद्युत् रूपी छुरियों से उसे काटते हैं। जिसमें उसके अंगों को पकाया जाता है वह हांडी (मांस्पचनी उखा) अन्तरिक्ष है। अध्यात्म दृष्टि से मनुष्य का आत्मा अश्व है। उसे भी काटने तथा पकाने की आवश्यकता होती है। कष्ट तथा तपस्या का जीवन यापन कराना ही उसे काटना है। पशुता से हटा कर परिपक्व करना ही पकाना है। परिपक्व करके उसे देवार्पण करना होता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार तो अश्वमेध का यह अश्व और भी विशाल हैं। उषा मेध्य अश्व का सिर है, सूर्य चक्षु है, वायु प्राण है, वैश्वानर-अग्नि खुला हुआ मुख है, संवत्सर आत्मा है, द्यौ पृष्ठ है, अन्तरिक्ष पेट है, पृथिवी खुर हैं, दिशाएं पार्श्व हैं, अवान्तर दिशाएं पसलियां हैं, ऋतुएं अंग हैं, मास और अर्धमास संधिस्थल हैं, अहोरात्र पैर हैं, नक्षत्र अस्थियां हैं, मेघ मांस हैं, बालुकाकण अधपचा भोजन है, नदियां गुदा है, पर्वत यकृत् तथा क्लोम हैं, ओषधि-वनस्पतियां लोम हैं, उदयवेला पूर्वार्ध है, अस्तमनवेला उत्तरार्ध है, विद्युत् चमकना जंभाई लेना है, गरजना अंग कंपाना है, वर्षण मूत्रत्याग है, वाणी हिनहिनाना है[१९८]।

वेद स्वयं भी १६३ वें सूक्त में अश्वमेध के इस अश्व का अता-पता देते हुए कहता है—

"हे अश्व, प्रथम उत्पन्न होकर समुद्र अथवा जल से ऊपर उठ कर जब तूने क्रन्दन किया तब तू ऐसे उड़ा, मानों श्येन के पंख तुझमें आकर लग गये हों। तूने ऐसी कुदकड़ी भरी, मानों हरिण की बाहुएं (अगले पैर) तुझे मिल गयी हों। तेरा यह रूप बड़ा स्तुत्य था (मन्त्र १)[१९९]। यम से दिये हुए इसे त्रित ने बांधा, श्रेष्ठ इन्द्र इसका अधिष्ठाता बना। गन्धर्व ने इसकी रस्सी पकड़ी। हे वसुओ, तुमने सूर्य में से इसे निकाला है (मन्त्र २)। हे अश्व, अपने गुह्य व्रत से तू यम हैं, तू आदित्य है, तू त्रित है, तू सोम के साथ संपृक्त है। द्यौ में तेरे तीन बन्धन है, ऐसा कहते हैं (मन्त्र ३)। हे अश्व, तेरे तीन बन्धन द्युलोक में हैं, तीन बन्धन अन्तरिक्ष में हैं, तीन बन्धन समुद्र में हैं (मन्त्र ४)। नीचे से ऊपर द्युलोक की ओर उड़ते हुए पक्षी-तुल्य तेरे आत्मा को मैंने मन से जान लिया है। रेणुरहित सुगम गगन-मार्गों मे खग के समान गति करने वाले तेरे सिर को भी मैंने देख लिया है (मन्त्र ६)। हे अश्व, भूतल पर

---

१९८. बृ. उ. १, १, १

१९९. The Sacrificial Horse is here identified with the Sun in the Ocean of air.—Griffith.

अन्नोत्पत्ति के लिए पहुंचने की इच्छा करने वाले तेरे रूप को मैंने बहुत उत्तम समझा है। जब मनुष्य तेरे दिये भोग ओषधि-वनस्पतियों को प्राप्त करता है, तब आनन्द से उन्हें खूब खाता है (मन्त्र ७)। हे अश्व, तेरे अनुकूल होने पर ही रथ चलता है, तेरे अनुकूल होने पर ही मनुष्य की जीवन-यात्रा चलती है, तेरे अनुकूल होने पर ही गौओं का निर्वाह होता है, तेरे अनुकूल होने पर ही कन्याओं में वर्चस्व आता है। सभी प्राणी तेरा सख्य चाहते हैं। सब देव तेरी अनुकूलता में ही बल पाते हैं (मन्त्र ८)। हे अश्व, सोने के तेरे सींग हैं, लोहे के तेरे पैर हैं, तू मन के समान वेगवान् है, इन्द्र भी तेरे आगे तुच्छ है (मन्त्र ९)। जब ये अश्व आकाशमार्ग में उड़ते हैं, तब ऐसा प्रतीत होता है मानों श्रेणिबद्ध होकर हंस उड़ रहे हैं (मन्त्र १०)। हे अश्व, तेरा शरीर उड़ने वाला है, तेरा चित्त वायु के समान वेगवान् है। तेरे शृंग चारों ओर स्थित हैं, वे टूट-टूट कर अरण्यों में गिर जाते हैं (मन्त्र ११)।"

अश्वमेध की पहेली का हल खोजते हुए प्रहेलिकाकार के स्वयं दिये हुए ये संकेत किसी भी प्रकार उपेक्षणीय नहीं हो सकते। क्या अश्व पशु के पक्ष में ये चरितार्थ होते हैं?

इस पहेली का एक हल हम गगन-प्रांगण के तारासमूह में भी पा सकते हैं। गगन में उच्चैःश्रवा नाम का एक तारासमूह है। वह आजकल शरद में पूर्व दिशा में उदित हो, समुद्र से उठकर, क्रमशः ऊपर चढ़ता है, फिर नीचे उतरता है और शिशिर के अन्त में अस्त हो पश्चिम क्षितिज से नीचे चला जाता है। इस यात्रा में यह अश्व प्रारम्भ में मुख ऊपर उठा, अगले पैरों को ऊपर उछाल, पिछले दो पैरों के बल खड़ा हो निक्रमण करता प्रतीत होता है, अगली ऋतु में सीधा चारों पैरों के बल खड़ा हो जाता है, तीसरी ऋतु में मुख नीचे कर पानी पीता एवं घास खाता हुआ सा दृष्टिगोचर होता है। निम्न रेखाचित्रों से इन अवस्थाओं का कुछ अनुमान होता है। इन्हीं स्थितियों का वर्णन सूक्त १६२ में किया[200] गया है। अस्त होना ही इस अश्व का काटा जाना है। पश्चिम क्षितिज के नीचे चले जाने के पश्चात् फिर अगली तीन ऋतुओं में इसके दर्शन नहीं होते। तब वह देवों को अर्पित किया जा रहा होता है। मन्त्र २१ में कहा है कि यह

---

२००. निक्रमणं निषदनं विवर्तनं यच्च पड्वीशमर्वतः। यच्च पपौ यच्च घासिं जघास सर्वा ता ते अपि देवेष्वस्तु॥ ऋग् १. १६२. १४
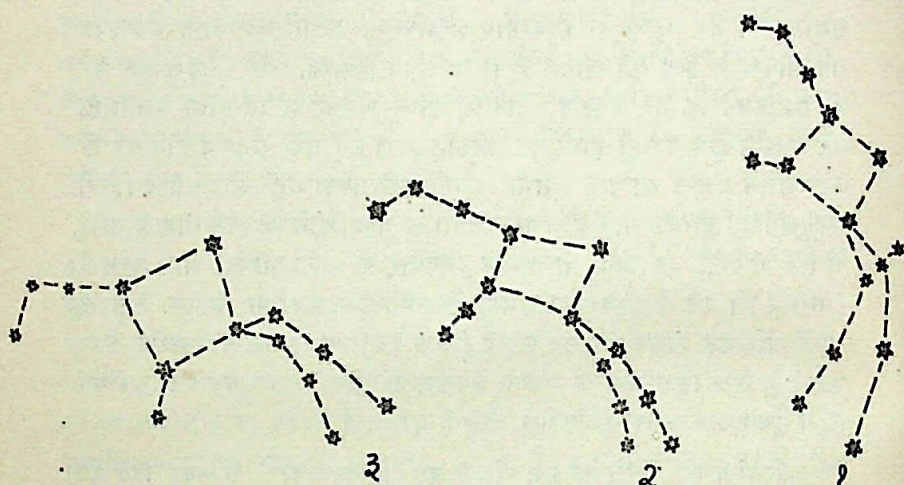
उच्चैःश्रवा अश्व की तीन स्थितियां
१. शरद् : निक्रमणम् २. हेमन्त : निषदनम्
३. शिशिर : पपौ, घासिं जघास

अश्व काटा जाकर भी मरता[२०१] नहीं। सचमुच ही ऐसी बात है, क्योंकि आगे ६ मास के अनन्तर यह पुनः आकाश में उदित दिखायी देता है।

अश्वमेध की पहेली की व्याख्या के सम्बन्ध में ऊपर जो कुछ लिखा गया है, वह संकेतमात्र है। क्रमशः प्रत्येक मन्त्र को लेकर विस्तृत व्याख्या करना इस निबन्ध का क्षेत्र नहीं है। प्रथम ऋग्वेद के, तदनन्तर यजुर्वेद के भी अश्वमेध-प्रकरण की प्रहेलिकात्मक रूप में उपर्युक्त पद्धति से क्रमिक सांगोपांग व्याख्या कर सकना एक कठिन कार्य अवश्य है, तो भी इसमें सन्देह नहीं कि ये प्रसंग हैं पूर्णतः प्रहेलिकारूप ही। जैसा हमने ऊपर संकेत किया है, वेद स्वयं इनके प्रहेलिकात्मक होने की घोषणा करते हैं।

अश्वमेध की ही कोटि के अथर्ववेद के अजमेध-प्रकरण हैं[२०२]। यहां भी बकरे को पका कर स्वर्ग भेजना अभिप्राय नहीं है, किन्तु अज मनुष्य का

---

२०१. व वा उ एतन्म्रियसे न रिष्यसि देवां इदेषि पथिभिः सुगेभिः। ऋग् १. १६२. २१

२०२. अथर्व ४. १४; ६, ५

आत्मा[२०३] है, जिसे परिपक्व करना है, क्योंकि अपरिपक्व आत्मा स्वर्ग या मोक्ष का अधिकारी नहीं हो सकता[२०४]। इन प्रसंगों की प्रहेलिकात्मकता सूचित करने वाले संकेत स्वयं इन्हीं सूक्तों में उपलब्ध हो जाते हैं।

देवों के स्वरूप-निर्णय में सहायता

वेदों की व्याख्या में प्रहेलिकात्मक शैली पर ध्यान देने से वैदिक देवताओं के स्वरूप-निर्णय में भी पर्याप्त सहायता मिलती है। उदाहरणार्थ, हम ऋभु देवताओं को लेते हैं। ऋभुओं की पहेलियां या ऋभुओं के प्रमुख चमत्कार, जो ऋग्वेद में वर्णित किये गये हैं, उनमें से एक है मृत गौ के चर्म से पुनः जीवित गौ बना देना तथा उसे बछड़े से युक्त कर देना।

निश्चर्मण ऋभवो गामपिंशत,
सं वत्सेनासृजता मातरं पुनः। ऋग् १. ११०. ८

सायण ने तो यहां निम्न कथा देकर छुट्टी पा ली है—'पहले कभी किसी ऋषि की गौ मृत हो गयी थी। ऋषि ने उसके वत्स को देख ऋभुओं की स्तुति की। ऋभुओं ने उस गौ के सदृश दूसरी गौ बना कर उसके ऊपर मृत गौ का चर्म चढ़ा दिया और वत्स से उसे युक्त कर दिया[२०५]।' पर यदि हम इसकी प्रहेलिकात्मकता को समझेंगे तो पहेली सुलझाने का भी प्रयत्न करेंगे।

अधिदैवत दृष्टि से गौ भूमि है, चर्म वृष्ट्यभाव से शुष्क भूमि का पृष्ठ है। अनावृष्टि के कारण वह भूमि मृततुल्य होकर चर्मावशेष रह गयी है। वत्स उगा हुआ वृक्ष है। वह अपनी माता भूमि का जल रूपी दूध न मिलने से कुम्हलाया जा रहा है।

---

२०३. अज का आत्मा अर्थ वैदिक साहित्य में प्रसिद्ध है। अज का योगार्थ है 'जन्म न लेने वाला'। शरीर जन्म लेता है, उसमें रहने वाला आत्मा अजन्मा होने से 'अज' है। द्रष्टव्य: ऋग् १०. १६. ४ तथा उसका सायणभाष्य; श्वेता. ४. ५; अज की पहेली ऋग् १. १६४.६।

२०४. इन प्रकरणों की आत्मपरक विस्तृत व्याख्या के लिए द्रष्टव्य: अथर्व वेदभाष्य—सातवलेकर।

२०५. पुरा कस्यचिद् ऋषेर्धेनुर्मृता, स ऋषिस्तस्या धेनोर्वत्सं दृष्ट्वा ऋभूंस्तुष्टाव, ऋभवस्तत्सदृशीमन्यां धेनुं कृत्वा तदीयेन चर्मणा संवीय तेन वत्सेन समयोजयन्। सायण.

ऋभु सूर्य-किरणें हैं, जो वर्षा से उस गौ को पुनरुज्जीवित कर देती हैं, तथा वृक्ष रूपी वत्स उसका दूध पीने लगता है।[२०६]

अधिभूत में गौ सरस्वती या वेदमाता है। वाक् उसका चर्म है, अर्थ दूध है। योग्य गुरु के अभाव में वह सरस्वती चर्मविशेष रह गयी है। शिष्य वत्स है, जो अर्थ रूपी दूध न मिलने से व्याकुल हो रहा है।[२०७] योग्य गुरु रूप सूर्य की उपदेश रूप किरणें माता सरस्वती को पुनः अर्थ से भरपूर दोग्ध्री गौ बना देती हैं, जिससे शिष्य उसका स्तन्यपान करने लगता है।[२०८]

अथवा सचमुच की गाय ही गौ है। वह रोगादि के कारण चर्मविशेष या मृतप्राय हो गयी है, जिससे उसका दूध सूख गया है। ऋभु मेधावी लोग हैं,[२०९] जो उसकी यथायोग्य चिकित्सा कर उसे स्वस्थ एवं दुधारु बना कछड़े से जोड़ देते हैं।

अध्यात्म में मनुष्य की बुद्धि गौ है।[२१०] वह आत्मज्ञान की वर्षा न मिलने से दयनीय तथा मृततुल्य हो रही है। आत्मसूर्य की प्रकाश-रश्मियां बुद्धि को पुनः सजीव कर देती हैं, जिससे मन-रूप वत्स दूध प्राप्त करने लगता है।

इसी प्रकार जादू से एक चमस के चार चमस कर देना, वृद्ध माता-पिता को युवा कर देना आदि ऋभुओं की अन्य पहेलियों[२११] तथा अश्विनौ प्रभृति इतर देवों की पहेलियों के व्याख्यान से उन-उन देवों के स्वरूप का स्पष्टीकरण हो सकता है।

---

२०६. A skin : Perhaps the dried earth. A cow. The earth refreshed by the rains. The Mother : The earth. Her calf: The autumn Sun.-Griffith.
आदित्यरश्मयोऽपि ऋभव उच्यन्ते। निरु. ११.१४

२०७. "गौः श्रुतिः। वत्सं पुत्रभावमापन्नं शिष्यम्।" अस्यवामीय सूक्त, ऋग्, १.१६४, मन्त्र २८ का आत्मानन्दकृत भाष्य।

२०८. तुलनीयः यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि।
यो रत्नधा वसुविद् यः सुदत्रः सरस्वति तमिह धातवे कः॥
ऋग् १.१६४.४९

२०९. ऋभुः मेधावी, नि. ३.१५

२१०. "बुद्धिस्वरूपिणीं धेनुम्।" अस्यवामीयसूक्त, ऋग् १. १६.४, मन्त्र ४० का आत्मानन्दकृत भाष्य।

२११. ऋभुओं की अन्य पहेलियों की व्याख्या के लिए द्रष्टव्य : ऋभुदेवता, भगवद्दत्त वेदालंकार।

इतने विवेचन से हमारे विचार में वैदिक पहेलियों का स्वरूप तथा वेद में प्रहेलिकात्मक शैली के विचार का महत्त्व स्पष्ट हो गया है, यद्यपि इस अध्याय में अन्य भी अनेक वैदिक प्रकरणों पर विचार किया जा सकता था। वेदों के अधिकतर वर्णन प्रहेलिकात्मक होने से अगले अध्यायों में भी, यद्यपि वे इतर शैलियों को लेकर लिखे गये हैं, इस शैली के उदाहरण हमारे संमुख आयेंगे।

तृतीय अध्याय

आत्मकथात्मक शैली

अब हम वेदों की आत्मकथात्मक शैली पर विचार करेंगे। इस शैली में कोई देव, मनुष्य आदि अपनी कथा स्वयं वर्णित करता है। उसमें उज्ज्वल पक्ष तथा कृष्ण पक्ष दोनों हो सकते हैं। उज्ज्वल पक्ष में वह आत्मप्रशस्ति, अपने गौरवगीत, अपने महत्त्वपूर्ण कार्य, आत्मविजयोल्लास, अपनी उमंग, अपनी महत्त्वाकांक्षा आदि का वर्णन करता है। कृष्ण पक्ष में वह अपनी हीन दशा पर परिदेवन करता है। वेदों में इस शैली का प्रचुर प्रयोग मिलता है। कुछ प्रसंग यहां प्रस्तुत किये जाते हैं।

इन्द्र की आत्म-स्तुतियां

प्रथम आत्मस्तुति

ऋग् ४.२६ में इन्द्र निम्न प्रकार आत्मस्तुति करता है—

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा ॥१॥
अहं भूमिमददामार्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय।
अहमपो अनयं वावशाना मम देवासो अनु केतमायन् ॥२॥
अहं पुरो मन्दसानो व्यैरं नव साकं नवतीः शम्बरस्य।
शततमं वेश्यं सर्वताता दिवोदासमतिथिग्वं यदावम् ॥३॥

मैं ही मनु हूं और सूर्य हूं। मैं ही कक्षीवान्, ऋषि तथा विप्र हूं। मैं ही अर्जुनी के पुत्र कुत्स को नितरां अलंकृत करता हूं। मैं ही कवि तथा उशनस् हूं। हे मनुष्यो, मुझे देखो (मन्त्र १)[1]। मैंने ही आर्य को भूमि प्रदान की है। मैंने ही दानी मर्त्य को वृष्टि प्रदान की है। मैंने ही शब्द करती हुई नदियां बहायी हैं। सब देव मेरे ही संकल्प के अनुसार चलते हैं (मन्त्र २)। मैंने

---

१. ऐतिहासिक पक्षानुसार मनु आदि व्यक्तिवाचक नाम हैं। यौगिक पक्ष में इनके निम्न अर्थ होंगे। मनु=सर्वज्ञ प्रजापति, 'सर्वस्य मन्ता प्रजापतिः,' सायण। सूर्य=सूर्यवत् प्रकाशक, 'सूर्यः सूर्य इव प्रकाशकः', दयानन्द। कक्षीवान्=कटिबद्ध, 'कक्षीवान् कक्ष्यावान्', निरु. ६.१०,। ऋषि=द्रष्टा, 'ऋषिर्दर्शनात्,' निरु.२.११। विप्र=मेधावी, नि. ३.१५। कवि=क्रान्तदर्शी, निरु. १२.१२। उशनस्=सर्वहितेच्छु 'उशनाः सर्वहितं कामयमानः', दयानन्द।

सोमपान से आनन्दित होकर शम्बर की एकसाथ निन्यानवे पुरियों को विध्वस्त कर दिया। युद्ध में अतिथिग्व दिवोदास की जब मैंने रक्षा की तब सौवीं पुरी उसे निवास के लिए दे दी (मन्त्र ३)।

द्वितीय आत्मस्तुति

ऋग् १०.२७ में इन्द्र वसुक्र को अपनी महिमा बता रहा है—

असत् सु मे जरितः साभिवेगो यत् सुन्वते यजमानाय शिक्षम्।
अनाशीर्दामहमस्मि प्रहन्ता सत्यध्वृतं वृजिनायन्तमाभुम् ॥१॥
यदीदहं युधये संनयान्यदेवयून् तन्वा शूशुजानान्।
अमा ते तुम्रं वृषभं पचानि तीव्रं सुतं पञ्चदशं निषिञ्चम् ॥२॥
नाहं तं वेद य इति ब्रवीत्यदेवयून्त्समरणे जगन्वान्।
यदावाख्यत् समरणमृघावदादिद्ध मे वृषभा प्र ब्रुवन्ति ॥३॥
यदज्ञातेषु वृजनेष्वासं विश्वे सतो मघवानो म आसन्।
जिनामि वेत् क्षेम आ सन्तमाभुं प्र तं क्षिणां पर्वते पादगृह्य ॥४॥
न वा उ मां वृजने वारयन्ते न पर्वतासो यदहं मनस्ये।
मम स्वनात् कृधुकर्णो भयात एवेदनु द्यून् किरणः समेजात् ॥५॥
दर्शं न्वत्र शृतपां अनिन्द्रान् बाहुक्षदः शरवे पत्यमानान्।
घृषुं वा ये निनिदुः सखायमध्यू न्वेषु पवयो ववृत्युः ॥६॥
अत्रेदु मे मंससे सत्यमुक्तं द्विपाच्च यच्चतुष्पात् संसृजानि।
स्त्रीभिर्यो अत्र वृषणं पृतन्यादयुद्धो अस्य विभजानि वेदः ॥१०॥

हे स्तोता, मेरा यह स्वभाव है कि मैं सोमयाग के अनुष्ठाता यजमान को अभिलषित फल प्रदान करता हूँ। जो दूसरों को आशीर्वाद नहीं देते उनका मैं प्रहन्ता हूँ। सत्य का उच्छेद करने वाले पापेच्छु का भी मैं विनाशक हूँ (मन्त्र १)। देवयजन न करने वाले, प्रत्युत केवल शरीर के प्रसाधन में प्रवृत्त रहने वालों को मैं युद्ध का पात्र बनाता हूँ। साथ ही मैं हृष्टपुष्ट वृषभ को परिपक्व करता हूँ, तथा उसमें पन्द्रहवीं सोम की कला निषिक्त कर देता हूँ (मन्त्र २)[2]। अपने अतिरिक्त मुझे ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिला जो यह कह सके कि मैंने युद्ध में देवद्वेषियों का ही वध किया है। जब कोई हिंसामय संग्राम की मुझे सूचना देता है, तब मेरे वीरतापूर्ण कार्यों की सब प्रशंसा करते हैं (मन्त्र ३)। जब अपरिज्ञात संग्रामों में मैं प्रवृत्त होता हूँ, तब धन-धान्यादि से युक्त समस्त जन सहायतार्थ मेरे समीप आ जाते हैं। जगत्-कल्याण के निमित्त मैं महान् शत्रु का वध कर देता हूँ, उसे पैरों से पकड़ कर पर्वत पर दे मारता

---

२. इस मन्त्र की व्याख्या के लिए देखिये, पृ० ८९।

हूँ (मन्त्र ४)। युद्ध में मुझे रोकने वाला कोई नहीं है। जो कुछ करने का मैं संकल्प कर लेता हूं, उसमें पर्वत भी रुकावट नहीं डाल सकते। मेरे सिंहनाद से वधिर भी भयभीत हो उठता है। मेरे ही शासन में प्रतिदिन किरणों वाला सूर्य गति करता है (मन्त्र ५)। जो लोग मुझ इन्द्र में विश्वास नहीं लाते, जो देवार्थ परिपक्व हवियों को छीन कर पी जाते हैं, जो बाहुओं पर ताल ठोकते हुए हिंसा के लिए वेगपूर्वक आते हैं, उन्हें मैं देख लेता हूँ। जो मुझ महान् सखा की निन्दा करते हैं उनके ऊपर मेरे वज्र गिरते हैं (मन्त्र६)। मैंने यहाँ जो कुछ कहा है वह सत्य है, निश्चय जानो। जो द्विपात् और चतुष्पात् है, उस सबकी मैं सृष्टि करता हूँ। जो स्त्रियों से बलवान् को युद्ध करने के लिए भेजता है, उसका धन विना युद्ध के ही हर कर मैं दूसरों में विभक्त कर देता हूँ (मन्त्र १०)।

तृतीय आत्मस्तुति

ऋग् १०.४८ में इन्द्र निम्न प्रकार आत्म-परिचय देता है—

अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि संजयामि शश्वतः।
मां हवन्ते पितरं न जन्तवोऽहं दाशुषे विभजामि भोजनम् ॥१॥
अहमिन्द्रो रोधो वक्षो अथर्वणस्त्रिताय गा अजनयमहेरधि।
अहं दस्युभ्यः परि नृम्णमा ददे गोत्रा शिक्षन् दधीचे मातरिश्वने ॥२॥
मह्यं त्वष्टा वज्रमतक्षदायसं मयि देवासोऽवृजन्नपि क्रतुम्।
ममानीकं सूर्यस्येव दुष्टरं मामार्यन्ति कृतेन कर्त्वेन च ॥३॥
अहमेतं गव्यमश्व्यं पशुं पुरीषिणं सायकेना हिरण्ययम्।
पुरू सहस्रा नि शिशामि दाशुषे यन्मा सोमास उक्थिनो अमन्दिषुः ॥४॥
अहमिन्द्रो न पराजिग्य इद्धनं न मृत्यवेऽव तस्थे कदाचन।
सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु न मे पूरवः सख्ये रिषाथन ॥५॥
अहमेताञ्छाश्वसतो द्वा द्वेन्द्रं ये वज्रं युधयेऽकृण्वत।
आह्वयमानां अव हन्मनाहनं दृढा वदन्ननमस्युर्नमस्विनः ॥६॥
अभीदमेकमेको अस्मि निष्षाळभी द्वा किमु त्रयः करन्ति।
खले न पर्षान् प्रति हन्मि भूरि किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः ॥७॥
अहं गुङ्गुभ्यो अतिथिग्वमिष्करमिषं न वृत्रतुरं विक्षु धारयम्।
यत् पर्णयघ्न उत वा करञ्जहे प्राहं महे वृत्रहत्ये अशुश्रवि ॥८॥
प्र मे नमी साप्य इषे भुजे भूद् गवामेषे सख्या कृणुत द्विता।
दिद्युं यदस्य समिथेषु मंहयमादिदेनं शंस्यमुक्थ्यं करम् ॥९॥
प्र नेमस्मिन् ददृशे सोमो अन्तर्गोपा नेममाविरस्था कृणोति।
स तिग्मशृङ्गं वृषभं युयुत्सन् द्रुहस्तस्थौ बहुले बद्धो अन्तः ॥१०॥

आदित्यानां वसूनां रुद्रियाणां देवो देवानां न मिनामि धाम ।
ते मा भद्राय शवसे ततक्षुरपराजितमस्तृतमषाढम् ॥११॥

मैं ही धन का मुख्य अधिपति हूँ, मैं सदा ही शत्रु के धनों को जीत लेता हूँ। मुझे ही सब जन्तु पिता के समान पुकारते हैं। मैं ही दानी को भोजन बांटता हूँ (मन्त्र १)। मैं इन्द्र हूँ, मैं ही अथर्वा की छाती को युद्ध में पराङ्मुख होने से रोकने वाला हूँ।[3] मैं ही त्रित के लिए मेघावरण में से गौओं को प्रकट करता हूँ।[4] मैं दस्युओं से धन व बल छीन लेता हूँ। मैं ही दध्यङ् और मातरिश्वा के लिए गौओं के आरोधक को दण्डित करता हूँ (मन्त्र २)। मेरे लिए ही त्वष्टा ने लौह वज्र का निर्माण किया था। मुझ में ही देवगण अपने-अपने कर्म को समर्पित करते हैं। मेरा स्वरूप सूर्य के समान दुस्तर है। कृत तथा करिष्यमाण कर्म से सब जन मुझे ही प्राप्त होते हैं (मन्त्र ३)। मैं इस गोसमूह को, अश्वसमूह को तथा दुग्धामृत देने वाले अन्य हिरण्यालंकार-धारी पशुओं को अपने वज्र द्वारा बहुत अधिक सहस्रों की संख्या में आत्म-समर्पक भक्त के लिए दिलवा देता हूँ, क्योंकि उसके मन्त्रपाठयुक्त सोमरस मुझे तृप्ति प्रदान करते हैं (मन्त्र ४)। मैं इन्द्र हूँ, मन को कभी हार नहीं सकता, मैं कभी मृत्यु का भाजन नहीं बनता। हे मनुष्यो, सोमसवन करते हुए ही मुझसे धन की याचना करो, तुम मेरे सख्य में विनाश को प्राप्त नहीं होगे (मन्त्र ५)। ये जो दो-दो मिलकर मुझ वज्रधारी इन्द्र को युद्ध के लिए बाध्य करते हैं, उन प्रबल सांस लेने वाले, ललकारने वाले, किन्तु अन्ततः

३. अथर्वा=अविचल वीर। अथर्वाणोऽथर्वणवन्तः, थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रति-षेधः, निरु. ११.१७। सायण ने 'रोधो वक्षो अथर्वणः' का निम्न इतिहास-परक अर्थ किया है—"मैं ही, (अथर्वणः) अथर्वा के पुत्र दध्यङ् का, (वक्षः) सिर, (रोधः) काटने वाला हूँ। अथर्वा के पुत्र दध्यङ् को इन्द्र ने कहा था कि तुम मधुविद्या किसी को न सिखाना, अन्यथा तुम्हारा सिर काट दूंगा। पर दध्यङ् ने अश्विदेवों को मधुविद्या सिखा दी, अतः इन्द्र ने उसका सिर काट डाला।"

४. त्रिताय गा अजनयम् अहेः अधि। त्रित है आत्मिक, मानसिक, शारीरिक तीनों दृष्टियों से समृद्ध मनुष्य। वह दुर्भाग्य से कूप-पतित अर्थात् दुर्गति को प्राप्त हो जाता है, उसके सम्मुख अविवेक का आवरण छा जाता है। उस अवस्था में इन्द्र उसे ज्ञान-प्रकाश की किरणें प्रदान करता है। कूपपतित त्रित की पुकार के लिए द्रष्टव्यः ऋग् १.१०५.८ तथा निरु. ४.६।

झुक जाने वाले शत्रुओं को कभी न झुकने वाला मैं दृढ वचन वोलता हुआ वज्र से मार गिराता हूँ (मन्त्र ६)। मैं अकेला ही इस एक अद्वितीय शत्रु को परास्त कर सकता हूँ, दो को भी परास्त कर सकता हूँ, तीन भी मेरा क्या विगाड़ सकते हैं। खलिहान में पूलों के समान बहुत से शत्रुओं को मैं कुचल डालता हूँ। मुझ इन्द्र को न मानने वाले ये शत्रु मेरी क्या निन्दा कर रहे हैं (मन्त्र ७)। मैं गुंगुजनों की रक्षा के लिए संस्कर्ता, शत्रुहिंसक अतिथिग्व को अन्न के समान प्रजाओं में धृत करता हूँ। पर्णय के संहारक, करंज के संहारक, वृत्र के संहारक महान् युद्ध में मैं विश्रुत हो चुका हूँ (मन्त्र ८)। जो मेरे आगे झुकता है वह पूजार्ह हो जाता है, अन्न की प्राप्ति में तथा उसके भोग में एवं गौओं की प्राप्ति में समर्थ हो जाता है। अतः हे मनुष्यो, तुम भी मेरे साथ अन्दर-बाहर दोनों प्रकार की मैत्री करो। ज्यों ही मैं अपने स्तोता को शस्त्र प्रदान करता हूँ, त्यों ही इसे प्रशंसनीय तथा स्तुति का अधिकारी बना देता हूँ (मन्त्र ६)। मैं देव हूँ, आदित्यों, वसुओं तथा रुद्र देवों के धाम को मैं बिनष्ट नहीं करता। भद्र वल की प्राप्ति के लिए वे मुझ अपराजित, अहिंसित, अनभिभूत इन्द्र की ही स्तुति करते हैं (मन्त्र ११)।"

चतुर्थ आत्मस्तुति

इसी आत्म-स्तुति को प्रवृत्त रखता हुआ इन्द्र आगे ऋग् १०. ४६ में निम्न उद्‌गार प्रकट करता है—

अहं दां गृणते पूर्व्यं वस्वहं ब्रह्म कृणवं मह्यं वर्धनम्।
अहं भुवं यजमानस्य चोदिताऽयज्वनः साक्षि विश्वस्मिन् भरे ॥१॥
मां धुरिन्द्रं नाम देवता दिवश्च ग्मश्चापां च जन्तवः।
अहं हरी वृषणा विव्रता रघू अहं वज्रं शवसे धृष्ण्वा ददे ॥२॥
अहमत्कं कवये शिश्नथं हथैरहं कुत्समावमाभिरूतिभिः।
अहं शुष्णस्य श्नथिता वधर्यमं न यो रर आर्यं नाम दस्यवे ॥३॥
अहं पितेव वेतसूं रभिष्टये तुग्रं कुत्साय स्मदिभं च रन्धयम्।
अहं भुवं यजमानस्य राजनि प्र यद् भरे तुजये न प्रियाधृषे ॥४॥
अहं रन्धयं मृगयं श्रुतर्वणे यन्माजिहीत वयुना चनानुषक्।
अहं वेशं नम्रमायवेऽकरमहं सव्याय पड्गृभिमरन्धयम् ॥५॥
अहं स यो नववास्त्वं बृहद्रथं सं वृत्रेव दासं वृत्रहारुजम्।
यद् वर्धयन्तं प्रथयन्तमानुषग् दूरे पारे रजसो रोचनाकरम् ॥६॥
अहं सूर्यस्य परियाम्याशुभिः प्रैतशेभिर्वहमान ओजसा।
यन्मा सावो मनुष आह निर्णिज ऋधक् कृषे दासं कृत्व्यं हथैः ॥७॥

अहं सप्तहा नहुषो नहुष्टरः प्राश्रावयं शवसा तुर्वशं यदुम् ।
अहं न्यन्यं सहसा सहस्करं नव ब्राधतो नवतिं च वक्षयम् ॥८॥
अहं सप्त स्रवतो धारयं वृषा द्रवित्न्वः पृथिव्यां सीरा अधि ।
अहमर्णांसि वितिरामि सुक्रतुर्यु वा विदं मनवे गातुमिष्टये ॥९॥
अहं तदासु धारयं यदासु न देवश्चन त्वष्टाधारयद्रुशत् ।
स्पार्हं गवामूधःसु वक्षणास्वा मधोर्मधु श्वात्र्यं सोममाशिरम् ॥१०॥

मैं अपने स्तोता को श्रेष्ठ ऐश्वर्य प्रदान करता हूँ, मैंने स्तोत्र को अपना वर्धक बनाया है। मैं यजमान का प्रेरक होता हूँ। सब संग्रामों में अयज्वा लोगों को परास्त करता हूँ। (मन्त्र १)। इन्द्र नाम वाले मुझको ही सब देवता तथा काकाश, भूमि एवं जलों के जन्तु अपने अन्दर धृत करते हैं। मैं रथों में बलवान्, विविध कर्मों वाले, फुर्तीले घोड़ों को नियुक्त करता हूँ। मैं बल के लिए धर्षक वज्र को ग्रहण करता हूँ (मन्त्र २)। मैंने कवि के मंगल के लिए अत्क को प्रहारों से ताडित किया। मैं रक्षाओं के साथ कुत्स के समीप पहुँचा। मैंने शुष्णासुर को शिथिल किया तथा उस पर वज्र-प्रहार किया। दस्यु को मैंने आर्य नाम नहीं दिया (मन्त्र ३)। मैंने पिता के समान होकर वेतसु जनपदों को तथा तुग्र एवं स्मदिभ को कुत्स के वश कर दिया। मैं यजमान को श्री-सम्पन्न करने वाला हूँ, पुत्र के समान उसे शत्रुओं के धर्षण के लिये प्रिय वस्तु प्रदान करता हूँ (मन्त्र ४)॥ मैंने मृगय को श्रुतर्वा ऋषि के वश कर दिया, क्योंकि वह मेरे समीप आया तथा स्तोत्र से उसने मुझे रिझाया। मैंने आयु के हितार्थ वेश को नम्र कर दिया, मैंने पड्गृभि को सव्य के वश कर दिया (मन्त्र ५)। मैं वह हूँ जिसने नई-नई हवेलियां खड़ी कर लेने वाले, बृहद् रथों वाले शत्रु का वृत्रों के समान भंजन कर दिया था, तथा बढ़ते एवं प्रख्यात होते हुए उसे मैंने द्युलोक के भी परले पार फेंक दिया था (मन्त्र ६)। एतशवर्ण, आशुगामी अश्वों से वहन किया जाता हुआ मैं अपने ओज से सूर्य की परिक्रमा करता हूँ। जब सोमाभिषव करने वाला मनुष्य मुझे कहता है, तब उसके यज्ञ को उज्ज्वल रखने के लिए मैं हन्तव्य शत्रु को प्रहारों से दूर भगा देता हूँ (मन्त्र ७)। मैं सात बड़े-बड़े असुरों का हन्ता हूँ, मैं बन्धनकर्ता को भी बन्धन में डालने वाला हूँ। मैंने तुर्वश तथा यदु को बल से प्रख्यापित कर दिया। मैंने अपने अन्य स्तोता को भी बल से बली बना दिया तथा फूलते-फलते निन्यानवे शत्रुओं को विनष्ट कर दिया (मन्त्र ८)। वर्षा करने वाले मैंने पृथिवी पर प्रवहणशील सात नदियों को बहाया है। शोभन कर्म वाला मैं प्रचुर जल प्रदान करता हूँ। मनुष्य के यज्ञार्थ युद्ध करके मैं उसे मार्ग प्राप्त कराता हूँ (मन्त्र ९)। गौओं के ऊधसों में तथा नदियों में आगामी

वर्षा काल तक के लिए मैं उस द्रुतगामी, मधुर, चमकीले दुग्ध एवं जलरूप सोम को धृत करता हूँ, जिसे इनमें देवशिल्पी त्वष्टा भी धृत नहीं कर सका था (मन्त्र १०)।

इन्द्र-स्तुतियों पर एक दृष्टि

इन्द्र ने आत्मस्तुतियों में अपने महत्त्वपूर्ण कार्यों का उल्लेख किया है। उनमें कुछ सृष्टि-रचना तथा प्रकृति सम्बन्धी हैं; यथा, वृष्टि करना, सरिताएं प्रवाहित करना, द्विपाद्-चतुष्पात् सबको जन्म देना, गौओं के ऊधसों में दुग्ध-रूप सोम तथा नदियों में जल रूप सोम निहित करना। दूसरे कर्म इस प्रकार के हैं जिनसे नैतिकता को बल मिलता है। उदाहरणार्थ, इन्द्र आर्य को भूमि देता है, दानशील पर ही धनादि की वृष्टि करता है, धर्म-कर्म को तिलांजलि दे शरीर के ही श्रृंगार में लगे रहने वालों से युद्ध करता है, केवल देव-द्वेषियों का ही वध करता है, देवसमर्थकों का नहीं, और इस गुण में वह अन्यों से विलक्षण होने का दम भरता है, तथा कहता है, कि मेरे अतिरिक्त अन्य ऐसा कोई नहीं मिलेगा। इन्द्र के तीसरे प्रकार के कर्म युद्ध-सम्बन्धी हैं। युद्धकला में वह अद्वितीय है, जहां अपने सखाओं को संकट में देखता हैं, युद्ध के लिए पहुँच जाता है तथा प्रतिद्वन्द्वियों को वज्राघात से संचूर्णित कर देता है। चौथे, इन आत्म-स्तुतियों में कुछ इतिवृत्तों का संकेत हुआ है, जिनकी व्याख्या निम्न प्रकार हो सकती है।

१. इन्द्र ने अर्जुनी के पुत्र कुत्स को अलंकृत किया (ऋग् ४.२६.१)। प्रकृति में अर्जुनी शुभ्र उषा[५] है, इसका पुत्र सूर्य है।[६] मालिन्य का कर्तन करने के कारण यह कुत्स[७] कहाता है। इसे इन्द्र ने ही अलंकृत किया हुआ है। अधि-भूत में गुणवती माता अर्जुनी है, यतः कवि-सम्प्रदाय में गुणों का रंग श्वेत माना जाता है। उसका ऋषि-कोटि का स्तुतिकर्ता पुत्र भी कुत्स है।[८] उसे भी सद्गुणादि से अलंकृत इन्द्र ही करता है। ऐतिहासिक पक्षानुसार अर्जुनी का पुत्र कुत्स नाम का कोई ऋषि-विशेष था, जिसे इन्द्र ने अलंकृत किया था।

---

५. अर्जुनी = उषा। नि. १. ८। द्रष्टव्य: ऋग् १. ४९. ३

६. रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागात् ऋग् १. ११३. २। रुशद्वत्सा सूर्यवत्सा।... सूर्यमस्या वत्समाह साहचर्याद् रसहरणाद् वा। निरु. २. २०

७. कुत्स इत्येतत् कृन्ततेः (कृती छेदने)। निरु. ३. ३१

८. ऋषिः कुत्सो भवति, कर्त्ता स्तोमानामित्यौपमन्यवः। निरु. ३.११

२. इन्द्र ने शम्बर की निन्यानवे पुरियों को विध्वस्त किया तथा उसकी सौवीं पुरी अतिथिग्व[९] दिवोदास को दे दी (ऋग् ४. २६. ३)। नैरुक्त मतानुसार शम्बर मेघ का नाम है।[१०] दिवोदास सूर्य हुआ, यतः वह प्रकाश का दाता है[११]। सूर्य तथा मेघ का युद्ध होता है। मेघ मानों सौ पुरियों का दुर्ग बनाकर आकाश में निवास करता है। इन्द्र इस युद्ध में सूर्य की सहायता करता है तथा मेघ की निन्यानवे पुरियों को विध्वस्त कर उसे नीचे भूमि पर गिरा देता है, जो सौवीं पुरी अवशिष्ट रहती है, उसे सूर्य को दे देता है तथा सूर्य-किरणें मेघलोक अन्तरिक्ष में निर्बाध निवास करने लगती हैं।[१२]

३. इन्द्र ने दध्यङ् और मातरिश्वा के लिए गौओं के आरोधक को दण्डित किया (ऋग् १०.४८. २)। दध्यङ् निरुक्त में द्युस्थानीय देवों में पठित है तथा इसका अर्थ आदित्य है।[१३] मातरिश्वा वायु है,[१४] गौ रश्मियां हैं,[१५] जिनका आरोधक मेघ या रात्र्यन्धकार है। इन्द्र मेघ को बरसा कर तथा रात्र्यन्धकार को छिन्न-भिन्न करके सूर्य तथा वायु को पुनः रश्मियां प्रदान करता है।[१६]

---

९. अतिथिग्व के लिए द्रष्टव्य : संख्या ४।

१०. नि. १.१०

११. दिवः प्रकाशस्य दासः दाता (दासतिः ददातिकर्मा नि. ३.२०) दिवोदासं विज्ञानमयस्य प्रकाशस्य दातारम्—इस मन्त्र का दयानन्दभाष्य।

१२. सायण-प्रदर्शित ऐतिहासिक पक्षानुसार दिवोदास इस नाम का राजर्षि था, वह अतिथियों का अभिगन्ता होने से अतिथिग्व कहलाता था—'अतिथिग्वम् अतिथीनामभिगन्तारं दिवोदासं दिवोदासनामकं राजर्षिम्।' इन्द्र ने शम्बरासुर की निन्यानवे पुरियों को विध्वस्त कर उसकी सौवीं पुरी दिवोदास के लिए प्रवेशार्ह (वेश्य) कर दी थी।

१३. निरु. १२.३३

१४. मातरिश्वा वायुः, मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति, मातरि आशु अनितीति वा। निरु. ७.२६

१५. सर्वेऽपि रश्मयो गाव उच्यन्ते। नि. २.७

१६. सायण ने यह इतिहासपरक अर्थ किया है कि इन्द्र ने मातरिश्वा के पुत्र दध्यङ् ऋषि के लिए, जो कि वर्षा की कामना कर रहा था, जलों के रोधक मेघों को दण्डित कर बरसाया—'गोत्रा गवामुदकानां रक्षकान् मेघान् शिक्षन् विनयन्, किमर्थम्? मातरिश्वने मातरिश्वनः पुत्राय दधीचे एतन्नामकाय ऋषये वर्षकामाय प्रवर्षयितुमिच्छन्।'

४. इन्द्र ने गुंगुओं की रक्षार्थ अतिथिग्व को प्रजाओं में धृत किया (ऋग् १०.४८.८)। ऐतिहासिक पक्ष में गुंगु नामक जनपद-विशेष हैं, अतिथिग्व अतिथिगु का पुत्र[१७] दिवोदास ऋषि है। नैरुक्त पक्ष में गुंगु भूमि पर विचरने वाले मनुष्यादि प्राणी हो सकते हैं।[१८] दिवोदास पूर्व प्रदर्शित हेतु से सूर्य है। वह अतिथिग्व इस कारण है, क्योंकि चान्द्र तिथियों से अनुसार नहीं, प्रत्युत सौर वासरों के अनुसार आवागमन करता है[१९]। अथवा, अतिथि रूप में आने के कारण वह अतिथिग्व है।[२०] इन्द्र उस सूर्य का प्रकाश प्रजाओं में धृत करता है।

५. इन्द्र ने पर्णय, करंज और वृत्र का संहार किया (ऋग् १०.४८.८)। ऐतिहासिक पक्ष में ये इस नाम के असुर हैं, पर नैरुक्त पक्ष में ये सब मेघवाची हैं। वृत्र के विषय में तो निरुक्त में स्पष्ट ही कहा है कि ऐतिहासिक इसे त्वष्टा का पुत्र असुर मानते हैं, किन्तु नैरुक्तों के मत में यह मेघ है[२१]। मेघ मानों पंख लगा कर उड़ता है, अतः इसे पर्णय कहा[२२]। करंज शब्द उत्तरकालीन साहित्य में एक वृक्ष का वाची है। अमरकोश की टीका में क्षीरस्वामी ने इसका निर्वचन किया है 'कं रञ्जयतीति' अर्थात् जो पानी को रंग देता है। मेघ में भी निर्मल जल कृष्णवर्ण या धूमिल रूप में प्रतीत होता है।

---

१७. अतिथिग्वम् अतिथिगोः पुत्रं दिवोदासम् ऋषिम् – सायण। यह नाम ऋग्वेद में १३ बार प्रयुक्त हुआ है, कहीं दिवोदास के साथ और कहीं अकेला। सायण ने प्रायः सर्वत्र इसे दिवोदास के लिए ही प्रयुक्त माना है, यद्यपि इसका अर्थ 'अतिथिगु का पुत्र' केवल इसी प्रसंग में किया है। अन्यत्र 'अथितियों से गन्तव्य' (ऋग् १.५१ ६; १.११२.४), 'अतिथियों का अभिगन्ता' (ऋग् ४. २६. ३; ६.१८. १३; ६.२६.३), या 'पूजार्थ अतिथियों के पास जाने वाला' (ऋग १. १३०. ७; ७.१९.८) अर्थ किया है।

१८. गवि भूमौ गच्छन्तीति गुंगवः।

१९. न तिथिषु गच्छतीति। द्रष्टव्यः ऋग् ८.४८.७

२०. अतिथिरिव गच्छतीति अतिथिग्वः। सूर्य अतिथि है, एतदर्थ द्रष्टव्यः ऋग् ६.७.१

२१. तत् को वृत्रः ? मेघ इति नैरुक्ताः, त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः। निरु. २.१७

२२. पर्णैः पक्षैः यातीति पर्णयः।

६. इन्द्र ने कवि के हितार्थ अत्क को प्रहारों से ताडित किया (ऋग् १० ४९. ३)। कवि सूर्य है[२३]। अत्क उसे ग्रसने वाला राहु है,[२४] जिसे ताडित कर इन्द्र सूर्य की रक्षा करता है। ऐतिहासिक पक्ष में कवि उशनस् ऋषि है, उसके सुखपूर्वक निवास के लिए इन्द्र ने उसके शत्रु के पुत्र अत्क को ताडित किया था।

७. इन्द्र ने शुष्ण पर वज्रप्रहार कर उसका वध किया (ऋग् १०.४९.३)। ऐतिहासिक पक्ष में यह एक असुर था, जिसे इन्द्र ने अपने वज्र से मारा था। नैरुक्त पक्ष में शुष्ण का अर्थ शोषक है, यह वृष्टि का प्रतिबन्धक होकर खेतों की फसल व वृक्ष-वनस्पतियों को सुखा देता है। इन्द्र शुष्ण के दुर्गों को ध्वस्त कर जलों को तथा गौओं (सूर्य-रश्मियों) को मुक्त करते हैं, ऐसा वेद में अन्यत्र वर्णन आता है[२५]। एवं वृष्टि-प्रतिबन्धक भौगोलिक कारण ही शुष्ण है, जिसका इन्द्र अपने वज्र से वध करते हैं। अधिभूत में सज्जनों का शोषण करने वाले लोग शुष्ण हैं। वे भी इन्द्र के वज्र से ताडित होते हैं।

८. इन्द्र ने तुग्र एवं स्मदिभ को कुत्स के वश कर दिया (ऋग् १०.४९.४)। यहां भी सूर्य-मेघ परक व्याख्या संगत हो जाती है। अन्धकार का कर्तन करने वाला सूर्य कुत्स है, तुग्र और स्मदिभ मेघसेना के ही सेनापति हैं। तुग्र का योगार्थ हिंसक है[२६]। स्मादिभ का अर्थ है उद्दाम गज के समान उन्मत्त[२७]। ये दोनों योगार्थ मेघखण्डों में चरितार्थ हो जाते हैं। इन्द्र ऐसे मेघों को सूर्य के

---

२३. विश्वा रूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः ... अनु प्रयाणमुषसो विराजति। ऋग् ५. ८१. २

२४. अत्ति ग्रसते इति अत्कः। राहु द्वारा सूर्यग्रहण के लिये द्रष्टव्यः ऋग् ५.४०.५-९; शत. ५.३.२.२; ता. ब्रा. ४.५.२; गो. ब्रा. उ. ३. १९

२५. द्रष्टव्य : ऋग् १.५१.११; ८.९६.१७

२६. तुजि हिंसाबलादाननिकेतनेषु। द्रष्टव्यः ऋग् १.१६३.३ का स्वामी दयानन्द कृत भाष्य—'तुग्रः शत्रुहिंसकः सेनापतिः।'

२७. 'स्मत् इति प्रशस्तवचनः' ऋग् ७. ३. ८ का सायणभाष्य। स्मद् इभः उद्दामगज इत्यर्थः। स्मत् के साथ समस्त स्मदूध्नीः (ऋग् १.७३.६), स्मद्दिष्टिः (ऋग् ३.४५.५), स्मत्पुरंधिः (ऋग् ८.३४.६), स्मदभीशू (ऋग् ८.२५.२४), स्मद्रातिषाचः (ऋग् ८.२८.२) आदि में सायण ने स्मत् को प्रशस्तवाची मान कर योगार्थ किया है। तदनुरूप स्मदिभ का भी यहां योगार्थ दर्शाया गया है।

वश कर देता है। ऐतिहासिक पक्ष में कुत्स एक महर्षि था। तुग्र और स्मदिभ उसके शत्रु थे। इन्द्र ने उन्हें कुत्स के वश कर दिया था।

९. मृगय तथा श्रुतर्वा के विरोध में इन्द्र ने श्रुतर्वा को विजय दिलायी (ऋग् १०.४९.५)। शास्त्र के अनुकूल चलने वाला मनुष्य श्रुतर्वा है (श्रुत + ऋ गतौ), तथा मृगतुल्य मुग्ध एवं शुद्धहृदय जनों को पीड़ित करने वाला व्यक्ति मृगय है।[२८] इसका विरोध होने पर सदा ही इन्द्र श्रुतर्वा को जिताता रहा है। ऐतिहासिक पक्षानुसार इन्द्र ने मृगय नामक असुर को श्रुतर्वा नामक महर्षि के वश किया था।

१०. इन्द्र ने आयु के हितार्थ वेश को नम्र कर दिया। (ऋग् १०.४९.५)। आयु निघण्टु में मनुष्यवाची है।[२९] वेश का यौगिक अर्थ है जो बरमे के समान तीव्रता से अन्दर प्रविष्ट होता चला जाये।[३०] मनुष्य के शरीर, मन, आत्मा, परिवार, संगठन, समाज आदि के अन्दर जो हानिप्रद शत्रु प्रविष्ट हो जाते हैं और घर कर लेते हैं, उन्हें इन्द्र पराजित करता है। ऐतिहासिक पक्षानुसार इन्द्र ने आयु नामक ऋषि के लिए वेश नामक असुर को नम्र कर दिया था।

११. इन्द्र ने पड्गृभि को सव्य के वश कर दिया (ऋग् १०.४९.५)। ऐतिहासिक व्याख्या में सव्य ऋषि है तथा पड्गृभि असुर। नैरुक्त पक्ष में सव्य का अर्थ होगा यज्ञशील मनुष्य[३१]। पड्गृभि होगा पैरों या पंजों से पकड़ने वाला हिंस्रजन्तु अथवा पाशों से बांधने वाला शत्रु[३२]।

---

२८. मृगान् मृगवन्मुग्धान् शुद्धहृदयान् वा (मृजू शुद्धौ) जनान् याति आक्रामतीति मृगयः। मृगयु (लुब्धक) तथा मृगय समानार्थक हैं, अन्तर इतना है कि मृगयु में य क्यच् प्रत्यय का है, किन्तु मृगय में या धातु का। मृग+क्यच्+उ (क्याच्छन्दसि)=मृगयु। मृग+या+क (आतोऽनुपसर्गे कः)=मृगय।

२९. नि. २.३

३०. 'वेशं यो विशति तम्' ऋग् ५.८५.७ का दयानन्दभाष्य।

३१. सवेभ्यो यज्ञेभ्यः साधुः सव्यः। सव्य शब्द ऋग्वेद में केवल इसी स्थल पर व्यक्तिवाचक है। अन्यत्र यह 'वाम' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

३२. पड्भिः पादैः पाशैर्वा गृह्णातीति पड्गृभिः। यह शब्द ऋग्वेद में केवल एक बार यहीं आया है। सायण ने इसे व्यक्ति का नाम माना है। तृतीयान्त 'पड्भिः' शब्द अन्य स्थलों में भी आता है, जहां सायण इसका अर्थ पैर करते हैं।

१२. इन्द्र ने तुर्वश एवं यदु को बल से प्रख्यापित किया (ऋग् १०.४९.८)। ये दोनों शब्द निघण्टु के अनुसार मनुष्यार्थक हैं[33]। हिंसार्थक तुर्व धातु से तुर्वश शब्द निष्पन्न होता है। जिसमें शत्रु को हिंसित करने की प्रबल भावना है, वह तुर्वश हुआ[34]। यदु शब्द प्रयत्नार्थक यती धातु से बना है, एवं यत्नशील उद्योगी मनुष्य यदु है[35]। एवंगुणविशिष्ट दोनों मनुष्यों को इन्द्र बल से प्रख्यात करता है। अथवा प्रकृति में तुर्वश तथा यदु क्रमशः सूर्य और चन्द्र हो सकते हैं। अन्धकार का हिंसक होने से सूर्य तुर्वश, तथा क्षीण होकर भी पूर्णता के लिए सदा प्रयत्नशील चन्द्र यदु है। ये दोनों इन्द्र से ही बल प्राप्त करते हैं।

वामदेव की आत्मस्तुति

इन्द्र की आत्म स्तुतियों को देखने के पश्चात् अब वामदेव की आत्मस्तुति पर आते हैं।

गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा।
शतं मा पुर आयसीररक्षन्नध श्येनो जवसा निरदीयम् ॥१॥
न घा स मामप जोषं जभाराऽभीमास त्वक्षसा वीर्येण।
ईर्मा पुरंधिरजहादरातीरुत वातॉं अतरच्छूशुवानः ॥२॥

ऋग् ४.२७.१.२

"गर्भ में निवास करते हुए ही मैंने देवों के सब जन्मों को जान लिया था, अर्थात् यह जान लिया था कि आत्माएं अनेक जन्म धारण करती हैं। सौ लौह-नगरियां[36] मुझे अपने अन्दर रक्षित कर चुकी थीं। फिर श्येन के तुल्य मैं वेग के साथ निकल पड़ा (मन्त्र १)। वह गर्भ मुझे पर्याप्त रूप में कारागार में नहीं रख सका, मैं तीक्ष्ण बल के साथ बाहर निकल आया। सर्वप्रेरक, पुरों के धारक परमात्मा ने बाधक शत्रुओं का निवारण कर दिया और उस परिपूर्ण परमात्मा ने गर्भक्लेशकारी प्राणवायुओं को भी परास्त कर दिया (मन्त्र २)।"[37]

---

३३. नि. २.३

३४. 'तूर्वन्तीति तुरस्तेषां वशा वशकर्तारो मनुष्याः' ऋग् १.१०८.८ का दयानन्दभाष्य।

३५. 'यततेऽसौ यदुर्मनुष्यः। अत्र यती प्रयत्ने इत्यस्माद् बाहुलकादौणादिक उ प्रत्ययः, तकारस्य दकारः' ऋग् १.३६.१८ का दयानन्दभाष्य।

३६. शतं बहूनि आयसीः अयोमयानि अभेद्यानि पुरः शरीराणि। सायण.

३७. ईर्मा सर्वस्य प्रेरकः पुरंधिः पुरां धारकः परमात्मा अरातीः गर्भसंश्रितान्

ये उद्‌गार वेद ने एक मुक्तात्मा की ओर से कहलाये हैं, ऐसी कल्पना की जा सकती है। वह कहता है कि जब मैं शरीर में था तभी मैंने यह जान लिया था कि मैं नाना जन्मों को ग्रहण कर चुका हूं, अनेक शरीरों के कारागारों में बन्द हो चुका हूं। पर जन्म-मरण के इस बन्धन में पड़े रहना या शरीर रूप कारागृह में बन्द रह कर जीवन व्यतीत करना ही तो मेरा उद्देश्य नहीं था। मुझे इस बन्धन से मुक्ति पानी थी। शरीरों की लौह नगरियों को भेद कर मुझे बाहर निकलना था। प्रसन्नता का विषय है कि उस कार्य में मैं सफल हो गया हूं। श्येन पक्षी के समान वेगपूर्वक मैं शरीर के बन्धन से बाहर निकल आया हूं। सर्वप्रेरक प्रभु ने मेरी इस कार्य में सहायता की है। सब बाधकों को उसने मेरे मार्ग से दूर किया तथा उन प्राणों को उपरत किया, जो मुझे बार-बार शरीर के कारागार में लाते थे।

सायण ने इस सूक्त पर एक श्लोक उद्‌धृत कर यह इतिहास दिया है कि जब वामदेव गर्भ में ही था तब वह योगबल से श्येन का रूप धारण कर बाहर आ गया तथा उक्त प्रकार से उसने अपना भाव प्रकट किया।[38]

त्रसदस्यु की आत्मस्तुति

ऋग्वेद ४.४२ में त्रसदस्यु निम्न प्रकार आत्म-स्तुति करता है—

मम द्विता राष्ट्रं क्षत्रियस्य विश्वायोर्विश्वे अमृता यथा नः।
क्रतुं सचन्ते वरुणस्य देवा राजामि कृष्टेरुपमस्य वव्रेः ॥१॥
अहं राजा वरुणो मह्यं तान्यसुर्याणि प्रथमा धारयन्त।
क्रतुं सचन्ते वरुणस्य देवा राजामि कृष्टेरुपमस्य वव्रेः ॥२॥
अहमिन्द्रो वरुणस्ते महित्वोर्वी गभीरे रजसी सुमेके।
त्वष्टेव विश्वा भुवनानि विद्वान्त्समैरयं रोदसी धारयं च ॥३॥
अहमपो अपिन्वमुक्षमाणा धारयं दिवं सदन ऋतस्य।
ऋतेन पुत्रो अदितेर्ऋतावोत त्रिधातु प्रथयद् वि भूम ॥४॥

शत्रून् अजहात् अत्यजत्, जघान। उत अपि च शूशुवानः वर्धमानः परिपूर्णः परमात्मा वातान् गर्भक्लेशकरान् वायून् अतरत् अतारीत्। सायण.

३८. अत्रैष श्लोकः पठ्यते। श्येनभावं समास्थाय गर्भाद् योगेन निःसृतः। ऋषिर्गर्भे शयानः सन् ब्रूते गर्भे नु सन्निति ॥ सायण। तुलनीय : गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच। ऐ. आ. २.५.१

मां नरः स्वश्वा वाजयन्तो मां वृताः समरणे हवन्ते ।
कृणोम्याजिं मघवाहमिन्द्र इयर्मि रेणुमभिभूत्योजाः ॥५॥
अहं ता विश्वा चकरं नकिर्मा दैव्यं सहो वरते अप्रतीतम् ।
यन्मा सोमासो ममदन्यदुक्थोभे भयेते रजसी अपारे ॥६॥

"मैं विश्वायु (पूर्ण आयु वाला) हूं, मुझ क्षत्रिय का राष्ट्र द्यावाभूमी दोनों स्थानों पर है । सब देव मेरी प्रजा हैं । देव मुझ वरुण के ही संकल्प के अनुसार चलते हैं, मैं मनुष्य के परिच्छिन्न शरीर का भी राजा हूं (मन्त्र १)। मैं राजा वरुण हूं, मेरे लिए ही देवगण उन-उन बलों का धारण करते हैं। देव मुझ वरुण के ही संकल्प के अनुसार चलते हैं, मैं मनुष्य के परिच्छिन्न शरीर का भी राजा हूं (मन्त्र २)। मैं इन्द्र हूं, मैं महिमा में विशाल, गम्भीर, शुभ रूप वाले द्यावापृथिवी हूं । त्वष्टा के समान मैं सब भुवनों को जानता हूं । मैंने ही द्यावापृथिवी को प्रेरित तथा धारित किया है (मन्त्र ३) । मैं ही बरसते हुए जलों को क्षरित करता हूं । मैं ही आदित्य को ऋत के सदन में स्थापित करता हूं । मेरे कारण ही वह अदिति का पुत्र ऋत से ऋतावा (सत्य नियम वाला) कहाता है, तथा उसने तीन प्रकार की भूमि को विस्तीर्ण किया हुआ है । (मन्त्र ४) । शोभन अश्वों वाले संग्रामेच्छु नर मुझे ही सहायता के लिए पुकारते हैं, युद्धार्थ वरण किए हुए योद्धा भी संग्राम में मुझे ही पुकारते हैं । मैं मघवा इन्द्र बन कर युद्ध करता हूं । पराभिभवकारी ओज वाला मैं धूल उड़ाता हूं (मन्त्र ५) । मैंने हो उन सब प्रसिद्ध कार्यों को किया है, मेरे दिव्य अपराजित बल को कोई रोक नहीं सकता । जब सोमरस तथा स्तोम मुझे मस्त कर देते हैं, उस समय दोनों अपार द्यावापृथिवी मुझ से भयभीत हो उठते हैं (मंन्त्र ६) ।"

इन मन्त्रों का देवता आत्मा है । परमात्मा त्रसदस्यु नाम से अपना परिचय दे रहा है । उसका नाम त्रसदस्यु इस कारण है क्योंकि उससे समस्त दस्युगण संत्रस्त होते हैं[३९] ।

त्रसदस्यु कहता है कि मैं भी एक क्षत्रिय राजा हूं तथा द्यावाभूमी में सर्वत्र राज्य करता हूं । सब देव मेरे ही आदेश के अनुसार कार्य करते हैं, वे स्वतन्त्र नहीं हैं । मुझे ही इन्द्र, वरुण आदि नामों से स्मरण किया जाता है तथा मैं ही जगत् के सब नियमों का संचालक हूं । ऐतिहासिक पक्षानुसार त्रसदस्यु एक राजर्षि था, जो इन्द्र, वरुण आदि से अपनी तद्रूपता स्थापित

---

३९. त्रसदस्युः त्रस्यन्ति दस्यवो यस्मात् सः, ऋग् ४. ३८. १ का दयानन्द-भाष्य ।

कर उद्गार प्रकट करता है। इन मन्त्रों के आधार पर अद्वैतवादी दार्शनिक विद्वान् आत्मा का परमात्मा से अद्वैत सिद्ध करना चाहते हैं।

वागाम्भृणी की आत्मस्तुति

ऋग्वेद १०. १२५ की आत्मस्तुति इस प्रकार हुई है—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥१॥
अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते ॥२॥
अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् ॥३॥
मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि ॥४॥
अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥५॥
अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥६॥
अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे।
ततो वितिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि ॥७॥
अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव ॥८॥

"मैं रुद्रों और वसुओं के साथ विचरती हूँ, मैं आदित्यों तथा विश्वदेवों के साथ विचरती हूँ। मैं मित्र और वरुण दोनों को अवलम्ब देती हूँ, मैं इन्द्र और अग्नि को सहारा देती हूँ, मैं अश्वियुगल की अंगुलि पकड़ती हूँ, (मन्त्र १)। मैं अन्धकारनाशक चांद को अवलम्ब देती हूँ, मैं त्वष्टा, पूषा और भग को अवलम्ब देती हूँ। मैं हविष्मान्, हविप्रदाता एवं सोम सवन करने वाले यजमान को द्रविण प्रदान करती हूँ (मन्त्र २)। मैं सम्राज्ञी हूँ, उपासकों को धन प्राप्त कराने वाली हूँ, ज्ञानवती हूँ, पूजार्हों में प्रथम हूँ। बहुत रूपों में स्थित, बहुतों को अपने-अपने स्थान पर निविष्ट करने वाली उस मुझको देवजन अनेक रूपों में हृदय में धारण करते हैं (मन्त्र ३)। जो देखते-भालते हैं, सांस लेते हैं, कहे हुए को सुनते हैं, वे सब प्राणी मेरा दिया हुआ ही अन्न खाते हैं। जो मुझमें विश्वास नहीं लाते वे विनष्ट हो जाते हैं। हे सुनने वाले, सुन, मैं श्रद्धा करने योग्य बात तुझे कह रही हूँ (मन्त्र ४)। मैं ही

इस वेदोपदेश को बोल रही हूँ, जो देवों तथा मनुष्यों से सेवित है। जिससे मैं प्रीति करती हूँ उसको ब्रह्मा, उसको ऋषि, उसको सुमेधा बना देती हूँ (मन्त्र ५) ब्रह्मद्वेषी हिंसक का वध करने के लिए मैं ही रुद्र (क्षत्रिय) के हाथ में धनुष तानती हूँ। मैं ही जनकल्याण के लिए युद्ध रचाती हूँ। मैं द्यावापृथिवी में प्रविष्ट हूँ (मंत्र६)। मैंने प्राणियों के पिता द्युलोक को इस जगत् के मूर्धास्थान में स्थित किया हुआ है। मेरा निवास-स्थान आकाश में जलों के अन्दर है। वहां से मैं समस्त भुवनों में जाकर स्थित होती हूँ। मैं इतनी ऊँची हूँ कि अपने शरीर से मैंने दूरस्थ द्युलोक को स्पर्श किया हुआ हैं (मन्त्र ७)· मैं ही सब भुवनों की रचना करती हुई वायु के समान भ्रमण करती रहती हूँ। मैं द्युलोक के परले पार पहुँची हुई हूँ, इस पृथिवी के भी परले पार पहुँची हुई हूँ। अपनी महिमा से मैं इतनी बड़ी हूँ (मन्त्र ८)।

इस सूत्र पर कात्यायन की सर्वानुक्रमणी में कहा है कि यहां आम्भृणी वाक् आत्म-स्तुति कर रही है–'वागाम्भृणी तुष्टावात्मानम्।' तदनुसार सायण इस सूक्त का परिचय देते हुए कहते हैं कि अम्भृण नामक महर्षि की वाक् नाम की दुहिता थी, जो बड़ी ब्रह्म-विदुषी थी। वह आत्मस्तुति करती है। अतः वह इस सूक्त की ऋषिका है। सच्चित्सुखात्मक सर्वगत परमात्मा देवता है। उसके साथ तादात्म्य का अनुभव करती हुई वह स्वात्म-स्तवन करती है कि सर्वजगद्रूप में तथा सर्वाधिष्ठातृत्व रूप में मैं ही सब कुछ हूँ[40]। यह सूक्त भी दार्शनिकों द्वारा आत्मा-परमात्मा की अद्वैत-सिद्धि के लिए प्रस्तुत किया जाता है। किन्तु निघण्टु में अम्भृण शब्द महद्वाची पठित हैं[41] एवं अम्भृण का अर्थ हुआ महान् परमात्मा। तत्सम्बन्धिनी वाणी वाक् होगी। अतः इस सूक्त में परमात्मा या जगन्माता की आत्मस्तुति है, यह व्याख्या समीचीन प्रतीत होती है। इसमें परमात्मा के मातृत्वरूप का सुन्दर चित्रण हुआ है। जगत् के रुद्र, वसु, आदित्य, मित्र, वरुण आदि सब देव उसके पुत्र हैं, तथा जैसे माता पुत्रों की अंगुलि पकड़ कर साथ-साथ चलती हुई उन्हें चलाती है, वैसे ही जगन्माता इन्हें चला रही है। वही जगत् के सब प्राणियों को अन्न खिलाती है, वही यथायोग्य कर्तव्याकर्तव्य का उपदेश करती है। वही अपनी सन्तानों

---

४०. अम्भृणस्य महर्षेर्दुहिता वाङ्नाम्नी ब्रह्मविदुषी स्वात्मानमस्तौत्। अतः सर्षिः। सच्चित्सुखात्मकः सर्वगतः परमात्मा देवता। तेन ह्येषा तादात्म्यमनुभवन्ती सर्वजगद्रूपेण सर्वस्याधिष्ठानत्वेन चाहमेव सर्वं भवामीति स्वात्मानं स्तौति। सायण

४१. नि. ३. ३

को शिक्षा दे कर ब्रह्मा, ऋषि और सुमेधा बनाती है। इस स्तुति में एक विशेष बात विश्वास लाने की कही गई है। जैसे पुत्र मां में विश्वास रखते हैं, वैसे ही उस जगन्माता में श्रद्धा एवं विश्वास लाना आवश्यक है। वह तर्क के क्षेत्र से परे है।

इन्द्राणी की आत्मस्तुति

ऋग्वेद १०. १५९ में इन्द्राणी निम्न उद्गार प्रकट करती है—

उदसौ सूर्यो अगादुदयं मामको भगः।
अहं तद्विद्वला पतिमभ्यसाक्षि विषासहिः ॥१॥
अहं केतुरहं मूर्धाऽहमुग्रा विवाचनी।
ममेदनु क्रतुं पतिः सेहानाया उपाचरेत् ॥२॥
मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्।
उताहमस्मि संजया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः ॥३॥
येनेन्द्रो हविषा कृत्व्यभवद् द्युम्न्युत्तमः।
इदं तदक्रि देवा असपत्ना किलाभुवम् ॥४॥
असपत्ना सपत्नघ्नी जयन्त्यभिभूवरी।
आवृक्षमन्यासां वर्चो राधो अस्थेयसामिव ॥५॥
समजैषमिमा अहं सपत्नीरभिभूवरी।
यथाऽहमस्य वीरस्य विराजानि जनस्य च ॥६॥

"उधर वह सूर्य उदित हुआ है और इधर यह मेरा सौभाग्य उदित हो गया है, मैंने पति को प्राप्त कर लिया है। विशेष अभिभवकारिणी होकर मैंने सब विघ्न-बाधाओं को परास्त कर दिया है (मन्त्र १)। मैं गृह-राष्ट्र की पताका हूं, मैं उग्र हूँ, विशेष वाक्शक्ति से युक्त हूं। मुझ शत्रु-पराजयकारिणी के संकल्प के अनुकूल ही पति कार्य करता है (मन्त्र २)। मेरे पुत्र शत्रुहन्ता हैं, मेरी पुत्री अतिशय तेजस्विनी है, और में सम्यक् विजयलाभ करने वाली हूं। मेरे पति में उत्तम कीर्ति का निवास है (मन्त्र ३)। जिस हवि (आत्म-बलिदान) के कारण मेरा पति इन्द्र कृतकार्य, यशस्वी एवं उत्तम कहलाता है, हे देवो, उस हवि को मैंने भी कर दिया है, मैं निश्चय ही असपत्न हो गयी हूँ (मन्त्र ४)। मैं शत्रुरहिता हूं, शत्रुहन्त्री हूं, विजयिनी हूं, बाधकों को अभिभूत करने वाली हूं। मैंने शात्रवी सेनाओं के वर्चस् को काट डाला है, जैसे उनकी सम्पत्ति काट डाली जाती है, जो शत्रु के सम्मुख स्थिर न रहने वाले होते हैं (मन्त्र ५)। मैं अभिभवित्री हूं, मैंने इन समस्त सपत्नियों को जीत लिया है, जिससे मैं अपने वीर पति की दृष्टि में तथा जनसामान्य की दृष्टि में विशेष तेजस्विनी गिनी जाऊं (मन्त्र ६)।"

कात्यायन अपनी अनुक्रमणी में लिखते हैं कि इस सूक्त में पौलोमी शची की आत्मस्तुति है-'पौलोमी शची आत्मानं तुष्टाव ।' शची पुलोम की पुत्री तथा इन्द्र की पत्नी है । सायण का कथन है कि इस सूक्त का विनियोग लिंगानुसार कल्पित कर लेना चाहिए । आपस्तम्ब गृह्यसूत्र (९.९) में सपत्नीनाशन के निमित्त सूर्योपस्थान में यह विनियुक्त है । जैसे वेद में इन्द्र वीरता के लिए प्रख्यात है, वैसे ही उसकी पत्नी शची या इन्द्राणी भी वीरांगना है । निघण्टु के अनुसार शची का अर्थ ही क्रियाशक्ति है[४२] । सूक्त में जो उद्गार प्रकट किये गये हैं, उनसे वेद की दृष्टि में नारी की उच्च स्थिति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है । इन्हें हम एक आदर्श वीरपत्नी के उद्गार समझ सकते हैं । नारी गृहस्थ-यज्ञ की पताका तथा मूर्धन्य है । पति भी उसकी संकल्पशक्ति, बुद्धि और क्रियाशक्ति का आदर करता है । उसके पुत्र, पुत्री, पति, स्वयं वह, सारा परिवार वीरता की भावना से ओतप्रोत है । जैसे वह, शत्रुओं के लिए वीरांगना है, वैसे ही सपत्नियों के लिए भी । उसके रहते पति को अन्य नारियों से विवाह करने की आवश्यकता नहीं होती, एवं वह सपत्नियों को जीत लेती है ।

राजा की आत्मस्तुति

यजुर्वेद अध्याय २० में राजा आत्म-परिचय देता हुआ कहता है—

शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि ।
राजा मे प्राणो अमृतं सम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम् ।।५।।
जिह्वा मे भद्रं वाङ् महो मनो मन्युः स्वराड् भामः ।
मोदाः प्रमोदा अङ्गुलीरङ्गानि मित्रं मे सहः ।।६।।
बाहू मे बलमिन्द्रियं हस्तौ मे कर्म वीर्यम् ।
आत्मा क्षत्रमुरो मम ।।७।।
पृष्टी में राष्ट्रमुदरमंसौ ग्रीवाश्च श्रोणी ।
ऊरू अरत्नी जानुनी विशो मेङ्गानि सर्वतः ।।८।।
प्रति क्षेत्रे प्रति तिष्ठामि राष्ट्रे प्रत्यश्वेषु प्रतितिष्ठामि गोषु ।
प्रत्यङ्गेषु प्रति तिष्ठाम्यात्मन् प्रति प्राणेषु प्रति तिष्ठामि पुष्टे
प्रति द्यावापृथिव्योः प्रतितिष्ठामि यज्ञे ।।१०।।
लोमानि प्रयतिर्मम त्वङ् म आनतिरागतिः ।
मांसं म उपनतिर्वस्वस्थि मज्जा म आनतिः ।।१३।।

"राज्य-श्री मेरा सिर है, राष्ट्र का यश मेरा मुख है, राष्ट्र की तेजस्विता मेरे केश और श्मश्रु हैं । मेरा प्राण राजा अमर है, चक्षु सम्यक् राजमान है,

---

४२. शची=कर्म, नि. २. १

श्रोत्र विराट् शक्ति से सम्पन्न हैं (मन्त्र ५)। मेरी जिह्वा भद्रवादिनी है, वाक्शक्ति महान् है, मन में मन्यु भरा है, दीप्ति स्वतः दमक रही है। मेरी अंगुलियां, मेरे अंग मोद-प्रमोद से नाच रहे हैं। साहस मेरा मित्र है (मन्त्र ६)। मेरी भुजाओं में इन्द्र का बल हैं, मेरे हाथों में कर्म और सामर्थ्य है। मेरा आत्मा दुःखियों के कष्ट को दूर करने वाला है, मेरी छाती चोटों को सहने वाली है (मन्त्र ७)। राष्ट्र मेरी पसलियां हैं, प्रजाएं मेरे उदर, कन्धे, ग्रीवा, कटि, जंघाएं, घुटने आदि अंग-प्रत्यंग हैं (मन्त्र ८)। मैं क्षत्रियों में प्रतिष्ठित हूं, अश्वों और गौओं में प्रतिष्ठित हूं, अंगों में प्रतिष्ठित हूं, प्राणों में प्रतिष्ठित हूं, पुष्टि में प्रतिष्ठित हूं, द्यावापृथिवी में प्रतिष्ठित हूं, यज्ञ में प्रतिष्ठित हूं। (मन्त्र १०)। मेरा रोम-रोम प्रयत्नशील है, मेरी त्वचा क्रियाशील तथा शत्रु को झुकाने वाली है. मेरा मांस नमनशील है, मेरी हड्डियां राष्ट्र का धन हैं, मेरी मज्जा नमस्कार है (मन्त्र १३)।"

स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में ये मन्त्र राजप्रजाधर्म-विषय में उद्धृत किये हैं तथा अपने यजुर्वेद-भाष्य में भी इस प्रकरण की योजना राजा या सभेश परक की है[४३]। राजा कहता है कि राष्ट्र के विविध अंगों को मैं अपना अंग समझता हूं। राज्यश्री मेरा सिर है, यदि राज्यश्री न्यून होती है तो मेरे सिर में न्यूनता आ रही है, ऐसा मैं अनुभव करता हूं। राष्ट्र का यश मेरा मुख है, यदि राष्ट्र कलंकित होता है, तो मेरे मुख पर कलंक लग रहा है, ऐसा अनुभव करता हूं। राजा राष्ट्र को अपनी पसलियां समझता है, राष्ट्र पर आघात होता है तो मेरी पसलियों को कोई तोड़ रहा है, ऐसा अनुभव करता है। प्रजाओं को वह उदर, स्कन्ध, ग्रीवा आदि अंग समझता है, प्रजा को कष्ट होता है तो मेरे उदर आदि में ही पीड़ा हो रही है, ऐसी अनुभूति

---

४३. यज्ञपरक व्याख्यानुसार यह प्रकरण सौत्रामणी याग के अन्तर्गत है। तदनुसार आसन्दी पर उपविष्ट यजमान अपने अंगों को स्पर्श करता हुआ इन मन्त्रों (कण्डिका ५-६) का पाठ करता है। १०म कण्डिका द्वारा वह आसन्दी से कृष्णाजिन पर उतरता है, कण्डिका ११,१२ से वह वसाग्रह का होम करता है। कण्डिका १३ से ग्रहशेष का भक्षण करता है। इस व्याख्या में भी यह प्रकरण आत्मस्तुतिरूप ही होगा; अन्तर केवल यह होगा कि तब यजमान की आत्मस्तुति कहलायेगी। द्रष्टव्यः का. श्रौ. सू. १६. ४. २१-२३; १६. ५. ८-१०; तथा इन मन्त्र पर उवट और महीधर का भाष्य।

उसे होती है। राजा अपने साहस, भुजबल, दुःखियों के कष्टहरण का भी बड़ा सजीव परिचय दे रहा है। 'मेरा मांस नमनशील है, अस्थियां राष्ट्र का धन हैं, मेरी मज्जा नमस्कार है' यह कहने में कितना काव्य-सौन्दर्य है। यह सारा ही प्रकरण सजीव, सुन्दर, ओजस्वी तथा छोटा होते हुए भी अत्यन्त भावपूर्ण है। आदर्श राजा का चरित्र इन शब्दों में ओतप्रोत है।

ब्रह्म की आत्मस्तुति

सामवेद पूर्वाचिक आरण्यपर्व में ब्रह्म आत्मपरिचय देता है—

अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम।
यो मा ददाति स इदेव मावदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि॥

साम. पू. ६. १. ६

मैं ऋत का प्रथम जनयिता हूं, सब देवों से पूर्व हूं, मेरा नाम अमर है। जो मुझे आत्मसमर्पण करता है, वही मुझे प्राप्त होता है। मैं अन्न हूं, मैं अन्न खाने वाले का भक्षक हूं।"

इस एक ही मन्त्र में ब्रह्म ने अपना बहुत कुछ परिचय दे दिया है। सृष्टि में जो भी ऋत दृष्टिगोचर होता है, उसका प्रथम जनयिता वही है। सब देवों से वह पूर्व है, अर्थात् वह सबका उत्पादक है; किन्तु उसका उत्पादक कोई नहीं है। वह अज एवं नित्य है। उसे प्राप्त करने के लिए सर्वभाव से आत्मार्पण करना होता है। वह अन्न भी है और भोक्ता भी है। इसी भाव को तैत्तिरीय उपनिषद् ३. १०. ७ में इन शब्दों से कहा गया है—'अहमन्नम् अहमन्नम्, अहमन्नम्,। अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः'। वेदान्त दर्शन उसके भोक्तृत्व को 'अत्ता चराचरग्रहणात् (१. २. ९)' इस सूत्र द्वारा प्रकट करता है। वह भक्तों का भोजन है, वे उसके बिना जीवित नहीं रह सकते, अतः वह अन्न है। चराचर को ग्रसने के कारण वह अत्ता कहलाता है।

सेनानी की आत्मस्तुति

अथर्व ३.१९ में सेनानी अपने उद्गार प्रकट कर रहा है—

संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं बलम्।
संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः॥१॥
समहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं बलम्।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम्॥२॥
नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान्।
क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम्॥३॥

तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत ।
इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः ।।४।।

"यह मेरी महिमा अतिशय तीक्ष्ण है, वीर्य तथा बल अतिशय तीक्ष्ण है। इसी प्रकार उन योद्धाओं का भी क्षात्रबल तीक्ष्ण तथा अजर होवे जिनका मैं विजयशील सेनानी हूं (मन्त्र १)। मैं इन वीरों के राष्ट्र को तीक्ष्ण करता हूं, ओज, वीर्य, एवं बल को तीक्ष्ण करता हूं, मैं आत्म-हवि द्वारा शत्रुओं की बाहुओं का व्रश्चन कर देता हूं। (मन्त्र २)। नीचे गिर जाएं, पादाक्रान्त हो जाएं, जो हमारे धनी राजा पर सेना से आक्रमण करते हैं। मैं अपनी महिमा से अमित्रों को विनष्ट कर देता हूं, स्वजनों को उन्नत करता हूं (मन्त्र ३)। परशु से भी अधिक तीक्ष्ण हैं, अग्नि से भी अधिक तीक्ष्ण हैं, इन्द्र के वज्र से भी अधिक तीक्ष्ण हैं, जिनका मैं अग्रणी हूं (मन्त्र ४)।"

इस सन्दर्भ में सेनानी ने अपना तथा अपने वीरों का जो परिचय दिया है, वह अतिशय ओजोमय तथा वीर-रस-पूर्ण है।

रुद्र की आत्मस्तुति

अथर्ववेद ६.६१ में रुद्र इस प्रकार आत्मस्तुति करता है—

अहं विवेच पृथिवीमुत द्यामहमृतूँरजनयं सप्त साकम् ।
अहं सत्यमनृतं यद् वदाम्यहं दैवीं परिवाचं विशश्च ।।२।।
अहं जजान पृथिवीमुत द्यामहमृतूँरजनयं सप्त सिन्धून् ।
अहं सत्यमनृतं यद् वदामि यो अग्नीषोमावजुषे सखाया ।।३।।

"मैंने पृथिवी और द्युलोक को पृथक्-पृथक् निहित किया है। मैंने एक साथ सात ऋतुओं को उत्पन्न किया है। मैं ही 'क्या सत्य है और क्या अनृत है' यह बताता हूँ। मैं दैवी वाक् में तथा समस्त प्रजाओं में व्याप्त हूँ (मन्त्र २)। मैंने पृथिवी और द्युलोक को जन्म दिया है, मैंने ही सात ऋतु तथा नदियों को जन्म दिया है। मैं ही 'क्या सत्य है और क्या अनृत है' यह बताता हूँ। मैं अग्नि और सोम रूपी अपने सखाओं को प्राप्त करता हूँ (मन्त्र ३)।"

वेदोत्तरकालीन विकास में रुद्र प्रधानतः सृष्टिसंहार का देवता बन गया है। परन्तु उपर्युक्त सन्दर्भ में रुद्र ने अपने परिचय में संहार की चर्चा कहीं नहीं की है, प्रत्युत द्यावापृथिवी, ऋतुओं व नदियों का मैं उत्पादक हूँ यही कहा है। अथर्ववेद में ही अन्यत्र[४४] रुद्र के दो रूप कहे हैं, भव और शर्व। भव उसका उत्पादक

---

४४. द्रष्टव्यः अथर्व ११. २।

रूप है तथा शर्व संहारक रूप[४५]। वह हाथ में हिरण्यय धनुष धारण करता है। ज्वर, खांसी, विष, विद्युत् उसके आयुध हैं। विस्तीर्ण मुख वाले श्वान तथा घोषिणी सेनाएं भी उसके साथ रहती हैं।[४६] परन्तु प्रस्तुत परिचय में उत्पादक रूप ही प्रकाश में आया है। यहां रुद्र सात ऋतुओं को जन्म देने की बात कहता है। सौर वर्ष की अपेक्षा चान्द्र वर्ष में १० दिन कम होते हैं, अतः प्रति तृतीय वर्ष एक अधिक मास मान कर इस कमी को पूर्ण कर लिया जाता है। दो-दो मास की छह वसन्त आदि ऋतुएं हुई, तथा अधिक मास या मल मास की एक सातवीं ऋतु।[४७] रुद्र ने अपना एक कार्य यह भी कहा है कि वह लोगों को 'सत्य क्या है तथा असत्य क्या है' यह बतलाता है। एवं यहाँ वरुण के समान इसका नैतिक रूप भी है। इसने अग्नि और सोम को अपना सखा बताया है।

मनुष्य का आत्मपरिचय

अव आत्मकथात्मक शैली में कुछ ऐसे मन्त्र प्रस्तुत किये जाते हैं, जिनमें मनुष्य या उसका आत्मा अपना परिचय दे रहा है। वेद की दृष्टि में मनुष्य दीन, हीन, तुच्छ, दयनीय नहीं है, अपितु बड़ा शक्तिशाली है। नीचे जो मन्त्र दिये जा रहे हैं वे ऋग्, यजुः और अथर्ववेदों के हैं। स्पष्ट तथा तेजोमय आशय वाले मन्त्र ही संकलित किये गये हैं, इनमें भी अधिकांश मन्त्र अथर्ववेद के हैं। सामवेद में ऐसे मन्त्र विशेष नहीं हैं। इन मन्त्रों से यह व्यक्त है कि मनुष्य क्या है, या उसे अपने आपको क्या समझना चाहिए।

---

४५. सृष्ट्यादौ भवति यस्मात् सर्वं जगद् इति भवः। शृणाति सर्वं जगद् हिनस्ति संहृतिसमये इति शर्वः। अथर्व ११.२.१ का सायणभाष्य।

४६. अथर्व ११.२—धनुर्बिभर्ति हरितं हिरण्ययं सहस्रघ्नि शतवधं शिखण्डिनम् (मन्त्र १२), यस्य तक्मा कासिका हेतिः (मन्त्र २२)। मा नो रुद्र तक्मना मा विषेण मा नः सं स्रा दिव्येनाग्निना (मन्त्र २६)। इदं महास्येभ्यः श्वभ्यो अकरं नमः (मन्त्र ३०)। नमस्ते घोषिणीभ्यः... सेनाभ्यः (मन्त्र ३१)।

४७. अहमेव सप्त सप्तसंख्याकान् वसन्ताद्याः षट् संसर्पांहस्पतिसंज्ञकाधिमासाख्यः सप्तमः एतान् सप्तसंख्याकान् ऋतून्। सायण

Seven seasons: the six pairs of months and the thirteenth or inter calary month.—Griffith.

चैत्रादीनां द्वादशानां मासानां द्वयद्वयमेलनेन वसन्ताद्याः षड् ऋतवो भवन्ति। अधिमासेन एक उत्पद्यते सप्तमर्तुः—ऋग् १.१६४.१५ पर सायणभाष्य। 'अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदङ्गं त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते।' अथर्व १३.३.८

अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं में चक्षुरमृतं म आसन् ।
अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो घर्मो हविरस्मि नाम ।
ऋग् ३. २६. ७; यजु १८. ६६

मैं अग्नि हूँ, दहकता हुआ अंगारा हूँ, स्वभाव से ही जागरूक हूँ। मेरी आँख में तेज है, मेरे मुख में अमृत है। मैं सूर्य हूँ, शारीरिक, मानसिक, आत्मिक तीनों तेजों से युक्त हूँ। सारे भूलोक को अपने चरणविक्षेपों से माप लेने वाला हूँ। अक्षय हूँ, जलता हुआ यज्ञकुण्ड हूँ, आहुति हूँ।[४८]

मयि त्यदिन्द्रियं बृहन्मयि दक्षो मयि क्रतुः ।
घर्मस्त्रिशुग् विराजति विराजा ज्योतिषा सह
ब्रह्मणा तेजसा सह ॥ यजु. ३८. २७

मेरे अन्दर बृहत् इन्द्र का बल है, मेरे अन्दर उत्साह है, मेरे अन्दर संकल्प-शक्ति है। त्रिविध तेज मेरे अन्दर विराजमान है। मैं विराड् ज्योति से भासमान हूँ, ब्रह्मतेज से देदीप्यमान हूँ।[४९]

सूर्यो मे चक्षु र्वातः प्राणोऽन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम् ।
अस्तृतो नामाहमयमस्मि ॥ अथर्व ५. ९. ७

देखने में छोटी सी प्रतीत होने वाली यह मेरी आंख छोटी नहीं, किन्तु सूर्य के बराबर है। मेरी प्राणशक्ति वायुमण्डल के समान अपार है। मेरे शरीर के मध्य की तुलना अन्तरिक्ष से कर सकोगे। और, मेरा यह छोटे से कद वाला शरीर शक्ति में विस्तीर्ण पृथिवी के सदृश है। मैं अविनश्वर हूँ, किसी के मारे मर नहीं सकता।

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्
अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः ॥ अथर्व १२.१.५४

---

४८. कात्यायनीय सर्वानुक्रमणी के अनुसार इस मन्त्र का देवता अग्नि या आत्मा है। आत्मा से सायण ने ब्रह्म अभिप्राय लिया है। यह मन्त्र अग्नि, ब्रह्म तथा मनुष्य का आत्मा तीनों की ओर से उक्त माना जा सकता है। यहां हमने मनुष्य के आत्मा की ओर से उक्त मान कर व्याख्यात किया है। यजुर्भाष्य में उवट तथा महीधर ने इसे यजमान की उक्ति माना है।

४९. कर्मकाण्ड में इस कण्डिका द्वारा यजमान और ऋत्विज् हुतशेष दधिघर्म का भक्षण करते हैं। उवट तथा महीधर के अनुसार यह यजमान की ओर से उक्त हैं।

"मैं साहसी हूं, वीर हूं, भूमि भर में उत्कृष्ट हूं। शत्रु से पाला पड़ने पर उसके छक्के छुड़ा देने वाला हूँ। समस्त रिपुओं को परास्त करने की शक्ति मुझ में है। दिशा-दिशा में बार-बार अधिकाधिक पराभव करने वाला हूँ।"

यद् वदामि मधुमत् तद् वदामि यदीक्षे तद् वनन्ति मा।
त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान् हन्मि दोधतः ॥ अथर्व १२.१.५८

'जो कुछ बोलता हूं, मधुर बोलता हूं। ज्यों ही मैं देखता हूँ, लोग मुझे प्यार करने लगते हैं। एक ओर जहां मेरा यह मधुर रूप है, वहां दूसरी और ऐसा तेजस्वी और वेगवान् भी हूँ कि जो मुझे अपना क्रोध दिखाते हैं, उन्हें एक क्षण में मार गिराता हूँ।"

बृहस्पतिर्मे आत्मा नृमणा नाम हृद्यः। अथर्व. १६. ३. ५

"मेरा आत्मा साक्षात् बृहस्पति है, मेरे मन में अद्भुत नेतृत्वशक्ति है, मैं सबके हृदय को प्रिय लगने वाला हूँ।"

असंतापं मे हृदयमुर्वी गव्यूतिः।
समुद्रो अस्मि विधर्मणा ॥ अथर्व १६.३.६

"मेरा हृदय सन्तापरहित है। मेरा मार्ग बड़ा विस्तीर्ण है,[५०] गुणों का मैं समुद्र हूँ।"

पुरीवृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं, कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च।
मा मा प्रापन्निषवो दैव्या या, मा मानुषीरवसृष्टा वधाय ॥
अथर्व १७.१.२८

"मैं ब्रह्म का कवच पहने हूँ, सूर्य[५१] की ज्योति और वर्चस् से भासमान हूँ। दैवी विपत्तियां मेरे पास नहीं आ सकतीं, वध के लिए छोड़े हुए मानव शत्रुओं के शस्त्रास्त्र भी मुझे कुछ हानि नहीं पहुंचा सकते।"

अयुतोऽहमयुतो म आत्माऽयुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्रम्।
अयुतो मे प्राणोऽयुतो मेऽपानोऽयुतो मे व्यानोऽयुतोऽहं सर्वः ॥
अथर्व १९. ५१. १

"मैं एक नहीं, दस सहस्र हूं,[५२] दस सहस्र मिलकर जिस कार्य को करते हैं,

---

५०. 'उर्वी गव्यूतिं विस्तीर्णं मार्गम्'—ऋग् ९. ७८. ५ पर सायण-भाष्य।

५१. 'कश्यपः पश्यको भवति यत् सर्वं परिपश्यति' तै. आ. १.८.८ इति श्रुतेः कश्यपः सूर्यस्य मूर्त्यन्तरभूतः। सायण

५२. अयुतः अयुतरूपः दशसहस्रात्मकः। सायण ने यहां अयुत का अर्थ संपूर्ण किया है, जिस पर ह्विटने सन्देह प्रकट करते हुए स्वयं अव्याहत (Unrepelled) अर्थ करते हैं।

उसे मैं अकेला कर लूँगा । मेरा आत्मा दस सहस्र के बराबर है, मेरी आँखों की शक्ति दस सहस्र के बराबर है, मेरी श्रोत्रशक्ति दस सहस्र के बराबर है। मेरा प्राण-बल दस सहस्र है, मेरा अपान-बल दस सहस्र है, मेरा व्यान-बल दस सहस्र है। मेरे सभी अंग दस सहस्र गुणित शक्ति से आपूरित हैं।"

मनुष्य के वीरोद्गार[53]

अब कुछ ऐसे प्रसंग दिये जाते हैं, जिनमें मनुष्य के वीर उद्गार हैं। अभी इससे पूर्व जो मन्त्र दिये गये हैं, उनमें मनुष्य ने यह बताया है कि मैं क्या हूँ, किन्तु प्रस्तुत मन्त्रों में वह यह प्रकट करता है कि मैं क्या-क्या कर दूंगा। यही दोनों में अन्तर है। इन उद्धृत मन्त्रों में भी अधिकांश मन्त्र अथर्ववेद के हैं, केवल प्रथम दो प्रसंग ऋग्वेद से लिये गये हैं। इन मन्त्रों से यह ज्ञात होता है कि वेद का मानव कैसा साहस की मूर्ति तथा वीरता का अवतार है और उसमें शत्रुदमन, विजय एवं ऊर्ध्वारोहण की कैसी उत्कट लालसा है।

नहि मे अक्षिपच्चनाच्छान्त्सुः पञ्च कृष्टयः ।
कुवित् सोमस्यापामिति ॥
नहि मे रोदसी उभे अन्यं पक्षं चन प्रति । कुवित्०॥
अभि द्यां महिना भुवमभीमां पृथिवीं महीम् । कुवित्०॥
हन्ताहं पृथिवीमिमां निदधानीह वेह वा । कुवित्०॥
ओषमित् पृथिवीमहं जङ्घनानीह वेह वा । कुवित्०॥
दिवि मे अन्यः पक्षो अधो अन्यमचीकृषम् । कुवित्० ॥
अहमस्मि महामहोऽभिनभ्यमुदीषितः । कुवित्०॥ ऋग् १०.११९. ६–१२

मैंने सोमरस का पान कर लिया है, बहुत-बहुत पान कर लिया है। मुझ में वह शक्ति आ गयी है कि सब मनुष्य मिलकर भी मेरी अक्षिसंचार की छोटी सी क्रिया तक को नहीं रोक सकते। ये विशाल द्यावापृथिवी मेरे एक पार्श्व के बराबर भी नहीं हैं, मैंने बहुत-बहुत सोमरस का पान कर लिया है। मैंने महिमा में द्युलोक को भी पीछे छोड़ दिया है, इस विशाल पृथिवी को भी पीछे छोड़ दिया है। मैंने बहुत-बहुत सोमरस का पान कर लिया है। मेरे अन्दर ऐसी शक्ति आ गयी है कि कहो तो इस पृथिवी को उठाकर यहाँ रख दूँ, वहाँ रख दूँ, जहाँ कहो वहीं रख दूँ। मैंने बहुत-बहुत सोमरस का पान कर लिया है। मैं पृथिवी को दग्ध करने वाले इस विशाल सूर्य तक को ठोकर मार कर यहाँ, वहाँ, जहाँ कहो पहुँचा दूँ। मैंने बहुत-बहुत सोमरस का पान

---

५३. वैदिक वीर-भावना के विशेष परिचय के लिए द्रष्टव्यः लेखक की पुस्तक 'वैदिक वीर-गर्जना'।

कर लिया है। मैं अपने आपको इतना विशाल अनुभव कर रहा हूं कि मेरा एक सिरा द्युलोक में है, दूसरा सिरा पृथिवी पर है। मैंने वहुत-वहुत सोमरस का पान कर लिया है। मैं आकाश में उदित साक्षात् महातेजस्वी सूर्य हो गया हूँ। मैंने वहुत-वहुत सोमरस का पान कर लिया है।"[५४]

अहमस्मि सपत्नहा-इन्द्र इवारिष्टो अक्षतः।
अधः सपत्ना मे पदोरिमे सर्वे अधिष्ठिताः॥
अभिभूरहमागमं विश्वकर्मेण धाम्ना।
आवश्चित्तमा वो व्रतमा वोऽहं समितिं ददे॥ ऋग्० १०. १६६.२,४

"मैं रिपुहन्ता हूँ, इन्द्र के समान अविनष्ट और अक्षत हूँ। इन समस्त शत्रुओं को पैरों तले रौंद दूंगा। मैं अभिभूत करने वाला हूँ, सर्वकर्मक्षम तेज के साथ आ पहुँचा हूँ। हे रिपुओ, तुमने जो मेरे विनाश के वड़े-वड़े मनसूबे वांध रखे हैं, जो षड्यन्त्र रच रखे हैं, जो संघ-समितियाँ वना रखी हैं, उन सवको अभी मैं मुट्ठी में किये लेता हूँ[५५]।"

यश्च सापत्नः शपथो जाम्याः शपथश्च यः।
ब्रह्मा यन्मन्युतः शपात् सर्वं तन्नो अधस्पदम्॥
शप्तारमेतु शपथो यः सुहार्त् तेन नः सह।
चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणीमसि। अथर्व २.७.२,५

शत्रु का शाप हो, चाहे वन्धु का शाप हो, और भले ही ब्रह्मा भी क्रुद्ध होकर शाप दे दे, सबको मैं पादाक्रान्त कर दूंगा। शाप उल्टा शाप देने वाले पर ही जाकर पड़ेगा। मैं तो उसका साथ देता हूँ, जो शुभ हृदय वाला है। आँखों से सैन चलाने वाले दुष्टहृदय दुर्जन की हड्डी-पसली तोड़ डालूंगा।"

इदं देवाः शृणुत ये यज्ञियाः स्थ भरद्वाजो मह्यमुक्थानि शंसति।
पाशे स बद्धो दुरिते नियुज्यतां यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति॥

---

५४. यहाँ लव इन्द्र अर्थात् मनुष्य का अंगुष्ठमात्र आत्मा सोम-पान में हृष्ट हो आत्मस्तुति कर रहा है। ऐन्द्रो लव आत्मानं तुष्टाव, का. ऋ. सर्वा.। सायण ने इसे निम्न प्रकार ऐतिहासिक रूप दे दिया है—इन्द्रो लवरूपमास्थाय सोमपानं कुर्वन् तदानीमृषिभिर्दृष्टः सन् स्वात्मानमनेन सूक्तेनास्तावीत्। सा० भा०

५५. इस सूक्त को आश्वलायन गृह्यसूत्र में शत्रु पर आक्रमण करते समय जपने का विधान है—ऋषभं मा समानानामित्यभिक्रामन्, आश्व० गृ० २.६.१३। तदनुसार सायण लिखते हैं—'प्रयाणसमये जपेत्'।

इदमिन्द्र शृणुहि सोमप यत् त्वा हृदा शोचता जोहवीमि ।
वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्षं यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥
अथर्व २. १२. २, ३

"हे देवो, मेरी इस भीष्म-प्रतिज्ञा को सुन लो। आज मेरा बलवान् मन[५६] मेरे लिए प्रबल संकल्प उठा रहा है। जो कोई मेरे मन की हिंसा करने आयेगा वह पाशबद्ध होकर दुर्गति पायेगा। हे सोमरसपायी मेरे आत्मन्, सुन, जो मैं दीप्त हृदय के साथ पुकार-पुकार कर कह रहा हूं। काट डालूंगा उसे, जैसे कुल्हाड़े से वृक्ष को, जो मेरे मन की हिंसा करने आयेगा।"

परेणैतु पथा वृकः परमेणोत तस्करः ।
परेण दत्वती रज्जुः परेणाघायुरर्षतु ॥
अक्ष्यौ च ते मुखं च ते व्याघ्र जम्भयामसि ।
आत् सर्वान् विंशतिं नखान् ॥
व्याघ्रं दत्वतां वयं प्रथमं जम्भयामसि ।
आदु ष्टेनमथो अहिं यातुधानमथो वृकम् ॥
ओ अद्य स्तेन आयति स संपिष्टो अपायति ॥ अथर्व ४.३.२–५

"भेड़िया सुदूर मार्ग से चला जाए, चोर दूर से चला जाए, यह दांतों वाली रस्सी (सांप) दूर से चली जाए, पापेच्छु दूर से चला जाए। मेरे समीप आने का साहस न करें। ओ व्याघ्र, मैं तेरी आंखें फोड़ दूंगा, तेरा मुख चीर दूंगा, तेरे बीसों नख तोड़ डालूंगा, आ तो सही। नोकीले दांतों वाले व्याघ्र को मैं जान से मार डालूंगा। चोर का, सांप का, परपीडक राक्षस का, भेड़िये का मैं वध कर दूंगा। जो कोई चोर-लुटेरा मेरे पास आयेगा वह अच्छी तरह कुट-पिट कर लौटेगा।"

सहे पिषाचान्त्सहसा-ऐषां द्रविणं ददे ।
सर्वान् दुरस्यतो हन्मि सं म आकूतिर्ऋध्यताम् ॥
तपनो अस्मि पिशाचानां व्याघ्रो गोमतामिव ।
श्वानः सिंहमिव दृष्ट्वा ते न विन्दन्ते न्यञ्चनम् ॥
न पिशाचैः सं शक्नोमि न स्तेनैर्न वनर्गुभिः
पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति यमहं ग्राममाविशे ॥
यं ग्राममाविशत इदमुग्रं सहो मम ।
पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति न पापमुपजानते ॥ अथर्व ४.३६.४,६–८

---

५६. मनो वै भरद्वाज ऋषिः। शत. ८.१.१.६। सायण के अनुसार भरद्वाज नामक महर्षि अभिप्रेत है।

"पिशाचों को मैं अपने बल से परास्त कर दूंगा। इनकी धन-सम्पत्ति छीन लूंगा। सब दुष्टता करने वालों का हनन कर दूंगा। यह मेरा संकल्प पूर्ण होकर रहेगा। मैं पिचाचों को संतप्त कर देने वाला हूँ, जैसे व्याघ्र ग्वालों को। मुझे सामने देख कर पिशाच अपनी सब चौकड़ी भूल जाते हैं, जैसे कुत्ते सिंह को देख कर। पिशाचों के साथ, चोर-लुटेरों के साथ, डाकुओं के साथ मैं कभी समझौता नहीं कर सकता। जिस ग्राम में मैं प्रविष्ट हो जाता हूं, पिशाच वहाँ से भाग खड़े होते हैं। जिस ग्राम में मेरा यह दमनकारी बल पहुँच जाता है, वहाँ से पिशाच रफूचक्कर हो जाते हैं। मुझे देखते ही वे सब पाप करना भूल जाते हैं।"

अश्मवर्म मेऽसि यो मा प्राच्या दिशोऽघायुरभिदासात्।
एतत् स ऋच्छात्॥
अश्मवर्म मेऽसि यो मा दक्षिणाया दिशोऽघायुरभिदासात्।
एतत् स ऋच्छात्॥
अश्मवर्म मेऽसि यो मा प्रतीच्या दिशोऽघायुरभिदासात्।
एतत् स ऋच्छात्॥
अश्मवर्म मेऽसि यो मा ध्रुवाया दिशोऽघायुरभिदासात्।
एतत् स ऋच्छात्॥
अश्मवर्म मेऽसि यो मोर्ध्वाया दिशोऽघायुरभिदासात्।
एतत् स ऋच्छात्॥
अश्मवर्म मेऽसि यो मा दिशामन्तर्देशेभ्योऽघायुरभिदासात्।
एतत् स ऋच्छात्॥ अथर्व ५.१०.१–७

"हे मेरे आत्मन्, तू लोहे का कवच है। पूर्व दिशा से जो कोई पापी मुझ पर घात करने आयेगा, वह उल्टा मुंह की खाकर लौटेगा। दक्षिण दिशा से जो कोई पापी मुझ पर घात करने आयेगा, वह उल्टा मुंह की खाकर लौटेगा। उत्तर दिशा से जो कोई पापी मुझ पर घात करने आयेगा, वह उल्टी मुंह की खाकर लौटेगा। नीचे की दिशा से जो कोई पापी मुझ पर घात करने आयेगा वह उल्टा मुंह की खाकर लौटेगा। ऊर्ध्वा दिशा से जो कोई पापी मुझ पर घात करने आयेगा, वह उल्टा मुंह की खाकर लौटेगा। दिशाओं के अन्तः प्रदेशों से जो कोई पापी मुझ पर घात करने आयेगा, वह उल्टा मुंह की खाकर लौटेगा।"

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।
परेहि न त्वा कामये वृक्षाँ वनानि संचर गृहेषु गोषु मे मनः॥
अथर्व ६.४५.१

"परे हट, ओ मन के पाप, क्यों तू मुझे निन्दित परामर्श दे रहा है। भाग जा, मुझे तेरी चाह नहीं है। जंगलों में वृक्षों पर भटकता फिर। मेरा मन तो गृहकार्यों में तथा गो-सेवा आदि शुभ कार्यों में निरत है, मुझे तेरे स्वागत का अवकाश नहीं है।"

यथा सूर्यो नक्षत्राणामुद्यंस्तेजांस्याददे।
एवा स्त्रीणां च पुंसां च द्विषतां वर्च आददे॥ अथर्व ७.१३.१

"जैसे उदित होता हुआ सूर्य नक्षत्रों के तेज को हर लेता है वैसे ही शत्रुता करने वाले सब स्त्री-पुरुषों के तेज को मैं हर लूंगा।"

दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमराय्यः।
दुर्णाम्नीः सर्वा दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि। अथर्व ७.२३.१

"बुरे स्वप्न, बुरे जीवन महाराक्षस, अलक्ष्मियों, बुरे नाम वाली तथा हाहाकार कराने वाली सब आधि-व्याधियों एवं विपत्तियों को मैं अपने समीप से नष्ट कर दूंगा।"

स्वायसा असयः सन्ति नो गृहे
विद्मा ते कृत्ये यतिधा परूंषि॥
उत्तिष्ठैव परेहीतोऽज्ञाते किमिहेच्छसि।
ग्रीवास्ते कृत्ये पादौ चापि कर्त्स्यामि निर्द्रव। अथर्व १०.१.२०,२१

"ओ कृत्ये, ओ शत्रुजन्य हिंसापिशाचिनी, सावधान, हमारे घरों में उत्तम लोहे की तलवारें विद्यमान हैं। तेरे जितने जोड़ हैं, उन्हें मैं जानता हूं। उठ, यहां से भाग कर कहीं अज्ञात स्थान में चली जा, यहां तेरा क्या काम है? तेरी ग्रीवा धड़ से अलग कर दूंगा, तेरे पैर काट डालूंगा, निकल जा यहां से।"

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा पृथिवीसंशितोऽग्नितेजाः।
पृथिवीमनु विक्रमेऽहं पृथिव्यास्तं निर्भजामो योऽस्मान्
द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः। स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु॥
अथर्व १०.५.२५

"हे मेरे कदम, तू छोटा नहीं, तू विष्णु का विशाल कदम है। तू शत्रुहन्ता है, पृथिवी भर में तीक्ष्ण है, तुझमें अग्नि का तेज है। मैं तुझे पृथिवी पर रखूंगा। जो मुझ से शत्रुता मोल लेगा, और मैं भी जिसकी दुष्टता के कारण जिससे शत्रुता ठानूंगा, उसे में पृथिवी से निकाल फेंकूंगा। देख लेना, वह जीवित नहीं बचेगा, प्राण उसे छोड़ जाएगा।"

मनुष्य का विजयोल्लास

अभी हम गत शीर्षकों के नीचे मनुष्य की आत्मविश्वासभरी कुछ वीरोक्तियां प्रदर्शित कर चुके हैं। जिसके हृदय में ऐसी भावनाएं हिलोरें लेती हैं,

जीवन-संग्राम में उसकी विजय एवं सफलता निश्चित है। अतएव अब ऐसे कुछ वचनों का चयन प्रस्तुत किया जा रहा है, जिनमें मनुष्य सफलता-लाभ के उपरान्त अपने हृदय का उल्लास व्यक्त कर रहा है। इनमें तमस् को पार कर ज्योति की प्राप्ति, बाह्य तथा आन्तरिक अरातियों को दग्ध कर उन्नति के आकाश में विहार, कीर्ति की प्राप्ति, पापों पर विजय, ऋत की उपलब्धि आदि से जनित असीम आल्हाद का पारावार हृदय के कूलों से उमड़ कर वाक्प्रणाली द्वारा प्रवाहित होता हुआ वेद के पाठकों को रसार्द्र कर रहा है। इस संकलन में चारों वेदों के मन्त्र हैं।

उद् वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्। ऋग् १.५० १०

"आहा, हमने तमस् से ऊपर उठकर, 'उत्तर ज्योति' के दर्शन कर, प्रकाशकों में सर्वश्रेष्ठ प्रकाशक उत्तम ज्योति 'सूर्य' को पा लिया है।"

अपाम सोममृता अभूम-अगन्म ज्योतिरविदाम देवान्।
किं नूनमस्मान् कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य॥
ऋग् ८.४८.३

"हमने सोमरस का पान कर लिया है, हम अमर हो गये हैं। हमने ज्योति पा ली है, देवों को पा लिया है। अराति हमारा क्या कर सकता है, मनुष्यजन्य हिंसा हमारा क्या बिगाड़ सकती है?"

प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातयः।
उर्वन्तरिक्षमन्वेमि॥ यजु १.७

"राक्षसों को मैंने दग्ध कर दिया है, पूर्णतः दग्ध कर दिया है। अरातियों को मैंने दग्ध कर दिया है, पूर्णतः दग्ध कर दिया है। अब मैं स्वच्छन्द आकाश में विहार कर रहा हूँ।"

पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम्।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्॥ यजु १७.६७

"पृथिवी से मैं अन्तरिक्ष में आरूढ़ हुआ, अन्तरिक्ष से द्युलोक में आरूढ़ हुआ। और, हर्ष का विषय है कि अब मैं 'नाक' के पृष्ठ द्युलोक से ऊपर उठकर स्वर्लोक की ज्योति में पहुँच गया हूँ।"

यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत।
यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः॥
अथर्व ६.३९.३; ८.५८.६७

"जैसे इन्द्र यशस्वी है, अग्नि यशस्वी है, चन्द्र यशस्वी है, वैसे ही सब भूतों में मैं यशस्वी हो गया हूँ, परम यशस्वी हो गया हूँ।"

अवधीत् कामो मम ये सपत्ना उरुं लोकमकरन् मह्यमेधतुम्।

अथर्व ६. २. ११

"मेरे संकल्प-बल ने मेरे जो सपत्न थे उन्हें विनष्ट कर दिया है, मेरे लिए विशाल लोक खोल दिया है, समृद्धि के द्वार उद्घाटित कर दिये हैं।"

अजैष्म-अद्य-असनाम, अद्याभूमानागसो वयम्।

अथर्व १६. ६. १

"आहा, हम विजयी हुए हैं, हमने प्राप्तव्य को पा लिया है, हम निष्पाप हो गए हैं।"

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमभ्यष्ठां विश्वाः पृतना अरातीः॥

अगन्म स्वः स्वरगन्म सं सूर्यस्य ज्योतिषागन्म॥

अथर्व १६. ६. १, ३

"हमें विजय प्राप्त हुई है, हमें अभ्युदय प्राप्त हुआ है। मैंने समस्त शात्रवी सेनाओं को परास्त कर दिया है। पा लिया है हमने स्वर्ज्योति को; आहा, स्वर्ज्योति को पा लिया है। हम सूर्य की ज्योति से समन्वित हो गए हैं।"

अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रभ।

अहं सूर्य इवाजनि॥ ऋग् ८. ६. १०; साम. पू. २. ४. ८; साम. उ.

१४. १. १२; अथर्व २०. ११५. १

"मैंने पिता प्रभु से सत्यमयी मेधा को (ऋतम्भरा प्रज्ञा को) पा लिया है। मैं सूर्य-सदृश हो गया हूं।"

मनुष्य का आत्म-परिदेवन

अभी तक हमने आत्मकथात्मक शैली के उज्ज्वल पक्ष पर ही दृष्टिपात किया है। अब दूसरे पक्ष को लेते हैं, जिसमें अपनी हीन दशा से असन्तुष्ट होकर मनुष्य परिदेवन करता है। संसार में रहते हुए मनुष्य कभी भूकम्प, दुर्भिक्ष आदि दैवी विपत्तियों से ग्रस्त हो दुरवस्था को प्राप्त हो जाता है, कभी शत्रुओं से पराजित हो दुर्दशापन्न हो जाता है। कभी वह किन्हीं दुर्व्यसनों या रोगों के वशीभूत हो दयनीय स्थिति को प्राप्त कर लेता है, कभी पापाचरण में प्रवृत्त हो उसके कुपरिणामों का भाजन बन चिन्तित होने लगता है। कभी वह अपनी संकल्पित योजनाओं में विफल हो हताश हो जाता है, कभी अपरिमित हानि, प्रियजन के वियोग आदि से सन्तप्त होता है। कभी वह अपने अज्ञान, अविवेक आदि से स्वयं ही पीड़ित होने लगता है। ऐसे समयों में स्व-

भावतः उसके हृदय से अपनी दीनदशा के प्रति क्रन्दन तथा उससे मुक्त होने की आतुर पुकार निसृत होती है। ऐसे ही प्रसंग आत्मपरिदेवन के होते हैं।

एक जुआरी का आत्म-निर्वेद

प्रथम ऋग् १०. ३४ से एक जुआरी की आत्मकथा प्रस्तुत करते हैं।

प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः।
सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान् ॥१॥
न मा मिमेथ न जिहीड एषा शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत्।
अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामप जायामरोधम् ॥२॥
द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि न नाथितो विन्दते मर्डितारम्।
अश्वस्येव जरतो वस्न्यस्य नाहं विन्दामि कितवस्य भोगम् ॥३॥
अन्ये जायां परि मृशन्त्यस्य यस्यागृधद्वेदने वाज्यक्षः।
पिता माता भ्रातर एनमाहुर्न जानीमो नयता बद्धमेतम् ॥४॥
यदादीध्ये न दविषाण्येभिः परायद्भ्योऽव हीये सखिभ्यः।
न्युप्ताश्च बभ्रवो वाचमक्रतँ एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव ॥५॥
सभामेति कितवः पृच्छमानो जेष्यामीति तन्वा शूशुजानः।
अक्षासो अस्य वितिरन्ति कामं प्रतिदीव्ने दधत आ कृतानि ॥६॥
अक्षास इदङ्कुशिनो नितोदिनो निकृत्वानस्तपनास्तापयिष्णवः।
कुमारदेष्णा जयतः पुनर्हणो मध्वा संपृक्ताः कितवस्य बर्हणाः ॥७॥
त्रिपञ्चाशः क्रीडति व्रात एषां देव इव सविता सत्यधर्मा।
उग्रस्य चिन्मन्यवे ना नमन्ते राजा चिदेभ्यो नम इत् कृणोति ॥८॥
नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्त्यहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते।
दिव्या अङ्गारा इरिणे न्युप्ताः शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति ॥९॥
जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्व स्वित्।
ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तमुप नक्तमेति ॥१०॥
स्त्रियं दृष्ट्वाय कितवं ततापाऽन्येषां जायां सुकृतं च योनिम्।
पूर्वाह्णे अश्वान् युयुजे हि बभ्रून्त्सो अग्नेरन्ते वृषलः पपाद ॥११॥
यो वः सेनानीर्महतो गणस्य राजा व्रातस्य प्रथमो बभूव।
तस्मै कृणोमि न धना रुणध्मि दशाहं प्राचीस्तदृतं वदामि ॥१२॥
अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः ॥१३॥

"प्रवात स्थान में उत्पन्न, कम्पनकारी, द्यूतफलक पर पड़े हुए इन द्यूत-पाशों ने मुझे मतवाला बना दिया है। रातों जगाने वाले इस द्यूत ने मौजवत

सोम के भक्षण के समान मुझे पूर्णतः अपने वश में कर लिया है (मन्त्र १)। यह मेरी जाया मुझे न कभी कष्ट देती थी, न मुझ पर क्रुद्ध होती थी, प्रत्युत मेरे लिए तथा मेरे मित्रों के लिए मंगलकारिणी थी। पर एकमात्र द्यूत के कारण मैंने अपनी इस पतिव्रता को अपने से विमुख कर दिया है (मन्त्र २)। सास मुझ से द्वेष करने लगी है, जाया मुझे अपने पास से दूर रखती है। कष्टापन्न हुआ मैं किसी सुख-सहानुभूति दर्शाने वाले को प्राप्त नहीं करता (मन्त्र ३)। मैंने अनुभव कर लिया है कि जिसके धन पर बलवान् द्यूत ललचा जाता है, उसकी जाया का अन्य जन स्पर्श करते हैं, पिता-माता-भाई इसके विषय में कहते हैं कि हम इसे जानते ही नहीं, इसे बांध कर ले जाओ (मन्त्र ४)। कई बार मैं निश्चय करता हूं कि अब मैं इन द्यूतपाशों से क्रीडा नहीं करूंगा, क्योंकि समीप से दूर भागते हुए मित्रगण मुझे छोड़ते चले जा रहे हैं। पर द्यूतफलक पर फेंके हुए ये भूरे-भूरे द्यूतपाश जब शब्द करते हैं, तब मैं आकृष्ट हो इनके पास पहुंच ही जाता हूं (मन्त्र ५)। 'जीत भी जाऊंगा या नहीं' यह पूछता हुआ जुआरी मैं शरीर से बेचैन होता हुआ द्यूतसभा में पहुंचता हूं। प्रतिपक्षी जुआरी के लिए अपनी कमाई को आगे रखते हुए मेरी उत्सुकता को द्यूतपाश और भी बढ़ा देते हैं (मन्त्र ६)। मैंने देख लिया है कि द्यूतपाश निश्चय ही अंकुश के समान दुःखदायी हैं, व्यथाजनक हैं, हृदय का कर्तन कर देने वाले हैं, संतापशील हैं, अत्यल्प देने वाले हैं[५७], जीतने वाले को भी पुनः मारने वाले हैं, ऊपर से मधुसंपृक्त (आकर्षक) हैं, पर वस्तुतः जुआरी का सर्वनाश कर देने वाले हैं (मन्त्र ७)। इन पाशों का ५३ का समूह द्यूतफलक पर क्रीडा करता है[५८], जैसे सत्यधर्मा सविता देव गगनफलक पर क्रीडा करता है। उग्र मनुष्य के क्रोध के आगे भी ये नहीं झुकते। राजा भी इन्हें नमस्कार

---

५७. कुमारदेष्णाः (पदपाठ—कुमारऽदेष्णाः), अत्यल्प धन देने वाले। तुलनीय : ऋग् ७. ३७. ३, जहां धन के दो विभाग कहे हैं, एक विपुल (महः) दूसरा अर्भ अर्थात् शिशु या अल्प।

They give frail gifts.—Griffith. Presenting gifts like boys. Giving gifts and then taking them back like children. —Macdonell : A Vedic Reader for students.

५८. 'त्रिपञ्चाशः त्र्यधिकपंचाशत्संख्याकः व्रातः सङ्घः', सायण। लुड्विग का विचार है कि यहां त्रिगुण पंच अर्थात् पन्द्रह अर्थ करना अधिक उचित है; द्रष्टव्यः ग्रिफिथ की टिप्पणी। मैकडानल तीन पचास अर्थात् १५० की संख्या अभिप्रेत मानते हैं।

ही करता है (मन्त्र ८)। ये पासे नीचे पड़े होते हैं, तो भी ऊपर स्फुरण करते हैं, अर्थात् इनका प्रभाव ऊपर हृदय तक पहुंचता है। इनके हाथ नहीं हैं, तो भी ये हाथ वाले को परास्त कर देते हैं। द्यूतफलक पर फेंके हुए ये दिव्य अंगारे हैं, जो शीतल होते हुए भी हृदय को जलाते हैं (मन्त्र ९[५६])। मुझ जुआरी की जाया हीन दशा को प्राप्त हुई दुःख पाती है। इधर-उधर भटकने वाले मुझ जुआरी पुत्र की माता भी दुःख भोगती है। मैं ऋणी होकर डरता-डरता धन की इच्छा से रात्रि में (चोरी के लिए) अन्यों के घर पहुंचता हूं (मन्त्र १०)। एक ओर अपनी दुर्दशाग्रस्त पत्नी को और दूसरी ओर अन्यों की पत्नी तथा सुसज्जित घर को देखकर मैं बहुत सन्तप्त होता हूं। पूर्वाह्न में जो बभ्रु अश्वों को रथ में नियुक्त करता था, वही (सब सम्पत्ति जुए में हार कर शीतार्त हुआ) वृषल के समान अग्नि के समीप पड़ा हूँ (मन्त्र ११)। अतः हे द्यूतपाशो, जो तुम्हारे महान् गण का सेनापति है और श्रेष्ठ राजा है, उसके संमुख मैं हाथ जोड़ता हूं। अब भविष्य में उसके लिए धन जोड़-जोड़ कर नहीं रखूंगा। यह मैं सत्य कह रहा हूं (मन्त्र १२)। हे मेरे जुआरी भाई, (मेरे अनुभव से तू भी शिक्षा ले) द्यूतक्रीडा मत कर, कृषि ही कर, उससे जो कुछ धन तुझे प्राप्त हो उसे ही बहुत मानता हुआ भोग कर। उसी में गोसुख है, उस में पत्नीसुख है। यह बात सब के स्वामी सविता (प्रेरक प्रभु) ने मुझे स्पष्ट कर दी है (मन्त्र १३)।"

इस परिदेवन में क्रमशः परिवर्तित होने वाली जुआरी की मनोदशा का बड़ा ही स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक चित्रण हुआ है। प्रथम वह द्यूत के प्रति ऐसा आकृष्ट होता है, जैसे सोमरस के प्रति। द्यूतपाश उसे मतवाला किये रहते हैं। द्यूतक्रीडा में आसक्त वह रात्रि में भी जागता है। कभी-कभी विजय का मुख देख वह लाखों का स्वामी होने का स्वप्न देखने लगता है। हारता भी है तो जीत की आशा उसे पुनः पुनः खेलने के लिए प्रेरित करती है। अन्त में सब धन वह जुए में हार जाता है। पत्नी, भाई, बान्धव सब उससे विमुख होने लगते हैं। तब वह जुआ न खेलने का प्रण करता है। पर द्यूतालय के समीप से जा रहा होता है, और द्यूतपाशों की चिर-परिचित ध्वनि उसके श्रोत्रविवरों में प्रविष्ट होती है, तब अपना सब प्रण विस्मृत कर

The evidence is in favour of interpreting the word as meaning 'consisting of three fifties' not 'Consisting of fifty-three' as the number of dice normally used.—Macdonell : A Vedic Reader for students.

५६. यह विरोधाभास अलंकार का एक सुन्दर उदाहरण है।

देता है, और पुन: एक बाजी खेल लेने के लिए द्यूतगृह में पहुंच जाता है। कई बार वह ऐसा प्रण करता है और हरबार पुनः प्रलोभन में पड़ जाता है। पर फल विपरीत ही होता है। अन्त में जब अपनी दरिद्र दशा को निहारता है, अपने जीर्ण-शीर्ण घर की अन्यों के राजभवनों से, अपनी जीर्णवसना पत्नी की दूसरों की अलंकृत पत्नियों से तुलना करता है, तब वह द्यूत के प्रति विरक्त हो जाता है। इसी विरक्त दशा में वह अपने भाव प्रकट कर रहा है, द्यूत से निष्पन्न हुई अपनी दशा पर रह-रह कर परिदेवन कर रहा है, और उस दिन की प्रतीक्षा में है जब वह अपने परिश्रम की कमाई से समृद्ध होगा।

मैं अपने आपको ही नहीं जानता

द्यूत-सूक्त के पश्चात् अब परिदेवन के अन्य प्रसंगों पर आते हैं। निम्न प्रसंग में अज्ञान एवं अविवेक से ग्रस्त कोई मनुष्य अपनी अवस्था से उद्विग्न हो परिदेवन कर रहा है—

न विजानामि यदि वेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद् वाचो अश्नुवे भागमस्याः॥

ऋग् १. १६४. ३७; अथर्व ९. १०. १५

"मैं यही नहीं जानता कि मैं यह हूं या वह हूं, क्या हूं। अज्ञान से अन्तर्हित हुआ, रागादि के बन्धनों से बंधा हुआ भटक रहा हूं। जब मेरे अन्दर सत्य का प्रथमोन्मेष होगा तब मैं दिव्यवाणी के अभिप्राय को हृदयंगम कर सकूंगा"।

वेद मुझे बताते हैं कि हे मानव, तू अजर है, अमर है, अमृतपुत्र है, साक्षात् सूर्य है, देव है। पर मैं दिव्य वेदवाणी का अर्थ नहीं समझ पाता। आज मेरी अवस्था यह है कि मैं कभी शरीर को, कभी इन्द्रियों को, कभी मन को, कभी बुद्धि को समझता हूं कि यह मैं हूं। मुझे असली आत्म-स्वरूप का ही परिचय नहीं है। इस दशा से व्याकुल हुआ मैं 'ऋत के प्रथमजा' की, सत्य के प्रथमोन्मेष की आतुरता से प्रतीक्षा कर रहा हूं। कब वह मेरे अन्दर आयेगा, और कब मैं अपने आप को जान सकूंगा।

ज्योति की राह दिखाओ

ऋग्वेद के एक अन्य प्रसंग में सर्वथा किंकर्तव्यविमूढ हुआ मनुष्य मार्ग-दर्शन के लिए आदित्यों (अखण्डज्योति नेताओं) का आह्वान कर रहा है—

न दक्षिणा विचिकिते न सव्या न प्राचीनमादित्या नोत पश्चा।
पाक्या चिद् वसवो धीर्याचिद् युष्मानीतो अभयं ज्योतिरश्याम्॥

ऋग् २.२७.११

"हे आदित्यो, न मुझे दाहिने कुछ सूझ रहा है, न वाएं, न पूर्व में, न पश्चिम में। चाहे कितना ही मैं अपरिपक्व हूं, चाहे कितनी ही मुझे बुद्धि की आवश्यकता है, तो भी हे निवासको, मैं चाहता हूं कि तुम्हारा पथ-प्रदर्शन प्राप्त कर मैं अभयज्योति को पा लूं।

इस काली रात्रि को कैसे पार करूं ?

ऋग्वेद ६.९ में निराशा की काली रात्रि से घिरा हुआ कोई मनुष्य खड़ा है। उसके चक्षु, श्रोत्र, मन आदि सब अन्धकार में भटक रहे हैं। ऐसी अवस्था से भयभीत हो वह परिदेवन कर रहा है तथा वैश्वानर ज्योति के चमकने की बाट जोह रहा है।

अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च विवर्तेते रजसी वेद्याभिः।
वैश्वानरो जायमानो न राजाऽवातिरज्ज्योतिषाग्निस्तमांसि ॥
नाहं तन्तुं न विजानाम्योतुं न यं वयन्ति समरेऽतमानाः।
कस्य स्वित् पुत्र इह वक्त्वानि परो वदात्यवरेण पित्रा ॥
वि मे कर्णा पतयतो वि चक्षुर्वीदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत्।
वि मे मनश्चरति दूर आधीः किं स्विद् वक्ष्यामि किमु नु मनिष्ये ॥
विश्वे देवा अनमस्यन् भियानास्त्वामग्ने तमसि तस्थिवांसम्।
वैश्वानरोऽवतूतये नोऽमर्त्योऽवतूतये नः ॥ ऋग् ६.९.१,२,६,७

"एक निराशा और तमस् का काला दिन है, दूसरा आशा और प्रकाश का श्वेत दिन है। वे दोनों मेरे मानस के द्यावापृथिवी में आते-जाते रहते हैं। जब वैश्वानर-प्रभु उदीयमान राजा के समान मेरे हृत्पटल में आकर अपनी दिव्य ज्योति से 'अन्धकार' को छिन्न-भिन्न करते हैं, उस समय काला दिन श्वेत दिन में परिणत हो जाता है (मन्त्र १)। पर आज तो मेरे मानस में काला दिन ही छाया हुआ है। मैं विवेकहीन सा हो रहा हूं। न मैं यह समझ पा रहा हूं कि जीवन का ताना कैसे तना जाए, न यह जान पा रहा हूं कि बाना कैसे भरा जाए, और न ही यह विवेक कर पा रहा हूं कि संसार-समर में गति करते हुए जन किस पट को बुना करते हैं। किस का पुत्र है जो ज्ञान में अपने पिता से भी श्रेष्ठ होता हुआ मुझे यह सब बतलायेगा (मन्त्र २)। मेरे श्रोत्र इतस्ततः भटक रहे हैं, चक्षु भटक रही है, हृदय में निहित यह आत्म-ज्योति भी भटक रही है। मेरा मन दूर की चिन्ताओं में उलझ रहा है। ऐसी अवस्था में मैं क्या भाषण कर सकूंगा, क्या विचार कर सकूंगा (मन्त्र ६)। हे मेरे वैश्वानर अग्ने, तुम्हीं अन्धकार में आच्छन्न हो गये हो तो अन्य इन्द्रिय रूपी देवों का क्या कहना। वे भयभीत होकर तुम्हें नमस्कार कर रहे हैं और पुकार मचा

रहे हैं कि वैश्वानर आत्मा हमारी रक्षा करे, अमर आत्मा हमारी रक्षा करे (मन्त्र७)।"

हे वरुण, दर्शन क्यों नहीं देते ?

ऋग्वेद ७.८६ का प्रसंग है। भक्त वरुण भगवान् के दर्शन की लालसा संजोये चिरकाल से हृदय-मन्दिर को अलंकृत किये प्रतीक्षा में बैठा-बैठा हार गया है। भगवान् कृपा नहीं कर रहे। वह आतुर हो कहता है—

पृच्छे तदेनो वरुण दिदृक्षूपो एमि चिकितुषो विपृच्छम्।
समानमिन्मे कवयश्चिदाहुरयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते ॥
किमाग आस वरुण ज्येष्ठं यत् स्तोतारं जिघांससि सखायम्।
प्र तन्मे वोचो दूडभ स्वधावोऽव त्वानेना नमसा तुर इयाम् ॥

ऋग् ७.८६.३,४

"हे वरुण, आपके दर्शन का अभिलाषी मैं आपसे पूछता हूं कि मेरा अपराध तो बताइये, जिससे आप मुझे दर्शन नहीं देते हैं। यही प्रश्न करने के लिए मैं ज्ञानी-जनों के समीप भी गया हूं। सभी ने समान रूप से मुझे यही कहा है कि वरुण तुम पर प्रकुपित हैं (मन्त्र ३)। हे प्रभो, मेरा क्या अपराध है, जिससे आप मेरा हनन करना चाहते हैं ? हे दुर्दमनीय, हे तेजस्विन्, मुझे बताइये तो, जिससे निरपराध होकर नमस्कारपूर्वक सत्वर मैं आपके शरणागत हो जाऊं (मन्त्र ४)।"

जालबद्ध मत्स्यों का करुण क्रन्दन

ऋग्वेद ८.६७ के ऋषि जालबद्ध मत्स्य हैं[६०]। वे जाल में बंधे-बंधे अतिशय व्याकुल हो गये हैं, और मुक्त होना चाहते हैं। वस्तुतः जालबद्ध मत्स्य सांसारिक पाशों में बंधे हुए मानव ही हैं। वे अकुला कर कह रहे हैं—

जीवान्नो अभिधेतनादित्यासः पुरा हथात्।
कद्ध स्थ हवनश्रुतः ॥ ऋग् ८.६७.५

"हे आदित्यो, हे नेताओ, जाल में बंधे हुए हम मरणासन्न हो रहे हैं। कृपा करो, मरण से पूर्व ही हम जीवितों के पास रक्षार्थ दौड़ कर चले आओ। हे पुकार को सुनने वालो, कहां हो ? इस दशा से हमारा उद्धार करो।"

अहो, मैं क्या से क्या हो गया ?

एक ऋषि है। पहले उसकी बहुत उन्नत दशा थी। वह समर्थ तथा समृद्ध था। सर्वत्र उसका स्वागत और आदर होता था। किन्तु दुर्भाग्य से अब दुर्दशा-

६०. मत्स्यानां जालमापन्नानामेतदार्षं वेदयन्ते। निरु. ६.२७। का. ऋ. सर्वा. तथा बृ.दे. ६.८८-९० भी द्रष्टव्य।

पन्न हो गया है, निर्बलता, निर्धनता एवं मतिहीनता उसे क्लेशित कर रही हैं। अपनी इस अवस्था के प्रति परिदेवन करता हुआ वह सहायतार्थ इन्द्रादि देवों को पुकार रहा है–

प्र मा युयुज्रे प्रयुजो जनानां वहामि स्म पूषणमन्तरेण।
विश्वे देवासो अध मामरक्षन् दुःशासुरागादिति घोष आसीत्॥
सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः।
निबाधते अमतिर्नग्नता जसुर्वेर्न वेवीयते मतिः॥
मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यः स्तोतारं ते शतक्रतो॥
सकृत्सु नो मघवन्निन्द्र मृडयाधा पितेव नो भव॥ ऋग् १०.३३.१-३

"अहो, कोई समय था जब जनों को प्रयत्न में लगाने वाली शक्तियों ने मुझे कार्य-तत्पर किया हुआ था। में अपने अन्तर में पूषा प्रभु को धारण किये घूमता था। समस्त देव मेरी रक्षा मे तत्पर थे। जहां-कहीं मैं पहुंच जाता था 'वह दुर्जय्य आ गया' इन शब्दों के साथ मेरा स्वागत ओर जयजयकार होता था (मन्त्र १)। पर अब तो मेरी दशा विपरीत हो गयी है। ये पार्श्वस्थ जन मुझे सपत्नियों के समान सता रहे हैं, पार्श्वस्थ जन क्या, मेरी अपनी हड्डी-पसलियां ही दुखःदायी हो रही हैं। मतिहीनता मुझे पीडित कर रही है, नग्नता मुझे आकुल कर रही है, मेरी मति ऐसे कांप रही है, जैसे व्याध के भय से पक्षी की (मन्त्र-२)। हे शतक्रतो, जैसे मूषिकाएं आटे से पान कराये गये सूत्रों को खा जाती हैं, वैसे ही चिन्ताएं मुझ आपके स्तोता को खाये जा रही हैं। मघवन्, एक बार तो दया करो, मुझे सुखी कर दो। मेरे लिए पितृतुल्य हो जाओ (मन्त्र ३)"॥[६१]

विरही का विलाप

पुरूरवा की पत्नी उर्वशी उसे छोड़ अन्यत्र चली गयी है। उसके विरह में वह विलाप कर रहा है–

सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत् परावतं परमां गन्तवा उ।
अधा शयीत निर्ऋतेरुपस्थेऽधैनं वृका रभसासो अद्युः॥ ऋग् १०.९५.१४

"मेरी उर्वशी मुझसे वियुक्त हो गयी है। मैं इस विरह को कैसे सहन करूं? इस अवस्था में घुल-घुल कर मरने से अच्छा तो यही है कि इस संसार से महाप्रयाणं कर जाने के लिए किसी पर्वत आदि ऊचे स्थान मे अपने आपको गिरा दूं, सदा के लिए पृथिवी की गोद में सो जाऊं, और तेजी से झपटने वाले भेड़िये मुझे खा जाएं।[६२]"

---

६१. इस सूक्त का ऋषि कवष ऐलूष है।

६२. पुरूरवा-उर्वशी के प्रसंग की व्याख्या के लिए द्रष्टव्य: चतुर्थ अध्याय।

ये मनुष्य के आत्म-परिदेवन के उदाहरण हैं। सभी में यथायोग्य आत्मा का निर्वेद, दीन दशा का सहज चित्रण, हृदय की अकुलाहट, अभद्र के प्रति विरक्ति, भद्र-प्राप्ति की उत्सुकता, अपराध-स्वीकार की निश्छलता, उद्धारक के प्रति समर्पण एवं अन्तस्तल का करुण क्रन्दन ध्वनित हो रहे हैं।

उपसंहार

ऊपर वेदों की आत्मकथात्मक शैली पर हमने उदाहरणों सहित विचार किया है। इनमें कुछ इन्द्रादि देवों की आत्मकथाएं हैं, कुछ राजा, सेनानी आदि की आत्म-स्तुतियां हैं, कुछ मनुष्य के अपने सम्बन्ध में कहे गये आशा या निराशा के उद्गार हैं। इस शैली का जितना भावपूर्ण, विचारोद्बोधक, प्रभावजनक, हृदय के उत्साह, वीरत्व एवं कर्तृत्व को प्रकट करने वाला, रसानुकूल, सजीव चित्रण वेदों में हुआ है, वैसा अन्यत्र बहुत कम देखने को मिलता है। यद्यपि वैदिक संहिताओं में इस शैली के अनेक स्थलों में दर्शन होते हैं, तो भी संहितोत्तरकालीन वैदिक साहित्य में इसका प्रचलन एवं पल्लवन दृष्टिगोचर नहीं होता। ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद् सभी में आत्मकथात्मक नहीं, प्रत्युत कथात्मक या आख्यानात्मक शैली ही विशेष आदृत हुई है। इसका प्रमुख कारण यह है कि उत्तर साहित्य में रोचकता की ओर अधिक ध्यान रखा गया है और दोनों की तुलना में कथात्मक शैली अधिक रोचक ठहरती है। तो भी यह गौरव का विषय है कि वेदों में आत्मकथात्मक शैली का अच्छे उत्कर्ष, चारुत्व और रोचकत्व के साथ सफल प्रयोग हुआ है, तथा कुछ अन्य शैलियों के समान इस शैली के भी वेद ही जन्मदाता कहे जा सकते हैं।

चतुर्थ अध्याय

संवादात्मक शैली

वेदों में कुछ संवादसूक्त आते हैं, जिनमें दो या अधिक पात्रों के संवाद द्वारा किन्हीं रहस्यों को प्रकट किया गया है। संवादों द्वारा शिक्षा देना शिक्षण की एक रोचक शैली है। वेद के ये संवाद भाषा, भाव, नाटकीय शैली आदि सभी दृष्टियों से अतिशय कलात्मक हैं। इन्हीं नाटकीय संवादों को देखकर अनेक विद्वान् संस्कृत नाटक का उद्‌भव वेदों से मानते हैं। संभवतः ऐसा समझा जाता रहा है कि वेद के ये संवाद या तो ऐतिहासिक हैं या निरी कवि-कल्पना की उपज हैं, अतः इनकी काव्यमयता का आनन्द लेने के अतिरिक्त इनके पात्रों तथा कथानकों के स्वरूप निर्णीत करने या किन्हीं विशेष क्षेत्रों में इन्हें घटाने की आवश्यकता नहीं है। हो सकता है इसी कारण माधव, सायण आदि भाष्यकारों ने इस दिशा में विशेष प्रयत्न न किया हो। तो भी इस ओर इनका ध्यान सर्वथा नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कहीं-कहीं इन की लेखनी से भी इस दिशा में विचार करने की प्रेरणा मिलती है। यथा, इन्द्र और मरुतों के संवादप्रसंग में सायण ने लिखा है कि इसकी योजना प्राण और जीवात्मा परक भी करनी चाहिए[1]। ब्राह्मण ग्रन्थ, निरुक्त, बृहद्-देवता आदि में भी इनकी व्याख्या के संकेत मिल जाते है, यद्यपि प्रधानतः वे प्रकृतिपरक ही हैं। गैल्डनर, ओल्डनबर्ग, लुडविग, रॉथ, मैक्समूलर, ग्रिफिथ प्रभृति विदेशी विद्वानों ने भी किन्हीं-किन्हीं संवादों पर विचार किया है, पर उनका प्रयत्न भी प्राकृतिक व्याख्या तक ही सीमित है। आध्यात्मिक, राज-नीतिक आदि इतर क्षेत्रों की व्याख्याएं अब तक नहीं के बराबर है।

संवादात्मक शैली विशेषतः ऋग्वेद में ही पायी जाती है। अथर्ववेद तथा यजुर्वेद में संवाद नाममात्र हैं। सामवेद में कोई स्पष्ट संवाद नहीं मिलता। चारों वेदों में संवाद के स्थल निम्न हैं—

ऋग् १. १६५	इन्द्र-मरुत्-संवाद
ऋग् १. १७०	इन्द्र-अगस्त्य-संवाद
ऋग् १. १७९	अगस्त्य-लोपामुद्रा-संवाद
ऋग् ३. ३३	विश्वामित्र-नदी-संवाद
ऋग् ४. १८	इन्द्र-अदिति-वामदेव-संवाद

---

१. द्रष्टव्य : ऋग् १. १६५. १ पर सायणभाष्य।

ऋग् ७. ३३	वशिष्ठ-वशिष्ठपुत्र-संवाद
ऋग् ८. १००	इन्द्र-नेम-संवाद
ऋग् १०. १०	यम-यमी-संवाद
ऋग् १०. २८	इन्द्र-वसुक्रपत्नी-संवाद
ऋग् १०. ५१-५३	अग्नि-देवगण-संवाद
ऋग् १०. ८६	इन्द्र-इन्द्राणी-वृषाकपि-संवाद
ऋग् १०. ९५	पुरूरवा-उर्वशी-संवाद
यजु २३. २२-३१	ऋत्विज्-संवाद
अथर्व ५. ११	भक्त-वरुण-संवाद
अथर्व १८. १. १-१६	यम-यमी-संवाद
अथर्व २०. १२६	इन्द्र-इन्द्राणी-वृषाकपि-संवाद

यद्यपि प्रमुख संवाद ये ही हैं, तो भी कुछ अन्य प्रसंगों को भी संवादरूप माना जा सकता है। यथा, ऋग् १.१२६ के अन्तिम दो मन्त्रों को अनुक्रमणी-कार ने संवादात्मक कहा है, जिनमें भावयव्य तथा रोमशा की बातचीत[२] है। ऋग् ८. ४५ के मन्त्र ३१-३७ में ऋषि तथा इन्द्र का संवाद है, यद्यपि इसे अनुक्रमणी आदि में संवादरूप कहा नहीं गया है। यहां ऋषि इन्द्र से प्रार्थना करता है कि हम से एक–दो–तीन या अधिक अपराध हो जाने पर तू हमारा वध मत करना तथा इन्द्र उत्तर देता है कि बताओ तो सही, मैंने किसका वध किया है? तुम मेरे सखा हो, मैं तुम्हारा वध भला क्यों करूंगा! ऋग् १०.१४६ को मुनि-अरण्यानी-संवाद समझा जा सकता है, यद्यपि संवाद-सूक्तों में इसका परिगणन नहीं किया जाता। इसमें मुनि अरण्यानी से कहता है कि तुम अरण्यों में छिपी रहती हो, ग्राम को क्यों नहीं पूछतीं। वह उत्तर देती है कि अरण्यों में तो अमुक–अमुक आनन्द हैं। यहां हम कुछ प्रमुख संवादों पर विचार करेंगे तथा उनकी विविध दृष्टिकोणों से क्या व्याख्याएं हो सकती हैं, यह दर्शाने का प्रयास करेंगे।

इन्द्र-मरुत् तथा इन्द्र-अगस्त्य के संवाद

क. इन्द्र-मरुत्-संवाद

ऋग्वेद १. १६५ में इन्द्र तथा मरुतों का संवाद है। यह १५ मन्त्रों का सूक्त है। कात्यायन की सर्वानुक्रमणी के अनुसार मन्त्र ३, ५, ७ तथा ९ मरुतों की ओर से एवं मन्त्र १, २, ४, ६, ८, १०-१२ इन्द्र की ओर से कहे

---

२. अन्त्ये अनुष्टुभौ। भावयव्यरोमशयोर्दम्पत्योः संवादः। का. ऋ. सर्वा.

गये हैं, अन्तिम तीन मन्त्र अगस्त्य के हैं[3]। अगस्त्य ने यज्ञ रचाया है। हवि-र्ग्रहणार्थ इन्द्र तथा मरुद्गण दोनों जाते हैं। इन्द्र मरुतों को आता हुआ देख कहता है—

कया शुभा सवयसः सनीडाः समान्या मरुतः सं मिमिक्षुः ।
कया मती कुत एतास एतेऽर्चन्ति शुष्मं वृषणो वसूया ॥१॥
कस्य ब्रह्माणि जुजुषुर्युवानः को अध्वरे मरुत आ ववर्त ।
श्येनाँ इव ध्रजतो अन्तरिक्षे केन महा मनसा रीरमाम ॥२॥

"एक सी आयु वाले, एक स्थान के वासी ये मरुत् कैसी निराली एक-समान शोभा से अपने आपको सिंचित किये हुए हैं। किस इच्छा से, कहाँ से ये आये हैं ? कुछ भी हो, ये बली मरुत् मेरे बल को बढ़ाते ही हैं। किसके स्तोत्रों या निमन्त्रणों को इन्होंने सुना है ? किसने यज्ञ में इन्हें बुलाया है ? श्येनों के समान अन्तरिक्ष में सवेग गति करने वाले इन्हें मैं किस महान् मन से प्रशंसा कर आनन्दित करूं ?"

इन्द्र द्वारा कहे गये ये प्रशंसावचन मरुतों के भी कानों में पड़ते हैं। वे सोचते हैं कि इन्द्र हमारी सहायता के बिना वृत्रवध, वृष्टिकर्म आदि में असमर्थ है, इसी कारण हमारी प्रशंसा कर रहा है। अतः वे गर्वपूर्वक इन्द्र को कहते हैं—

कुतस्त्वमिन्द्र माहिनः सन्नेको यासि सत्पते किं त इत्था ।
संपृच्छसे समराणः शुभानैर्वोचेस्तन्नो हरिवो यत् ते अस्मे ॥३॥

"हे सत्पति इन्द्र, क्यों तू इतना महान् होता हुआ भी एकाकी विचरता है (क्या तेरा कोई अनुचर नहीं है) ? तेरी ऐसी दशा क्यों है ? हमसे मिलने पर शुभ प्रशंसा-वचनों के साथ हमारे विषय में पूछ रहा है। हे हरि नामक अश्वों वाले, जो तुझे हमसे प्रयोजन है, स्पष्ट कह।"

यह गर्वोक्ति सुन इन्द्र विचारता है—अरे, इन्होंने तो मेरी प्रशंसा का विपरीत ही अर्थ ले लिया। तब वह भी सगर्व कहता है कि मुझे न किसी अनुचर की आवश्यकता है, न तुम्हारी आवश्यकता है—

ब्रह्माणि मे मतयः शं सुतासः शुष्म इयर्ति प्रभृतो मे अद्रिः ।
आ शासते प्रति हर्यन्त्युक्थेमा हरी वहतस्ता नो अच्छ ॥४॥

---

३. मैक्समूलर तथा रॉथ १म, २य मन्त्रों को भी अगस्त्य द्वारा उक्त मानते हैं, शेष में वे अनुक्रमणीकार से सहमत हैं। पर लुडविग अनुक्रमणी के वर्गी-करण को स्वीकार नहीं करते। हमने यहां अनुक्रमणी का ही अनुसरण किया है।

"मेरे लिये ही ब्रह्म हैं, मेरे लिए ही स्तोताओं के स्तोत्र हैं, मुझे ही सोमरस शान्ति देते हैं। मेरा ही बल सर्वत्र प्रसिद्ध है। मैं ही वज्र को उठाये हूँ। सब मुझसे ही आशा लगाते हैं, उक्थ मेरा ही कीर्तन करते हैं। ये मेरे हरि (दोनों अश्व) उनके प्रति मुझे ले जाते हैं।"

अब मरुत् कुछ ढीले पड़ते हैं और समझौते की बात करना चाहते हैं—

अतो वयमन्तमेभिर्युजानाः स्वक्षत्रेभिस्तन्वः शुम्भमानाः।
महोभिरेताँ उपयुज्महे न्विन्द्र स्वधामनु हि नो बभूथ ॥५॥

"इसी कारण हम अपने निकटतम साथियों से युक्त हुए, अपने क्षात्र-बलों से शरीरों को शोभित किये हुए, बड़े गौरव के साथ अपने घोड़ों को जोत कर तेरे पास आये हैं, क्योंकि अन्ततः हमारी सहायता पाकर ही तो तू समर्थ होता है।"

पर इन्द्र फिर फटकार बताता है—

क्व स्या वो मरुतः स्वधासीत् यन्मामेकं समधत्ताहिहत्ये।
अहं ह्यु ग्रस्तविषस्तुविष्मान् विश्वस्य शत्रोरनमं वधस्नैः ॥६॥

"हे मरुतो, कहाँ चली गयी थी तुम्हारी वह सहायता, जब तुमने वृत्र-वध के समय मुझे एकाकी छोड़ दिया था? मैं निश्चय ही उग्र हूं, विशाल हूं, बलवान् हूं। अपने वध-कौशलों से मैंने शत्रुओं का संहार कर दिया है।"

मरुत् फिर अपनी सहायता का राग अलापते हैं—

भूरि चकर्थ युज्येभिरस्मे समानेभिर्वृषभ पौंस्येभिः।
भूरीणि हि कृणवामा शविष्ठेन्द्र क्रत्वा मरुतो यद् वशाम ॥७॥

"हे वृषभ, हमारा साथ पाकर ही तो तूने अपने पौरुषों से बहुत से कार्य किये हैं। हे बलवत्तम, हम मरुतों ने भी अनेक वीरता के कर्म किये हैं, जो-जो अपनी इच्छा से हमने करने चाहे हैं।"

अभिप्राय यह है कि हम भी शक्तिशालो हैं, हमने तेरी भी सहायता की है और स्वतन्त्र रूप से भी अनेक शक्ति के कार्य किये हैं, अतः हमारी उपेक्षा मत कर। पर इन्द्र उनकी आत्मश्लाघा का सिक्का मानने को तैयार नहीं है। यह बात नहीं कि वह उनके महत्त्व को नहीं समझता, पर उनका गर्व खण्डित करना चाहता है। वह उत्तर देता है—

वधीं वृत्रं मरुत इन्द्रियेण स्वेन भामेन तविषो बभूवान्।
अहमेता मनवे विश्वश्चन्द्राः सुगा अपश्चकर वज्रबाहुः ॥८॥

"हे मरुतो, मैंने अपने ही इन्द्रत्व से, अपने ही तेज से बलवान् होकर वृत्र का वध किया है। मैंने स्वयं वज्रबाहु हो कर मनुष्य के लिए इन सर्वाह्लादक जलों की वर्षा की है।"

अन्ततः मरुत् झुक जाते हैं और इन्द्र की स्तुति करने लगते हैं–

अनुत्तमा ते मघवन्नकिर्नु न त्वावाँ अस्ति देवता विदानः ।
न जायमानो नशते न जातो यानि करिष्या कृणुहि प्रवृद्ध ॥९॥

"हे मघवन्, ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे आपने प्रेरित न किया हो, न ही आपके सदृश विद्वान् कोई अन्य देव है । हे प्रवृद्ध, जिन कार्यों को आप कर रहे हैं तथा करेंगे उन्हें करने वाला न कोई उत्पन्न हुआ है, न होगा ।"

इन्द्र सोचता है, अब ये मार्ग पर आये हैं । वह कहता है–

एकस्य चिन्मे विभ्वस्त्वोजो या नु दधृष्वान् कृणवै मनीषा ।
अहं ह्यु्ग्रो मरुतो विदानो यानि च्यवमिन्द्र इदीश एषाम् ॥१०॥
अमन्दन्मा मरुतः स्तोमो अत्र यन्मे नरः श्रुत्यं ब्रह्म चक्र ।
इन्द्राय वृष्णे सुमखाय मह्यं सख्ये सखायस्तन्वे तनूभिः ॥११॥
एवेदेते प्रति मा रोचमाना अनेद्यः श्रव एषो दधानाः ।
संचक्ष्या मरुतश्चन्द्रवर्णा अच्छान्त मे छदयाथा च नूनम् ॥१२॥

"हे मरुतो, निःसन्देह मुझ एकाकी का ओज बड़ा विभु है, जिसे धर्षणशील होकर मैंने अपनी इच्छा से उत्पन्न किया है । मैं उग्र भी हूं, विद्वान् भी हूं और जिन कार्यों को मैंने किया है उनको करने का प्रभुत्व मुझ में ही है । पर, हे मरुतो, हे वीरो, हे मित्रो, अभी जो तुमने मुझ वृषा, सुयज्ञकर्ता के लिए श्रवणीय स्तोत्रगान किया है, उसने मुझे आनन्दित कर दिया है । इसी प्रकार हे चन्द्रवर्ण मरुतो, मेरे प्रति प्रीतियुक्त होते हुए अनिन्दनीय यश तथा अन्नों को लाते रहो । जैसे तुमने इस समय स्तोत्र कह कर मुझे वशीभूत किया है, वैसे ही आगे भी करते रहो ।"

इस प्रकार इन्द्र तथा मरुतों की मैत्री हो जाने पर अगले तीन मन्त्रों में अगस्त्य मरुतों की स्तुति करता है तथा उनसे प्रार्थना करता है कि तुम सखा बन कर हम सखाओं के पास आते रहो । इससे आगे सूक्त १६६ से १६९ तक अगस्त्य जो स्तुति करता है उसमें मरुत् तथा इन्द्र दोनों का ही स्तवन है ।

(ख) इन्द्र-अगस्त्य-संवाद

सूक्त १७० में फिर एक संवाद है जो इन्द्र तथा अगस्त्य के बीच में है । इस पर निरुक्त में इतिहास दिखाया है कि अगस्त्य ने पहले इन्द्र को हवि देनी चाही, पर फिर मरुतों को देने का उसका विचार हो गया, तब इन्द्र आकर परिदेवन करने लगा[४] । अभी हम देख चुके हैं कि इन्द्र तथा मरुतों में समझौता

४. अगस्त्य इन्द्राय हविर्निरुप्य मरुद्भ्यः सम्प्रदित्सांचकार, स इन्द्र एत्य परिदेवयांचक्रे । निरु. १.६

हो जाने पर अगस्त्य दोनों का मूल्यांकन कर दोनों की ही स्तुति करता है। इस समय वह मरुतों को हवि देने लगा है। इन्द्र को सन्देह हो जाता है कि मेरी उपेक्षा हो रही है, अब अगस्त्य मरुतों को ही हवि दिया करेगा। इस सूक्त में ५ मन्त्र हैं। कात्यायनीय अनुक्रमणी के अनुसार प्रथम, तृतीय तथा चतुर्थ मन्त्र इन्द्र के वाक्य हैं, शेष द्वितीय तथा पंचम अगस्त्य के[५]। इन्द्र कहता है—

न नूनमस्ति नो श्वः कस्तद् वेद यदद्भुतम्।
अन्यस्य चित्तमभि संचरेण्यमुताधीतं विनश्यति॥ १॥

"आज तो मुझे हवि मिल ही नहीं रही, संभव है कल भी न मिले, क्योंकि भविष्य को कौन जानता है। साधारण मनुष्य का चित परिवर्तनशील होता है, उसका निश्चय बदल भी जाता है।"

इस प्रकार इन्द्र मरुतों को हवि दिया जाना सहन नहीं करता। यह सोच कर वह सन्तोष भी कर सकता था कि मरुत् भी तो महिमाशाली हैं, आज उन्हें ही सही, मुझे फिर किसी दिन हवि मिल जाएगी। पर वह मरुतों के प्रति असहिष्णुता दिखाता है। इस पर अगस्त्य कहता है—

किं न इन्द्र जिघांससि भ्रातरो मरुतस्तव।
तेभिः कल्पस्व साधुया मा नः समरणे वधीः॥२॥

"हे इन्द्र, क्यों तू हमें मारना चाहता है? मरुत् तेरे भाई हैं। उनके साथ तू साधु रीति से व्यवहार कर। संग्राम में हमारी तू हिंसा मत कर।"

अभिप्राय यह है कि हमें मरुतों को हवि देते देख तू क्रुद्ध क्यों हो रहा है, मरुत् तो तेरे भाई हैं, आज उन्हें हम हवि दे रहे हैं तो तुझे प्रसन्न ही होना चाहिए। तुझे भी तो देते ही रहते हैं, मरुतों को हवि देते देख हमारी हिंसा पर पर तू क्यों उतर आया है। इस पर इन्द्र पुनः कहता है—

किं नो भ्रातरगस्त्य सखा सन्नति मन्यसे।
विद्मा हि ते यथा मनोऽस्मभ्यमिन्न दित्ससि॥३॥

---

५. मैक्समूलर ने तृतीय, चतुर्थ मन्त्र क्रमशः मरुतों तथा अगस्त्य के वाक्य माने हैं। लुडविग १म, ३य मन्त्र मरुतों के तथा २य, ४र्थ, ५म अगस्त्य के मानता है। ग्रासमान प्रथम मन्त्र इन्द्र का, २य, ३य मन्त्र मरुतों के तथा ४र्थ, ५म मन्त्र अगस्त्य के स्वीकार करता है। ४र्थ मन्त्र के विषय में सायण ने भी लिखा है कि कुछ इसे अगस्त्य का वाक्य मानते हैं। इस प्रकार मतभेद होने पर भी हम अपनी व्याख्या में अनुक्रमणी का ही अनुसरण कर रहे हैं।

"हे भाई अगस्त्य, क्यों तू मेरा मित्र होता हुआ भी मेरी उपेक्षा कर रहा है ? मैं तेरे मन की बात समझ गया हूं। तू मुझे हवि देना ही नहीं चाहता"। पर यदि तेरे मन में यह बात नहीं है, यदि तू मेरा भी आदर करता है और मुझे भी हवि देगा, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है–

अरं कृण्वन्तु वेदिं समग्निमिन्धतां पुरः।
तत्रामृतस्य चेतनं यज्ञं ते तनवावहै ॥४॥

"ऋत्विज् लोग वेदि को अलंकृत करें, संमुख अग्नि को प्रदीप्त करें। वहां हम दोनों (मैं और मरुद्गण)[६] मिल कर तेरे यज्ञ को विस्तीर्ण करेंगे।"

अगस्त्य तो यह चाहता ही था। प्रसन्न होकर कहता है–

त्वमीशिषे वसुपते वसूनां त्वं मित्राणां मित्रपते धेष्ठः।
इन्द्र त्वं मरुद्भिः सं वदस्वाध प्राशान ऋतुथा हवींषि ॥५॥

"हे वसुपति, तू सब वसुओं का स्वामी है। हे मित्रपति, तू मित्रों का अतिशय धारणकर्ता है। हे इन्द्र, तू मरुतों के साथ सहानुभूति रख और उनके साथ मिलकर ऋतु-ऋतु में हवियों का भक्षण करता रह।"

उक्त संवादों पर विचार

उक्त दोनों संवादों में अन्तर्निहित अभिप्राय यह है कि किसी भी क्षेत्र में अधिपति और उसके कर्मचारी दोनों की ही समान महत्ता होती है। कर्मचारियों का यह समझना ठीक नहीं है कि कार्य तो सब हम करते हैं, अतः हमारी ही महत्ता है, अधिपति तो नगण्य है। न ही अधिपति का यह विचारना उचित है कि अधीश्वर तो मैं हूं, कर्मचारी मेरे अधीन हैं, सब महत्ता मेरी ही है। इस प्रसंग में केन उपनिषद् की वह कथा स्मरणीय है, जिसमें जगत् में विजय तथा उल्लास दिखाई देने पर अग्नि, वायु आदि देवों ने यह समझा कि यह तो हमारी ही विजय है, हमारी ही महिमा है। वस्तुतः वह विजय और महिमा ब्रह्म की थी। देवों के गर्व को निरस्त करने के लिए ब्रह्म ने अग्नि के संमुख तृण रखा, पर पूर्ण शक्ति लगाने पर भी वह उसे नहीं जला सका। वायु के संमुख भी तृण रखा, पर पूरा वेग प्रयुक्त करने पर भी वह उसे उड़ा नहीं सका। इस प्रकार ब्रह्म ने देवों को शिक्षा दी कि मेरी शक्ति से ही तुम शक्तिमान् हो। यही बात प्रस्तुत संवादों में है।

---

६. अथवा सायण की व्याख्या के अनुरूप 'तू (अगस्त्य) और मैं (इन्द्र)'। ते त्वदीयं (यज्ञं) त्वं चाहं च तनवावहै। सायण

अधिदैवत दृष्टि से इन्द्र सूर्य है,[७] मरुत् वायु है, अगस्त्य यज्ञकर्ता है। इन्द्र और मरुत् दोनों मिल कर वृत्रवध (मेघहनन) तथा वृष्ट्यादि कर्म करते हैं। अत: दोनों की ही अपनी-अपनी महत्ता है। अध्यात्म में इन्द्र जीवात्मा है, मरुत् प्राण हैं,[८] अगस्त्य मन है। अगस्त्य मध्यलोक के प्राणों की उपेक्षा कर सीधा आत्मा से सम्बन्ध स्थापित कर उन्नति के सोपान पर नहीं आरूढ़ हो सकता है। न ही आत्मा की उपेक्षा कर केवल प्राणों के सहारे देवलोक तक पहुँच सकता है। दोनों मिलकर ही मार्ग में आने वाले विघ्नों पर विजय पाते हैं तथा अवरुद्ध धाराओं को बहाते हैं। लक्ष्य पर पहुँचने के लिये दोनों का सहयोग अनिवार्य है। अतः दोनों के ही पोषणार्थ हवि दी जानी चाहिए।[९] अधिभूत में इन्द्र राजा है,[१०] मरुत् वीर सैनिक हैं,[११] अगस्त्य प्रजा का प्रतिनिधि है। राजा और वीर सैनिक दोनों के सहयोग से शत्रु-विजय होती है, तथा शत्रुओं द्वारा लूटी हुई सम्पत्ति भूमि आदि पुनः प्राप्त होती है। विजय के उपरान्त प्रजा की ओर से दोनों का ही अभिनन्दन होना चाहिए, अगस्त्य द्वारा दोनों को ही हवि दी जानी चाहिए। यदि दोनों में से एक को भी मिथ्या अभिमान हो जाता है, तो वह उचित नहीं है।

अगस्त्य-लोपामुद्रा-संवाद

ऋग्वेद प्रथम मंडल के १७९ वें सूक्त में अगस्त्य और लोपामुद्रा का संवाद है, जिसमें ६ मन्त्र हैं। अनुक्रमणी के अनुसार प्रथम दो मन्त्र लोपामुद्रा के

---

७. द्रष्टव्य : सायणभाष्य, ऋग् १.१२०.१;५.४९.३; ८.६.२९; ८.९९.२; १०.२७.१३; १०.१२०.८। स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम्, अथर्व १३.३. १३। अथ यः स इन्द्रोऽसौ स आदित्यः। शत. ८.५.३.२

८. 'अत्र इन्द्रमरुत्संवादरूपे सर्वत्र प्राणजीवात्मपरतयापि योजनीयम्', ऋग्. १. १६५. १ का सायणभाष्य। इस प्रसंग में ऋग्. ६. ६६.४ का सायणभाष्य भी द्रष्टव्य है, जहां मरुतों का अध्यात्मरूप प्राण तथा अधिदैवत रूप वायु बताया है।

९. अध्यात्मपरक एक व्याख्या के लिये द्रष्टव्य—श्री अरविन्दः 'आन दि वेद,' १९५६ पृ० २८७–९१।

१०. 'इन्द्रः समर्थो राजा,' ऋग् ७. ३२. १२ का दयानन्दभाष्य।

११. द्रष्टव्यः बुद्धदेव विद्यालंकार : 'अथ मरुत्सूक्तम्' गुरुदत्त भवन, लाहौर, संवत् १९८८। सातवलेकर : 'दैवतसंहिता,' १म भाग में मरुद् देवता का परिचय, स्वाध्यायमंडल, औंध, सन् १९४१।

तथा तृतीय-चतुर्थ मन्त्र अगस्त्य के वाक्य हैं,[12] और पंचम-षष्ठ मन्त्र अगस्त्य के एक शिष्य ब्रह्मचारी ने अगस्त्य एवं लोपामुद्रा का रति-विषयक संलाप सुन कर अपनी ओर से कहे हैं।[13] अगस्त्य और लोपामुद्रा पति-पत्नी हैं। दोनों बहुत समय तक स्वेच्छा से ब्रह्मचर्यव्रत का अनुष्ठान किये रखते हैं। एक दिन लोपामुद्रा के मन में काम उदित होता है। वह अगस्त्य से रति का प्रस्ताव करती है। अगस्त्य भी उस के प्रति आकृष्ट हो उस का प्रस्ताव स्वीकार कर लेता है। महाभारत की एक कथा से ज्ञात होता है कि अगस्त्य ने पुत्र प्राप्ति के लिये ही लोपामुद्रा से विवाह किया था।[14] एवं इनका ब्रह्मचर्य-व्रत-धारण था ही इस उद्देश्य से कि तेजस्वी पुत्र उत्पन्न हो।

संवाद प्रारम्भ होता है। लोपामुद्रा अगस्त्य को कहती है—

पूर्वीरहं शरदः शश्रमाणा दोषावस्तोरुषसो जरयन्तीः।
मिनाति श्रियं जरिमा तनूनामप्यू नु पत्नीर्वृषणो जगम्युः ॥१॥
ये चिद्धि पूर्व ऋतसाप आसन्त्साकं देवेभिरवदन्नृतानि।
ते चिदवासु र्नह्यन्तमापुः समू नु पत्नीर्वृषभिर्जगम्युः ॥२॥

---

१२. पर निरुक्त ने ४र्थ मन्त्र लोपामुद्रा का वचन माना है—'नदस्य मा रुधतः काम आगन्,' नदस्य मा रुधतः काम आगमत् संरुद्धप्रजननस्य ब्रह्मचारिण इति ऋषिपुत्र्या विलपितं वेदयन्ते। निरु. ५. २

१३. चतुर्थ मन्त्र के भाष्य में सायण ने लिखा है कि दम्पती के संभोग-संलाप को सुन कर उसका प्रायश्चित्त करने की इच्छा से शिष्य ने अन्तिम दोनों मन्त्र कहे हैं। बृहद्देवता ४.५७—६० में इस सूक्त का इतिहास इस प्रकार दिया है—"ऋषि ने यशस्विनी भार्या लोपामुद्रा को ऋतुस्नात देखकर एकान्त में सहवास की इच्छा से वार्ता आरम्भ की। प्रथम दो ऋचाओं से लोपामुद्रा ने अपना अभिप्राय व्यक्त किया। तब रमण की इच्छा वाले अगस्त्य ने बाद की दो ऋचाओं से उसे सन्तुष्ट किया। उसके शिष्य ब्रह्मचारी ने तपोबल से उनके भाव को जान लिया तथा यह विचार कर कि इनकी बातों को सुनकर मैंने पाप किया है, अन्तिम दो ऋचाओं का गायन किया। पर गुरु और गुरुपत्नी ने उसकी प्रशंसा की, उसका आलिंगन कर माथे का चुम्बन लिया तथा मुस्कराते हुए दोनों ने उसे कहा—हे पुत्र, तू निष्पाप है।" इसमें प्रथम कामोदय अगस्त्य में माना है, यद्यपि इसके अनुसार भी ऋचाएं प्रथम लोपामुद्रा की ही हैं।

१४. महा भा., वन पर्व, अ० ९५--९८।

"बहुत वर्षों तक मैं दिन में, रात में, तिल-तिल आयु को समाप्त करने वाली उषाओं में संयम की तपस्या करती रही हूँ[१५]। बुढ़ापा देह की कान्ति को हर लिया करता है। (उस से पूर्व ही) पतियों को पत्नियों के पास जाना चाहिए। जो प्राचीन सत्यव्रती लोग हो चुके हैं, इतने ऊँचे कि देवों के साथ सत्यालाप करते रहे हैं, वे भी ब्रह्मचर्य का अन्त नहीं पा सके हैं। इसलिए पत्नियों को पतियों से यथासमय मिलना ही चाहिए।"

अगस्त्य उत्तर देता है—

न मृषा श्रान्तं यदवन्ति देवा विश्वा इत् स्पृधो अभ्यश्नवाव।
जयावेदत्र शतनीथमाजिं यत् सम्यञ्चा मिथुनावभ्यजाव ॥३॥
नदस्य मा रुधतः काम आगन्नित आजातो अमुतः कुतश्चित्।
लोपामुद्रा वृषणं नीरिणाति धीरमधीरा धयति श्वसन्तम् ॥४॥

"हमारी तपस्या व्यर्थ नहीं गयी है, क्योंकि देव हमारी रक्षा करने लगे हैं। हमने समस्त शत्रुओं को पराजित कर दिया है। अब हम शतसंवत्सर युद्ध (शत वर्ष की आयु) को जीत सकते हैं। अतः आओ, हम दोनों परस्पर मिलें। प्रभु के स्तोता मुझ जितेन्द्रिय के समीप भी काम आया है, यहां-वहां कहीं से आया हो। अब लोपामुद्रा मुझ पति को प्राप्त हुई है, मुझ धीर को वह अधीर होकर आलिंगन कर रही है।"

अगले दोनों मन्त्र यद्यपि अनुक्रमणी, बृहद्देवता, सायण आदि के अनुसार अगस्त्य के शिष्य द्वारा कहे गये हैं, तो भी मन्त्रों में इसका कोई संकेत नहीं मिलता। वस्तुतः पंचम मन्त्र भी अगस्त्य का ही प्रतीत होता है। उसे भय है कि व्रतभंग करके कहीं मैंने पाप तो नहीं किया है। अतः वह कहता है—

इमं नु सोममन्तितो हृत्सु पीतमुपब्रुवे।
यत् सीमागश्चकृमा तत् सु मृडतु पुलुकामो हि मर्त्यः ॥५॥

"हृदय में पान किये हुए, अत्यन्त निकट बैठे हुए इस सोम से मैं प्रार्थना करता हूँ कि यदि हमने कोई पाप किया है तो उसे वह क्षमा करे। मनुष्य तो पुलुकाम है, इसके अन्दर अनेक कामनाएं रहती है।"

अन्त में उपसंहार करते हुए सूक्त का कवि कहता है कि पश्चात् भी अगस्त्य का जीवन भोग-विलासमय नहीं हो गया। साधना, श्रम, तपस्या, यज्ञ आदि भी उसके जीवन के अंग रहे और साथ ही सन्तानों की प्राप्ति भी उसका लक्ष्य रहा।

---

१५. तुलनीय : श्री कृष्ण और रुक्मिणी ने विवाह के पश्चात् तेजस्वी पुत्र की प्राप्ति के लिये बारह वर्ष संयम-साधना की थी। महा भा.

अगस्त्यः खनमानः खनित्रैः प्रजामपत्यं बलमिच्छमानः ।
उभौ वर्णावृषिरुग्रः पुपोष सत्या देवेष्वाशिषो जगाम ॥६॥

"कुदालों से भूमि को खोदता हुआ (अर्थात् भूमि खोदना आदि श्रम और तपस्या करता हुआ एवं यज्ञादि साधनों द्वारा साध्यसिद्धि का प्रयत्न करता हुआ) और साथ ही प्रजा, तपस्या तथा बल की इच्छा करता हुआ वह उग्र ऋषि अगस्त्य तप और काम दोनों ही तत्त्वों की पुष्टि करता रहा। देवों के सत्य आर्शीवाद उसने प्राप्त किये ।"

विवेचन

यह संवाद गृहस्थाश्रम में संयम और भोग के समन्वय की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। अधिदैवत क्षेत्र में सूर्य अगस्त्य, एवं पृथिवी लोपामुद्रा हो सकती है। वेद में इन्हें हमारे पिता-माता कहा गया हैं, एवं ये परस्पर पति-पत्नी हैं। ये दोनों बहुत काल तक सयम की तपस्या करते हैं। पर ग्रीष्म में पृथिवी बहुत प्यासी हो जाती है, तब वह सूर्य से रति का प्रस्ताव करती है, तथा सूर्य मेघवर्षण कर उसकी इच्छा को पूर्ण करता है, जिससे वनस्पति रूपी सन्तान उत्पन्न होती है[16]।

इसी प्रकार परमेश्वर तथा प्रकृति (परमाणुसंहति) भी अगस्त्य और लोपामुद्रा हो सकते हैं। भारतीय कालगणना के अनुसार जितने वर्ष सृष्टि चलती है, उतने ही वर्ष प्रलय रहती है। इन्हें क्रमशः ब्राह्म दिन तथा ब्राह्म रात्रि कहते हैं। मनु के अनुसार यह काल ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष का है। इतने सुदीर्घ काल तक परमेश्वर तथा प्रकृति संयम साधना में लीन रहते हैं। तदनन्तर परमेश्वर प्रकृति में गर्भ स्थापित करता है, जिससे ब्रह्माण्ड रूपी शिशु की उत्पत्ति होती है[17]।

नक्षत्रविद्या-परक व्याख्या में अगस्त्य एक चमकता तारा है, जिसका अंग्रेजी नाम कैनोपस (Canopus) है, तथा जो शिशिर ऋतु में दक्षिण दिशा में उदित होता है। दक्षिण दिशा को लोपामुद्रा मान सकते हैं। वर्ष में लगभग आठ मास ये दोनों पृथक् पृथक् रहते हुए संयम-साधना करते हैं। केवल शिशिर तथा वसन्त के चार मास प्रायः जनवरी से अप्रैल तक ये साथ रहते हैं तथा इन्हें हम साथ रहता हुआ देख भी सकते हैं।

---

१६. द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम् । उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भ माधात् ॥ ऋग् १. १६४. ६३, 'दुहितु' दूरे निहिताया:भूम्या:।' सायण

१७. परमेश्वर-प्रकृति के विवाह के लिए द्रष्टव्य : ११.८.१,२

अध्यात्म में मनुष्य का मन अगस्त्य और तनू लोपामुद्रा है। कभी-कभी मन इस रूप में साधना करना चाहता है कि वह तनू की सर्वथा उपेक्षा कर देता है। परन्तु अनुभव से वह इस परिणाम पर पहुँचता है कि तनू को भी साथ लेना आवश्यक है। यही योग का समन्वयवाद है।

विश्वामित्र-नदी-संवाद

ऋग्वेद के तृतीय मण्डल के ३३ वें सूक्त में विश्वामित्र तथा नदियों का संवाद है। विश्वामित्र राजा सुदास् पैजवन का पुरोहित है[१८]। अभी ही तो वह नदियों को पार कर राजा का यज्ञ कराने गया था। उसे क्या मालूम था कि इतनी सी देर में नदियों में पानी की बाढ़ आ जाएगी। दक्षिणा में गाड़ीभर धन-धान्य ले अपने साथियों सहित लौटता है तो नदियों का रूप देख विस्मित रह जाता है। विपाट् और शुतुद्रि के संगम पर खड़ा हो सोचने लगता है–

प्र पर्वतानामुशती उपस्थादश्वे इव विषिते हासमाने।
गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते ॥१॥

"पर्वतों के उत्संग से निकल कर आती हुई ये शुभ्र विपाट् और शुतुद्रि नदियां पानी के साथ कैसे वेग से प्रवाहित हो रही हैं। मानों दो श्वेत घोड़ियां हों जो घुड़दौड़ में एक दूसरी से आगे निकलने की स्पर्धा करती हुई दौड़ रही हों। तटों पर चढ़ती और उतरती इनकी लहरों को देख ऐसा प्रतीत होता है मानों शुभ्रवर्णा गौएं जिह्वाओं से अपने बछड़ों को चाट रही हों।"

क्षण भर उत्ताल नदियों के इस रूप को निहार वह उनकी स्तुति करने लगता है–

इन्द्रेषिते प्रसवं भिक्षमाणे अच्छा समुद्रं रथ्येव याथः।
समाराणे ऊर्मिभिः पिन्वमाने अन्या वामन्यामप्येति शुभ्रे ॥२॥

"हे इन्द्रदेव द्वारा प्रवाहित शुभ्र नदियो, मालूम होता है अपने पिता इन्द्र की अनुज्ञा मांग कर तुम रथारूढ़ युवतियों की न्याईं समुद्र से मिलने जा रही हो। एक-दूसरी से टकरा-टकरा कर मार्ग में अठखेलियां करती जाती हो और उमड़ती हुई लहरों द्वारा अपनी प्रसन्नता व्यक्त कर रही हो।"

---

१८. विश्वामित्र ऋषिः सुदासः पैजवनस्य पुरोहितो बभूव ··· स वित्तं गृहीत्वा विपाट्छुतुद्रयोः सभेदमाययौ, अनुययुरितरे। स विश्वामित्रो नदीस्तुष्टाव गाधा भवतेति ॥ निरु. २.२४

क्यों, ऐसा ही है न ? और, तुम दो ही नहीं हो, तीसरी तुम्हारे साथ सिन्धु भी है।

अच्छा सिन्धुं मातृतमामयासं विपाशमुर्वीं सुभगामगन्म।
वत्समिव मातरा संरिहाणे समानं योनिमनु संचरन्ती ॥३॥

"मैं मातृतमा सिन्धु की शरण में आया हूँ। सुभगा विशाल विपाट् नदी के समीप आया हूं। ये दोनों अपने तट-प्रदेशों को ऐसे ही चाट रही हैं, जैसे गौएं अपने बछड़ों को चाटती हैं, और समान लक्ष्य (समुद्र) की ओर बढ़ी चली जा रही हैं।"

अभी विश्वामित्र ने अपना प्रयोजन नहीं कहा है, नदियों की स्तुति ही की है, पर नदियां उसके मन की बात ताड़ जाती हैं और परस्पर कहने लगती हैं–

एना वयं पयसा पिन्वमाना अनु योनिं देवकृतं चरन्तीः।
न वर्तवे प्रसवः सर्गतक्तः किंयुर्विप्रो नद्यो जोहवीति ॥४॥

"पानी के साथ उमड़-उमड़ कर बहती हुई हम देवों द्वारा निर्मित अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रही हैं। एक बार गति में प्रवृत्त हमारा प्रवाह रोका नहीं जा सकता। तो फिर किस कामना से यह विप्र हम नदियों की पुनः पुनः स्तुति कर रहा है ?"

अब विश्वामित्र स्पष्ट रूप में नदियों से प्रार्थना करता है–

रमध्वं मे वचसे सोम्याय ऋतावरीरुप मुहूर्तमेवैः।
प्र सिन्धुमच्छा बृहती मनीषा अवस्युरह्वे कुशिकस्य सूनुः ॥५॥

"हे प्रभूत जल वाली नदियो, मेरे शान्तिमय वचन की लाज रखने के लिए मुहूर्त भर को अपनी गतियों से उपरत हो जाओ। रक्षा का इच्छुक मैं कुशिक-पुत्र बड़े मनोयोग से सिन्धु की ओर मुख करके विनती कर रहा हूँ।"

नदियां उत्तर देती हैं कि हम तेरे कहने से कैसे रुक जाएं ?

इन्द्रो अस्माँ अरदद् वज्रबाहुरपाहन् वृत्रं परिधिं नदीनाम्।
देवोऽनयत् सविता सुपाणिस्तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः ॥६॥

"वज्रबाहु इन्द्र ने जलों के अवरोधक (वृत्र) का छेदन कर हमें बहाया है, और सुन्दर करों वाला सविता देव हमें आगे-आगे ले जा रहा है। हम विस्तीर्ण नदियां उसी के अनुशासन में चल रही हैं।"

इन्द्र का उपासक तो विश्वामित्र भी है, उसने इसी मण्डल में अनेक सूक्तों में इन्द्र की स्तुति की है। अतः नदियों के मुख से इन्द्र की महिमा सुन वह भी उस स्तुति में सम्मिलित हो जाता है। वह कहता है, इन्द्र के

सम्मुख तो मैं भी नतमस्तक हूँ। उसने वृष्टि कर पिपासाकुल पृथिवी को तृप्त किया है। नदियों में जल की बाढ़ लाना भी उसी का कार्य है। तो भी थोड़ी देर के लिए मेरी प्रार्थना आप स्वीकार करें।

प्रवाच्यं शश्वधा वीर्यं तद् इन्द्रस्य कर्म यदहिं विवृश्चत्।
वि वज्रेण परिषदो जघान, आयन्नापोऽयनमिच्छमानाः ॥७॥

'इन्द्र का यह वीरतापूर्ण कर्म सदा कीर्तनीय रहेगा कि उसने जलों के अवरोधक वृत्र का छेदन किया और चारों ओर मेघजलों को घेरकर बैठे हुए बाधकों को वज्र से चूर्ण कर दिया, जिससे जल विस्तीर्ण स्थान को पाने की इच्छा करते हुए, बरस पड़े।"[१९]

नदियां उत्तर देती हैं–

एतद् वचो जरितर्मापि मृष्ठा आ यत् ते घोषानुत्तरा युगानि।
उक्थेषु कारो प्रति नो जुषस्व मा नो नि कः पुरुषत्रा नमस्ते ॥८॥

"हे स्तोता, स्तुतियों के द्वारा ही तू हमें प्राप्त हो। गति से उपरत होने का वचन जो तूने कहा है, उसे मत कह, क्योंकि आगे आने वाले युग इसकी घोषणा किया करेंगे कि नदियों ने एक पुरुष से हार मान ली। तू हमें पुरुषों के बीच में नीचा मत दिखा। तुझे हमारा नमस्कार है।"

नदियों का यह निषेध सुन कर भी विश्वामित्र निराश नहीं होता। वह कहता है–

ओ षु स्वसारः कारवे शृणोत ययौ वो दूरादनसा रथेन।
निषू नमध्वं भवता सुपारा अधोअक्षाः सिन्धवः स्रोत्याभिः ॥९॥

"हे बहिनो, मुझ भाई की प्रार्थना अनसुनी न करो। रथ पर बैठकर और ठेले में सामान भरकर मैं बड़ी दूर से आ रहा हूं। मेरा कहना मानकर थोड़ी नीची हो जाओ, अपनी धार को मेरे पहियों की कीली से नीचा करलो, मेरे लिए सुगमता से पार करने योग्य हो जाओ।"

विश्वामित्र का बहिन सम्बोधन नदियों के हृदय पर जादू का काम करता है। तत्क्षण वे स्नेह से द्रवीभूत हो जाती हैं–

आ ते कारो शृणवामा वचांसि ययाथ दूरादनसा रथेन।
नि ते नंसै पीप्यानेव योषा मर्यायेव कन्या शश्वचै ते ॥१०॥

---

१९. कात्यायन की अनुक्रमणी के अनुसार यह वचन विश्वामित्र का है। तदनुकूल ही हमने भी व्याख्यात किया है, यद्यपि इसे नदियों का वचन भी माना जा सकता है। उस पक्ष में ६, ७, ८ तीनों मन्त्र नदियों के होंगे।

"हे कारु, हमने तेरा कहना मान लिया, दूर से तू रथ और ठेला लेकर आया है। ले, हम तेरे सम्मुख झुकी जाती हैं, जैसे कोई माता अपने बच्चे को दूध पिलाने के लिए झुकती है या जैसे कोई कन्या अपने भाई का आलिङ्गन करने के लिए झुकती है[20]।"

विश्वामित्र कृतार्थ हो जाता है। कृतज्ञता-पूर्वक वह कहता है—

यदङ्ग त्वां भरताः सन्तरेयु र्गव्यन् ग्राम इषित इन्द्रजूतः।
अर्षादह प्रसवः सर्गतक्त आ वो वृणे सुमतिं यज्ञियानाम् ॥११॥

"हे नदियो, जब सब भरत तुम्हें पार कर लें और गौओं की कामना वाला, इन्द्र से प्रेरित, उद्योगी संघ भी तुम्हें पार कर चुके, तभी पुनः तुम अपने गतिमय प्रवाह को चलाना। तुम यज्ञार्ह नदियों की सुमति को मैं पाना चाहता हूं।"

फिर प्रसन्न हो उद्गार प्रकट करता है—

अतारिषुर्भरता गव्यवः समभक्त विप्रः सुमतिं नदीनाम्।
प्र पिन्वध्वमिषयन्तीः सुराधा आ वक्षणाः पृणध्वं यात शीभम् ।१२।
उद् व ऊर्मिः शम्या हन्त्वापो योक्त्राणि मुञ्चत।
मादुष्कृतौ व्येनसाऽघ्न्यौ शूनमारताम् ॥१३॥

"आहा, गौओं के इच्छुक भरतों ने नदियों को पार कर लिया, विप्र विश्वामित्र ने नदियों की सुमति को पा लिया। अब हे नदियो, अन्न उत्पन्न करना चाहने वाली, शुभ ऐश्वर्य वाली तुम उमड़-उमड़ कर बहो, नहरों को भर दो, सत्वर गति करो। तुम्हारी लहर खूंटों को तुड़ा कर बहे, तुम अपनी रस्सियों को तोड़ दो। तुम्हारे अदुष्कृत, अपाप बैल कष्ट को न प्राप्त करें।[21]"

---

२०. यथा कन्या युवतिः मर्यायेव मनुष्याय पित्रे भ्रात्रे वा शश्वचै परिष्वजनाय नम्रीभवति तद्वत्। सायण

२१. ग्रिफिथ ने भी १३वें मन्त्र का ऐसा ही अर्थ किया है। विश्वामित्र की प्रार्थना पर नदियों ने मानो अपनी लहरों को खूंटों से बांध दिया था, अपने आपको रस्सियों से कस लिया था। अब विश्वामित्र कहता है कि खूंटे और रस्सियां तुड़ा कर पुनः तुम यथापूर्व बहने लगो। नदियां मानो बैलों के रथ में आरूढ़ होकर वेग से वहती हैं, अतः कहा कि तुम्हारे बैलों को कोई कष्ट या बाधा न हो। सायण ने इस मन्त्र का भिन्न अर्थ किया है — 'तुम इस प्रकार वहो कि तुम्हारी लहर बैलों की कण्ठ, पार्श्वादि की रस्सियों को ऊपर रखे, डुबाये नहीं। तुम उन रस्सियों को

विवेचन

यहां सम्वाद समाप्त होता है। इस सम्वाद में विश्वामित्र सब के साथ मैत्री रखने वाला मनुष्य है। वह सुदास् अर्थात् शोभन दान वाले राजा का पुरोहित है।[२२] विपाट् अपनी उत्तुंग ऊर्मियों से तटों को तोड़ने वाली, शुतुद्रि अति वेग से बहने वाली तथा सिन्धु गम्भीर प्रवाह वाली नदी है।[२३] सम्वाद अनुपम काव्य-सौन्दर्य[२४] के साथ प्रथम यह शिक्षा देता है कि विश्वामित्र बन कर शान्तिमय तथा स्नेहयुक्त वचनों से बड़े से बड़े बाधक को अनुकूल किया जा सकता है। यहां विश्वामित्र उन नदियों को जो मार्ग की रुकावट थीं, अपनी बहिनें बना लेता है और वे भी सच्ची बहिनों के समान उसका उपकार करती हैं। दूसरे इससे यह सन्देश मिलता है कि मनुष्य अपने अन्दर महत्त्वाकांक्षा, तत्परता, आगे बढ़ने की भावना यदि उत्पन्न करले तो संसार में कोई शक्ति उसकी बाधक नहीं बन सकती, नदियां, सागर और पर्वत तक उसे प्रसन्नता-पूर्वक रास्ता देते हैं।

परन्तु निश्चित ही यह सूक्त अपने इस स्थूल अर्थ तक ही सीमित नहीं है। यह अपने पीछे एक आन्तरिक और रहस्यमय अभिप्राय भी प्रच्छन्न किये हुए है। विश्वामित्र आन्तरिक उन्नति की यात्रा में ऊर्ध्वारोहण का यात्री है, उसके साथ अन्य भी बहुत से व्यक्ति इस मार्ग के पथिक हैं। उसका यह शरीर ही रथ और ठेला है,[२५] जिसमें ज्ञान-विज्ञान, सद्गुण आदि का अनन्त ऐश्वर्य भरा हुआ है। उसके साथ जो संघ है वह साधारण मनुष्यों का संघ नहीं,

---

मुक्त किये रखो अर्थात् उनका स्पर्श मत करो। अदुष्कृत तथा निष्पाप विपाट्–शुतुद्रि समृद्धि को न प्राप्त करें।" वैलवाची अघ्न्यौ पुल्लिङ्ग को अघ्न्ये स्त्रीलिंग बनाकर उसने इसका अर्थ विपाट्शुतुद्रि परक माना है, जो अनावश्यक है। साथ ही जब १२वें मन्त्र में विश्वामित्र नदियों को उमड़ कर बहने की स्वीकृति दे चुका है, तो अब पुनः उन्हें नीची बहने के लिए कहने में संगति भी नहीं बैठती।

२२. विश्वामित्रः सर्वमित्रः। सुदाः कल्याणदानः। पैजवनः पिजवनस्य पुत्रः। पिजवनः पुनः स्पर्धनीयजवो वा अमिश्रीभावगतिर्वा। निरु० २.२४

२३. शुतुद्री शुद्राविणी क्षिप्रद्राविणी आशु तुन्नेव द्रवतीति वा। विपाड् विपाटनाद् वा, विपाशनाद् वा, विप्रापणाद् वा। सिन्धुः स्यन्दनात्। निरु ९.२४

२४. The hymn has some poetical beauty.—Griffith

२५. आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।—कठ० ३.३

अपितु वह गौओं या अध्यात्म-प्रकाश की किरणों की खोज करने वाला संघ (गव्यन् ग्रामः)है। विश्वामित्र और उसके साथी नदियों को इस कारण पार करना चाहते हैं कि उनके पार पहुंच कर अध्यात्म-प्रकाश की निधि उन्हें प्राप्त हो सकेगी, जो उनका चरम लक्ष्य है । पर ये विपाट्, शुतुद्रि और सिन्धु नदियां क्या हैं ? ये शरीर के पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्यौ में वहने वाली नदियां हैं । तटभंजक विपाट् भौतिक चेतना की नदी है, आशुद्राविणी शुतुद्रि प्राणमय या वातमय चेतना की नदी है, अगाध जल वाली सिन्धु मानसिक चेतना की नदी हैं । ये क्रमशः अन्नमय, प्राणमय तथा मनोमय कोषों से सम्बन्ध रखती हैं । विज्ञानमय तथा उससे परे आनन्दमय लोक तक पहुंचने के लिए इन नदियों को पार करना आवश्यक है। पर इन्हें पार करना सुगम नहीं है। जब मनुष्य पार्थिव या भौतिक चेतना के स्तर पर होता है तब भौतिक चेतना की नदी उसे अपने प्रवाह में बहाते रहना चाहती है। इसी प्रकार जब प्राणमय या मनोमय चेतना के स्तर पर होता है तब इन की नदियां उसे अपने प्रवाह में बहाती हैं । उनका संगम तो और भी जटिल होता है। पर आवश्मकता है इन्हें बहिन बनाने की। बहिन बनने पर ये अगले ऊर्ध्वलोक में पहुंचाने के लिए उससे भी अधिक सहायक या अनुकूल हो जाती हैं, जितनी बाधक थीं । मनुष्य समस्वरता के साथ इन्हें पार कर आनन्दमय कोश के महद् यक्ष या दिव्य हंस के समीप पहुंच जाता है । यही अध्यात्मदृष्टि से इस संवाद का रहस्य है।[२६]

इस संवाद की व्याख्या नक्षत्रविद्यापरक भी की जा सकती है । आकाश में रथ की आकृति का एक नक्षत्र-समूह है, जिसे रोहिणी शकट कहते हैं। इस शकट में ब्रह्ममण्डल आसीन है, आगे वृष जुता हुआ है । इसी शकट को लेकर चन्द्रमा रूपी विश्वामित्र आकाश-गंगा के तट पर पहुंचता है, जहां कई धाराओं का संगम है । पहले वे धाराएं बाधक बनती हैं, किन्तु फिर पार हो जाने देती हैं ।

स्कन्द स्वामी अपने निरुक्त-भाष्य में इस संवाद की निम्न व्याख्या करते हैं। विश्वामित्र भगवान् आदित्य हैं । वे वर्षा ऋतु में दोनों कूलों को प्लावित कर बहती हुई नदियों से मानों प्रार्थना करते हैं कि तुम उमड़ कर यज्ञ-प्रदेश को आप्लुत न करो, यज्ञों के लिए संव्यवहार्य होवो । भगवान्

---

२६. वैदिक नदियों की एक अध्यात्म-परक व्याख्या के लिए श्री अरविन्दकृत 'आन दि वेद' में 'दि सीक्रेट ऑफ दि वेद' का ११वां अध्याय 'दि सेवेन रिवर्स (सात नदियां)' द्रष्टव्य है ।

आदित्य जगत् के पालन की कामना वाले (अवस्यु) हैं तथा औपस प्रकाश रूपी कुशिक के पुत्र हैं । वर्षा में प्रवृद्ध उदक वाली नदियां प्रथम प्रत्याख्यान करती हैं, किन्तु वर्षा का अन्त होने पर शरद् ऋतु में क्रमश: क्षीयमाण जल वाली हो प्रार्थना को स्वीकार कर लेती हैं ।[27]

यम-यमी-संवाद

ऋग्वेद, दशम मण्डल के दशम सूक्त में, जिसमें १४ मन्त्र हैं, यम और यमी का सवाद है । ये दोनों विवस्वान् तथा सरण्यू की सन्तान हैं[28], एवं परस्पर सगे भाई-बहिन हैं । केवल सगे ही नहीं, किन्तु युगल हैं, एक साथ गर्भ में रहे हैं, जैसा पंचम मन्त्र के अन्त:साक्ष्य से स्पष्ट है । यौवन में पदार्पण करने पर यमी के मन में काम का आविर्भाव होता है तथा वह उचित-अनुचित का विचार किये बिना यम से विवाह का प्रस्ताव कर बैठती है—

ओ चित् सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरू चिदर्णवं जगन्वान् ।
पितुर्नपातमा दधीत वेधा अधिक्षमि प्रतरं दीध्यानः ।।१।।

"मैं चाहती हूं कि अपने सखा यम को पतिरूप सख्यभाव से वरण करूं । वह यौवन के प्रचुर अर्णव में प्रवेश कर चुका है । सूक्ष्म दृष्टि से सोचता हुआ वह विधाता बन कर पत्नी रूप मुझ में अपने पिता के पौत्र को उत्पन्न करे" ।

यम उसके इस अप्रत्याशित प्रस्ताव को सुनकर विस्मित रह जाता है तथा पूरे बल के साथ इसका विरोध करता है—

न ते सखा सख्यं वष्ट्येतत् सलक्ष्मा यद्विषुरूपा भवाति ।
महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उर्विया परिख्यन् ।।२।।

"हे यमी, तेरा सखा यम इस सख्य को नहीं चाहता, क्योंकि सलक्ष्मा कन्या विवाह के लिए विषमरूप होती है[29] । महान् प्रभु के वीर पुत्रों ने, जो प्रकाश

---

२७. नित्यपक्षे प्रावृषि प्लावितोभयकूला नदी: सर्वमित्रो भगवानादित्योऽभ्येपतीव रमध्वं म इत्यादि । देशप्लवनं मा कार्ष्ट, यज्ञानां संव्यवहार्या भवतेति जगतः पालनकामः । कुंशते: औपसः प्रकाशः कुशिकः, कुशिकस्य प्रकाशस्य सूनुरहमादित्यः, तस्य पुत्रस्थानीय इत्यर्थः । एवमुक्ता नद्यस्तं प्रत्यूचुः इन्द्रो अस्मानिति । एवं प्रावृषि प्रवृद्धोदकाः प्रत्याख्यायैनं तदर्थनामन्ते वर्षाणां शरदि प्रत्यहं तारतम्येन क्षीयमाणोदका आशुश्रुवुः ।
—स्कन्द०, निरु० २.२७ का भाष्य ।

२८. तत्रेतिहासमाचक्षते । त्वाष्ट्री सरण्यूर्विवस्वत आदित्याद् यमौ मिथुनौ जनयाञ्चकार । निरु. १२.१०

२९. उत्तरकालीन शास्त्रकारों ने भी सगोत्र विवाह का निषेध किया है । द्रष्टव्य : मनु ३.५

को धारण करने वाले हैं, ऐसे सम्बन्ध का बलपूर्वक प्रत्याख्यान किया है"।

यमी फिर यम को अपने अनुकूल करना चाहती हुई कहती है कि तुम जो प्रभु के वीर पुत्रों की दुहाई देते हो वह तो मेरे पक्ष में भी है–

उशन्ति घा ते अमृतास एतदेकस्य चित् त्यजसं मर्त्यस्य।
नि ते मनो मनसि धाय्यस्मे जन्युः पतिस्तन्वमा विविश्याः ।।३।।

"हे यम, वे अमृतरूप देवता भी एक ही मर्त्य की सन्तान को परस्पर विवाह के लिए चाहते हैं[३०]। अतः तेरा मन मेरे मन में अनुरक्त होवे, तू उत्पादक पति बन कर मेरे शरीर से योग कर"।

यम उत्तर देता है–

न यत् पुरा चकृमा कद्ध नूनमृता वदन्तो अनृतं रपेम।
गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा सा नो नाभिः परमं जामि तन्नौ ।।४।।

"जो कार्य पहले हमने कभी नहीं किया वह आज कैसे करें? अब तक हम सत्य आचरण करते आये हैं, अब क्या असत्य आचरण करें? अन्तरिक्षवर्ती गन्धर्व (विवस्वान्) तथा अन्तरिक्षस्थ योषा (सरण्यू) हमारे पिता-माता हैं। एवं हम दोनों का अति निकट सम्बन्ध है"।

इस पर यमी कहती है कि हम दोनों को पति-पत्नी विधाता ने तभी बना दिया था जब गर्भ में उसने हमें एक साथ रखा था। क्या विधाता के विधान को भी कोई तोड़ सकता है?

गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः।
नकिरस्य प्रमिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उत द्यौः ।।५।।

"सबके जनक, प्रेरक, विश्वरूप त्वष्टा देव ने गर्भ में ही हम दोनों को दम्पती बना दिया था। इसके विधानों को कोई भंग नहीं कर सकता। हम दोनों के इस सम्बन्ध में द्यावापृथिवी साक्षी हैं"।

---

३०. 'उशन्ति घा ते अमृतास एतदेकस्य चित् त्यजसं मर्त्यस्य'। एकस्य चित् मर्त्यस्य त्यजसम् अपत्यम् उशन्ति परस्परविवाहयोग्यत्वेन कामयन्ते इत्यर्थः। यहाँ यमी का संकेत उन कथाओं की ओर प्रतीत होता है, जिनके अनुसार प्रजापति आदि देवों ने अपनी पुत्री, भगिनी आदि से योग किया था। जब स्वयं देवता ऐसा आचरण करते हैं, तब मनुष्यों के लिये वे क्यों नहीं चाहेंगे। पर वस्तुतः इस प्रकार की कथाएं प्रहेलिकात्मक हैं। द्रष्टव्य : ऋग् १.७१.५; १.१६४.३३; ६.५५.४,५; १०.६१.७। ऐ.ब्रा. ३.३३.३४। निरु. ४.२१। ऋ. भा. भू., ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषय, प्रजापति द्वारा दुहिता से योग करने की कथा की आलंकारिकता।

परन्तु यम उसे कहता है कि गर्भ में विधाता ने क्या व्यवस्था की थी इसे तू या मैं कैसे जान सकते हैं ?

को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ईं ददर्श क इह प्रवोचत् ।
बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रव आहनो वीच्या नॄन् ॥६॥

"इस प्रथम दिन की (गर्भ की) बात को कौन जानता है ? भला किसने इसे देखा है ? कौन इसके विषय में कह सकता है ? मित्र तथा वरुण का धाम बड़ा विस्तीर्ण है । तो फिर हे असभ्य भाषण करके मेरे हृदय को चोट पहुँचाने वाली यमी, तू मनुष्यों को निश्चयात्मकता के साथ कैसे कह सकती है कि प्रथम दिन विधाता ने यह विधान रचा था[३१]" ।

जब यमी को अन्य कोई युक्ति स्फुरित नहीं होती तो वह अपने मन को ही प्रमाण बताती है । वह कहती है कि मेरा मन तेरे प्रति आकृष्ट हुआ है, यही हम दोनों के विवाह के लिये सर्वप्रबल समर्थन है–

यमस्य मा यम्यं काम आगन् त्समाने योनौ सहशेय्याय ।
जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां वि चिद् वृहेव रथ्येव चक्रा ॥७॥

"मुझ यमी के अन्दर यम विषयक काम उत्पन्न हुआ है कि हम एक स्थान पर साथ शयन करें । कोई पत्नी जैसे पति में अपने शरीर का योग करती है, वैसे ही मैं भी करूं । इस प्रकार हम दोनों एक रथ के दो पहियों के समान परस्पर मिल कर उद्योग करें" ।

परन्तु यम उत्तर देता है कि यौवनसुलभ काम तेरे अन्दर जागरित हुआ है, तो तू मुझ से भिन्न किसी अन्य पुरुष को अंगीकार कर ले–

न तिष्ठन्ति न निमिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति ।
अन्येन मदाहनो याहि तूयं तेन विवृह रथ्येव चक्रा ॥८॥

"न कभी रुकते हैं, न आंख झपकाते हैं, देवों के वे गुप्तचर जो इस संसार में विचर रहे हैं । अतः हे असभ्यभाषिणी, मुझ से भिन्न किसी अन्य पुरुष से ही तू विवाह कर और उसी के साथ एक रथ के दो पहियों के समान मिल कर उद्योग कर" ।

---

३१. अनुक्रमणी के अनुसार यह छठी ऋचा भी यमी की ओर से कथित है । सायण ने तदनुकूल ही व्याख्या की है । पर इसे उपर्युक्त अर्थ के अनुसार यम की उक्ति मानना अधिक संगत प्रतीत होता है । ग्रिफिथ भी इस ऋचा को यम द्वारा उक्त मानते हैं ।

यमी फिर अपनी धुन को दोहराती है—

रात्रीभिरस्मा अहभिर्दशस्येत् सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मिमीयात् ।
दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू यमीर्यमस्य विभृयादजामि ॥९॥

"सूर्य का प्रकाश मुहुर्मुहुः उन्मीलित होता रहे तथा दिनों और रात्रियों के साथ इस युगल के लिए (पति-पत्नीरूप हमारे लिए) आशीर्वाद की वर्षा करता रहे । हम दोनों द्यावा-पृथिवी के समान मिथुन बनें । एवं यमी यम के साथ अभ्रातृत्व-सम्बन्ध को धारण करे[३२] ।"

यम पुनः निषेध करता है—

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि ।
उपबर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्[३३] ॥१०॥

आगे ही कभी वे युग आयेंगे जब बहिनें भाई के साथ अभ्रातृत्व-सम्बन्ध अर्थात् विवाह करेंगी, (अभी संसार का ऐसा पतन नहीं हुआ है) । अतः हे सुभगे, तू मुझसे भिन्न ही किसी को पति रूप में वरण करने की इच्छा कर तथा उसी पति के लिए अपने बाहु को उपधान बना ।"

यमी कहती है—

किं भ्रातासद्यदनाथं भवाति किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात् ।
काममूता बह्वेतद्रपामि तन्वा मे तन्वं सं पिपृग्धि ॥ ११ ॥

"वह भाई ही क्या जिसके रहते बहिन अनाथ रहे, और वह बहिन क्या जिसके रहते भाई को कष्ट झेलना पड़े । काम से अनुस्यूत होकर मैं यह बहुत कुछ प्रलाप कर रही हूँ । हे यम तू मेरे शरीर के साथ अपने शरीर का योग कर ।"

पर यम पुनः स्पष्ट रूप से अस्वीकार कर देता है—

न वा उ ते तन्वा तन्वं संपपृच्यां पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात् ।
अन्येन मत् प्रमुदः कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वष्ट्येतत् ॥१२॥

"मैं तेरे शरीर के साथ अपने शरीर का योग नहीं करूंगा । जो बहिन से विवाह करता है उसे पापी कहते हैं । मुझ से भिन्न ही किसी के साथ तू वैवाहिक आमोद-प्रमोद रचा । हे सुभगे, तेरा भाई इसे पसन्द नहीं करता ।"

---

३२. अनुक्रमणीकार तथा तदनुकूल सायण ने इस नवमी ऋचा को भी यम की उक्ति माना है । ग्रिफिथ यमी की उक्ति मानते हैं ।

३३. इस मन्त्रांश के नियोग-परक अर्थ के लिए द्रष्टव्यः स्वामी दयानन्द, सत्यार्थप्रकाश, ४र्थ समु० ।

अन्त में यमी यम को भीरु बताते हुए कहती है कि तेरा भी हृदय कैसा कठोर है जो बहिन की करुण पुकार पर भी नहीं पसीजता—

बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम ।
अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तं परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् ॥१३॥

"हां, तू बड़ा दुर्बल है, मैं तेरे मन और हृदय को नहीं जान सकी। कोई अन्य ही कन्या तेरा आलिगन करेगी, जैसे रास रथ में नियुक्त घोड़े का अथवा लता वृक्ष का आलिगन करती है।"

यम अन्त तक अपने व्रत पर दृढ रहता हुआ उत्तर देता है—

अन्यमू षू त्वं यम्यन्य उ त्वां परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् ।
तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाऽधा कृणुष्व संविदं सुभद्राम् ॥१४॥

'हां, हे यमी, तू किसी अन्य को ही वरण कर, अन्य ही कोई तेरा आलिगन करे, जैसे लता वृक्ष का आलिगन करती है। तू उसके मन के प्रति अनुरक्त हो, वह तेरे मन के प्रति। और तदनन्तर तुम सुभद्र सुख-संवित् का भोग करो।"

विवेचन

इस प्रकार यह संवाद समाप्त होता है। इसमें यमी की भावुकतापूर्ण उक्तियां तथा यम का कठोर रुख दोनों ही दर्शनीय हैं। यम और यमी नामों से सूचित होता है कि ये दोनों संयमी हैं। संयमी जनों को भी कभी-कभी प्रलोभन आक्रान्त कर लेता है, जनसाधारण का तो कहना ही क्या, इस मनोवैज्ञानिक सत्य की ओर सूक्त संकेत करता है। संवाद बहुत ही सुन्दर शैली से वेद की इस मर्यादा को हमारे संमुख रखता है कि सगे या सगोत्र भाई-बहिनों का परस्पर विवाह होना पाप है।

वान रॉथ इस सूक्त पर विचार करते हुए लिखते हैं कि ये भाई-बहिन यम और यमी मानव जाति के आदि युगल हैं। जैसे हिब्रू विचार में मनुष्य-जाति के पिता-माता आदम और ईव युगल रूप हैं, वैसे ही भारतीय विचार-धारा में यम-यमी हैं। परन्तु इसका खण्डन मैक्समूलर ने ही कर दिया है तथा कहा है कि वेद में इसका समर्थक एक भी प्रमाण उपलब्ध नहीं होता।[३४] अवेस्ता मे बाद के ईरानी साहित्य में यिमेह के रूप में यिम की एक बहिन

---

३४. There is not a single word in the Veda pointing to Yama as the first Couple of mortals, the Indian Adam and Eve. ग्रिफिथ द्वारा इस सूक्त पर 'लैक्चर्स ऑन दि सायन्स ऑफ लैंग्वेज', सेकण्ड सिरीज, पृ. ५२१ से उद्धृत।

का उल्लेख है जो अपने भ्राता के साथ प्रथम मानव–दम्पती का निर्माण करती[३५] है। भाई-बहिन के इस युगल का विचार ऋग्वेद के इस यम-यमी सूक्त से ही वहां गया है, पर इनके द्वारा प्रथम मानव-दम्पती की उत्पत्ति कराने की कल्पना ईरानी साहित्य की अपनी ही है, उसका वेद से कोई सम्बन्ध नहीं है।

मैक्समूलर स्वयं दिन और रात्रि से यम-यमी की व्याख्या करते[३६] हैं। दिन और रात्रि एक-दूसरे के अनन्तर आते हुए आकाश के प्रांगण में भाई–बहिन के समान क्रीडा कर रहे हैं। रात्रि अपने गौर-वर्ण उज्ज्वल भ्राता दिन को देख स्वभावत: उसके प्रति आकृष्ट होती है, पर दिन उसे पत्नी रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं होता। सचमुच वेद में रात्रि दिन की पत्नी नहीं है, दिन की पत्नी उषा है[३७], रात्रि सविता भग की या संवत्सर की पत्नी है[३८]। परन्तु यदि प्राकृतिक व्याख्या में दिन-रात्रि यम-यमी हैं तो ये विवस्वान् तथा सरण्यू के पुत्र कैसे हैं इसकी भी संगति लगनी चाहिये। ऋग्वेद कहता है कि 'जब त्वष्टा अपनी पुत्री सरण्यू का विवाहोत्सव रचाता है, उस समय सारा भुवन एकत्र होता है। विवाही हुई वह विवस्वान् की जाया सरण्यू यम की माता बनकर समाप्त हो जाती है[३९]। यदि विवस्वान् को अस्तोन्मुख आदित्य तथा सरण्यू को सन्ध्या समझा जाए तो इनसे उत्पन्न होने वाले सह-जात पुत्र-पुत्री अन्धकार तथा रात्रि होने अधिक ठीक हैं, न कि दिन और रात्रि। पर यदि विवस्वान् को क्षितिज से नीचे का प्रातःकालीन सूर्य तथा सरण्यू को उषा माना जाए तो उनसे उत्पन्न पुत्र-पुत्री दिन तथा दीप्ति होंगे। प्रातःकालीन सूर्य तथा उषा से प्रथम दिन रूपी पुत्र तदनन्तर रात्रि की

---

३५. द्रष्टव्य : वैदिक माइथौलोजी में यम का विवरण।

३६. There is a curious dialogue between her (Yami) and her brother, where she (the night) implores her brother (the day) to make her his wife and where he declines her offer......, ग्रिफिथ द्वारा इस सूक्त पर 'लैक्चर्स ऑन दि सायन्स ऑफ लैंग्वेज', सेकण्ड सिरीज़, पृ. ५१० से उद्धृत।

३७. अव स्यूमेव चिन्वती मघोन्युषा याति स्वसरस्य पत्नी।
ऋग् ३. ६१. ४। स्वसराणि अहानि भवन्ति, निरुक्त. ५. ४।

३८. इषिरा योषा युवतिर्दमूना रात्रिर्देवस्य सवितुर्भगस्य। अथर्व १९.४९.१।
संवत्सरस्य या पत्नी, अथर्व १. १०. २।

३९. त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीदं विश्वं भुवनं समेति। यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश।। ऋग् १०. १७. १

उत्पत्ति होती है, ऐसी व्याख्या करके कथंचित् यम-यमी का दिन-रात्रि अर्थ लिया जा सकता है। पर उस अवस्था में दिन-रात्रि को पूर्णतः सहजात कहना कठिन है। वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें तो अस्तोन्मुख आदित्य रूपी विवस्वान् तथा सन्ध्या रूप सरण्यू से जिस समय पृथिवी के एक भाग में रात्रि रूप पुत्री उत्पन्न होती है, वहां दूसरे भाग में दिन रूपी पुत्र भी उत्पन्न होता है। एवं दोनों सहजात भाई-बहिन हैं तथा भूमि के पृथक्-पृथक् भागों में होने से ये परस्पर मिलते नहीं या इनका विवाह नहीं होता, यह व्याख्या कथंचित् समीचीन हो सकती है।

शतपथ ब्राह्मण के एक प्रकरण में अग्नि को यम तथा पृथिवी को यमी कहा गया है[40]। स्कन्द स्वामी ने अपने निरुक्तभाष्य में इस संवाद की दो व्याख्याओं की ओर संकेत किया है। प्रथम के अनुसार आदित्य यम है तथा रात्रि यमी है[41]। द्वितीय के अनुसार माध्यमिक मेघ-वाणी यमी है तथा मध्यमस्थानीय वायु या वैद्युताग्नि यम है। वर्षाकाल में ये दोनों बहिन-भाई साथ रहते हैं। बहिन चाहती है कि यह साथ (सख्य) सदा ही बना रहे, हम दोनों विवाह कर लें। पर भाई नहीं चाहता तथा वर्षा-समाप्ति पर उसे पृथक् करता हुआ कहता है कि जा, तू किसी अन्य का ही आलिंगन कर। इसी कारण वर्षोपरान्त शरद् ऋतु में मेघवाणी सुनायी नहीं देती[42]।

अध्यात्म में ये यम-यमी प्राण तथा तनू (काया) होने संभव हैं, जो तेजस् रूप विवस्वान् से तथा पृथिवी एवं आपः रूप सरण्यू से उत्पन्न होते हैं। ये दोनों भाई-बहिन शरीरस्थ आत्मा के सहायक एवं पोषक होते हैं। मनुष्य की तनू या पार्थिव चेतना यह चाहती है कि प्राण मुझसे विवाह कर ले तथा मेरे ही पोषण में तत्पर रहे। पर यदि ऐसा हो जाए तो मनुष्य की सारी आन्तरिक प्रगति अवरुद्ध हो जाए तथा वह पशुता-प्रधान ही रह जावे। मनुष्य का लक्ष्य है पार्थिव चेतना से ऊपर उठकर आत्मलोक तक पहुँचना। उसके लिए प्राण तथा तनू को भाई-बहिन रहना ही ठीक है। तब प्राण अपनी बहिन

---

४०. अग्निर्वै यमः, इयं (पृथिवी) यमी, आभ्यां हीदं सर्वं यतम्।
शत. ७. २. १. १०

४१. नित्यपक्षे तु यम आदित्यो, यम्यपि रात्रिः। निरु. ५. २ का स्कन्दस्वामिभाष्य।

४२. यदा नैरुक्तपक्षे मध्यमस्थाना यमी तदा मध्यमस्थानो यमो वायु र्वैद्युतो वा वर्षकाले व्यतीते तामाह। प्रागस्माद् वर्षकालादष्टौ मासान् अन्यमू षु त्वमित्यादि। निरु. ११. ३४ का स्कन्दस्वामिभाष्य।

तनू की भी रक्षा करेगा तथा साथ ही मनुष्य को पार्थिव चेतना से ऊपर उठा कर उच्च स्तरों पर पहुँचाने में सहायक भी होगा।

सांख्य के अनुसार पुरुष तथा प्रकृति यम-यमी हो सकते हैं। वहां पुरुष पति बनकर प्रकृति से जगत् का सर्जन नहीं करता, किन्तु वह साक्षीमात्र तथा तटस्थ रहता है, और प्रकृति स्वयं अपने अन्दर से महदादि जगत्प्रपंच की उत्पत्ति करती है। उन दोनों का सम्बन्ध भाई-बहिन का होता है। जैसे भाई-बहिन एक साथ इस कारण रहते हैं कि भाई बहिन की सहायता कर देता है तथा बहिन भाई की, वैसे ही जड़ प्रकृति तथा चेतन पुरुष का संयोग परस्पर उपकार के लिए होता है। पुरुष प्रकृति की सहायता से कैवल्य प्राप्त करता है तथा पुरुष रूपी द्रष्टा के होने से प्रकृति का जगत्प्रपंच को उत्पन्न करना सार्थक होता है। एवं ये दोनों भाई-बहिन होते हैं, यद्यपि दार्शनिकों ने भाई-बहिन के स्थान पर पंगु और अन्ध का दृष्टान्त दिया है।

नक्षत्रों में पुरुष (Poilux) तथा प्रकृति (Castor) का तारा-युगल यम-यमी-युगल होना संभव है। यह युगल शिशिर ऋतु में रात्र्याकाश में उदित होता है तथा वसन्त-ग्रीष्म में रह कर अस्त हो जाता है।

इन्द्र, इन्द्राणी और वृषाकपि का संवाद

दशम मण्डल के ८६वें सूक्त में इन्द्र, इन्द्राणी तथा वृषाकपि का संवाद है, जिसमें २३ मन्त्र हैं। कौन सा मन्त्र किसकी ओर से कहा गया है, इसका उल्लेख कात्यायन की सर्वानुक्रमणी में नहीं है। षड्गुरुशिष्य तथा सायण के अनुसार १,८,११,१२,१४,१६,२०-२२ संख्यक मन्त्र इन्द्र के, २-६, ९, १०, १५-१८ संख्यक मन्त्र इन्द्राणी के, तथा ७,१३, २३ संख्यक मन्त्र वृषाकपि के वचन हैं। माधव भट्ट प्रथम मन्त्र इन्द्र के स्थान पर इन्द्राणी का मानते हैं[४३]। पिशेल तथा गैल्डनर ने भिन्न व्याख्याएं की हैं, तथा संवाद में वृषाकपायी को भी सम्मिलित कर लिया है, जिसके अनुसार मन्त्र १,३,८,१२,१४,१९,२० इन्द्र के, मन्त्र २,४-६,९,१६,२१ इन्द्राणी के, मन्त्र ७,१०,१३ वृषाकपि के तथा मन्त्र ११,१५,१७,१८ वृषाकपायी के हैं, और मन्त्र २२, २३ तटस्थ या कवि की ओर से कहे गये हैं।

संवाद का संक्षिप्त कथानक इस प्रकार है। वृषाकपि इन्द्र का सखा है। अनुक्रमणी के भाष्यकार षड्गुरुशिष्य के अनुसार वह इन्द्राणी की सपत्नी से उत्पन्न हुआ उसका पुत्र है। इन्द्र याज्ञिकों को सोमाभिषव के लिए कहता है।

---

४३. माधवभट्टास्तु विहि सोतोरित्येपर्गिन्द्राण्या वाक्यमिति मन्यन्ते। सायण

सबसे बड़ा देव इन्द्र ही है, अतः याज्ञिकों को प्रमुख रूप से उसे ही सोम अर्पित करना चाहिए था। पर वे उसकी उपेक्षा कर वृषाकपि को सोमपान कराते हैं। इन्द्र वृषाकपि से स्नेह करता है, अतः वह इसे सहन तो कर लेता है, पर उसे अखरता अवश्य है और वह अपना भाव इन्द्राणी के संमुख प्रकट करता है। इन्द्राणी उसे कहती है, तुमसे तो वृषाकपि के विना रहा ही नहीं जाता, उसी के साथ-साथ फिरते हो, अन्यत्र सोमपान के लिए क्यों नहीं चले जाते ? इन्द्र उत्तर देता है कि इस हरित-मृगधारी-वृषाकपि ने तुम्हारा क्या विगाड़ा है, जो इससे इतनी ईर्ष्या करती हो। इस पर इन्द्राणी कहती कि तुम तो व्यर्थ ही सदा वृषाकपि का पक्ष लेते हो, मैं कुत्ते से इसका कान कटवा दूंगी, इस दुष्ट ने मेरी हवियों को दूषित कर दिया हैं, मैं इसका सिर काट डालूंगी। इन्द्र उसे शान्त करता हुआ कहता है कि तुम वृषाकपि पर इतना क्रुद्ध क्यों होती हो। इन्द्राणी कहती है, इसने मुझे अवीरा समझ लिया है, मैं इससे निवट लूंगी। तव इन्द्र इन्द्राणी की स्तुति करता है कि तुम तो सब नारियों में श्रेष्ठ हो और तुम्हारा पति भी अजर-अमर है। वह कहता है कि देखो, असली बात यह है कि सोमपान में सखा वृषाकपि के विना मुझे आनन्द ही नहीं आता है, इसी कारण मैं इसके साथ रहता हूं। इन्द्र के मुख से अपनी प्रशंसा सुन वृषाकपि कहता है—'लो, अप्रसन्न न हो, तुम्हारा इन्द्र यथेच्छ उक्षाओं का भक्षण कर ले'। इन्द्र आनन्दित हो जाता है और अपने उद्‌गार प्रकट करता है— 'अहा, याज्ञिकगण मेरे लिए पन्द्रह और बीस उक्षा पकाते हैं, खाकर मैं बहुत हृष्ट-पुष्ट हो गया हूँ, मेरी दोनों कुक्षियां भर गयी हैं'। फिर वह वृषाकपि को कहता है कि निकट ही जो तुम्हारा घर है, वहां जाओ और यथासमय पुनः हमारे घर लौट आना, हम दोनों मिलकर सुकार्य करेंगे। वृषाकपि घर से लौट आता है। पर पहले उसके पास जो हरित मृग होता था, उसे न देख इन्द्र पूछता है कि वह बहुभक्षी, मनुष्यों का आह्लादक मृग कहां है ?

विभिन्न पक्षों में इस कथानक की व्याख्याएं हो सकती हैं। अध्यात्मपक्ष में इन्द्र आत्मा है है, इन्द्राणी बुद्धि है, वृषाकपि मन है, जिसके साथ अहंकार रूपी हरित मृग रहता है। मनुष्य जो आन्तरिक यज्ञ रचाता है, उसमें इन्द्रिय, प्राण आदि की समस्त हवियों का अर्पण आत्मा को ही किया जाना चाहिए। परन्तु साधना की अपरिपक्व अवस्था में वह मन (वृषाकपि) को अपना अधिष्ठातृदेव मान बैठता है, तथा उसे ही सब हवियां देता है। बुद्धि इस मन से बहुत रुष्ट है, क्योंकि इसके साथ जो अहंकार रूपी मृग रहता है, वह सब हवियों को दूषित कर देता है। जो हवि अहंभाव के साथ देवता को अर्पित की

जाती है, वह सात्त्विक एवं परिशुद्ध हवि नहीं होती। अतः बुद्धि इसका विरोध करती है। तो भी आत्मा का इस मन के साथ स्नेह है और उसे इसके साथ मिलकर ही सोमपान या हविर्ग्रहण रुचिकर है। हाँ, वह यह अवश्य चाहता है कि मन परिशुद्ध हो तथा अहंकार रूप मृग से स्वतन्त्र रहे। यह ठीक भी है, क्योंकि साधक की हवि आत्मा के पास सीधी नहीं, किन्तु मनोमय भूमिका के द्वारा ही पहुंचती है। मन जब देखता है कि इन्द्राणी (बुद्धि) उससे बहुत रुष्ट है, तब वह कहता है कि लो, मुझे कुछ आपत्ति नहीं है, १५ या २० सब बैलों (उक्षाओं) की हवि इन्द्र (आत्मा) ही ग्रहण कर ले। पन्द्रह बैल हैं दस प्राण और पंच ज्ञानेन्द्रियां। पांच कर्मेन्द्रियां भी इनमें सम्मिलित कर ली जायें तो ये बैल बीस हो जाते हैं[44]। यजमान इन बैलों को पकाता है, परिपक्व करता है, क्योंकि अपरिपक्व या असंस्कृत प्राण, इन्द्रिय आदि में अपवित्रता का अंश रहता है। इन परिपक्व बैलों की हवि जब आत्मा को मिलती है तब वह खूब छक जाता है, उसकी दोनों कुक्षि भर जाती हैं। आत्मा मन को कहता है कि तुम अपने घर भले ही जाओ, पर फिर लौट आना। आत्मा का घर आनन्दमय कोश है, तथा मन का मनोमय कोश। आत्मा बुद्धि सहित जब विशुद्ध मन से मिलता है, तब हविर्ग्रहण में उसे अपूर्व आनन्द आता है। मन अपने घर चला जाता है, अर्थात् कुछ समय के लिए आत्मा को स्वतन्त्र छोड़ अपना व्यापार बन्द कर देता है। जब लौट कर आता है, तब आत्मा यह देख कर प्रसन्न होता है कि उसके साथ अहंकार रूपी मृग नहीं है, तथा वह पूर्णतः विशुद्ध है।

आधिदैविक दृष्टि से लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने अपनी 'ओरायन' (मृगशीर्ष) नामक पुस्तक में इस सूक्त की एक व्याख्या उपस्थित की है। उन का कथन है कि इस सूक्त में आकाश की उस प्राचीन स्थिति का उल्लेख है जब मृगशीर्ष-नक्षत्र में वसन्त-सम्पात होता था। वैदिक यज्ञ संवत्सर के आरंभ में प्रवृत्त होते थे, तथा संवत्सर वसन्त-सम्पात से आरम्भ होता था। इसे ही देवयान या सूर्य का उत्तरायण काल भी कहते थे। शरत्संपात से पितृयाण या दक्षिणायन काल चलता था। उस समय यज्ञ निरुद्ध हो जाते थे। जब यज्ञ चालू रहते हैं, उस समय इन्द्र तथा इन्द्राणी को सोमरस तथा हवि प्राप्त होती

---

४४. पं० शिवशंकर इन संख्याओं की निम्न व्याख्या करते हैं — जो पंच ज्ञानेन्द्रिय हैं वे ही उत्तम, मध्यम और अधम भेद से १५ प्रकार के हैं। और इन पन्द्रहों के पन्द्रह विषय और पांच कर्मेन्द्रिय ये मिलकर २० हैं। ये ही मानों १५ और २० बैल हैं। (वैदिक इतिहासार्थ निर्णय पृ०४२७)।

रहती है। तिलक के मत में प्रस्तुत सूक्त में वृषाकपि उस समय का सूर्य है जब वसन्त-सम्पात मृगशीर्ष नक्षत्र में था[४५]। उसके साथ जिस हरित मृग का उल्लेख किया गया है, वह मृगशीर्ष नक्षत्र ही है। इन्द्राणी वृषाकपि से इस कारण रुष्ट है कि वह या उसका मृग यज्ञिय हवि को दूषित कर देता है तथा यज्ञ विघ्नित हो जाता है। वसन्त-सम्पात में यह मृगशीर्ष सूर्योदय काल में निकलने के कारण दिखाई नहीं देता था। अतः उससे कुछ भय नहीं था। न वह यज्ञिय हवि को दूषित करता था, न यज्ञ उपरत होता था, न ही इन्द्राणी को कोई रोष होता था। परन्तु शरत्संपात में वह मृगशीर्ष नक्षत्र सूर्यास्त के समय निकलने के कारण आकाश में दिखाई देता था। शरत्संपात में नियमानुसार यज्ञ बन्द हो जाते थे। मानो यह मृग ही आकर यज्ञ का विध्वंस कर देता था। इन्द्राणी कहती है कि मैं इस मृग का सिर काट डालूंगी या कुत्ते से इसका कान कटवा दूंगी। सचमुच आकाश में इस मृगशीर्ष नक्षत्रसमूह के बायें कान के तारे के समीप कुत्ता है भी, जिसे श्वा या कैनिस मेजर (Canis
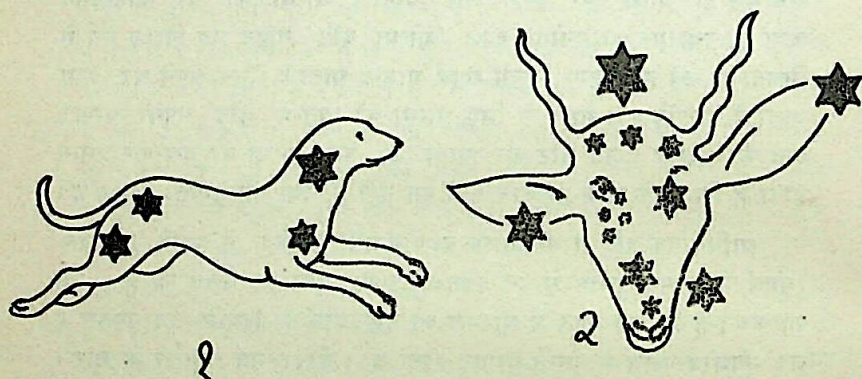
१. श्वा २. मृगशीर्ष

Major) कहते हैं। शनैःशनैः शरत्संपात समाप्त होने पर यह मृगशीर्ष-नक्षत्र-पुंज क्षितिज के नीचे चला जाता है। इन्द्र वृषाकपि (शरत्संपात के सूर्य) से कहता है कि तुम अपने घर जा रहे हो तो जाओ, पर शीघ्र ही मेरे घर आ जाना, तब हम दोनों मिल कर सोमरस का पान करेंगे। इन्द्र का घर ऊपर है। शरत्संपात के पश्चात् फिर सूर्य उत्तरायण हो जाता है, यही वृषाकपि का ऊपर इन्द्र के घर आना है। तब यज्ञ फिर प्रारम्भ हो जाते हैं।

४५. Vrishakapi must, therefore, be taken to represent the Sun in Orion (Orion 1955, Tilak Bros., Poona 2, P. 189)

इस व्याख्या के आधार पर तिलक यह परिणाम निकालते हैं कि क्योंकि मृगशीर्ष नक्षत्र में वसन्त-सम्पात, जिसका इस सूक्त में संकेत है, लगभग चार हजार ई० पू० में था, अतः इस सूक्त की रचना उसी समय हुई होगी। किन्तु तिलक द्वारा प्रतिपादित आशय ही वेदाभिमत है यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। व्याख्या में थोड़ा सा परिवर्तन कर देने से ही सूक्त ऐसा लगने लगता है कि इसमें वर्णित आकाशीय स्थिति चार हजार ई० पू० की ही नहीं, प्रत्युत वह स्थिति हर समय हो सकती है। मृग द्वारा हवि दूषित दक्षिणायन में होती है, इसके स्थान पर यह माना जा सकता है कि रात्रि में हवि दूषित होती है, क्योंकि दिन की हवि यदि रात्रि में रखी रहे तो वह पर्युषित (बासी) हो जाती है। तब वृषाकपि अस्तोन्मुख सूर्य होगा। रात्रि होना इन्द्राणी को प्रिय नहीं है, क्योंकि रात्रि में सोमपान करना तथा हविर्भक्षण करना नहीं मिलेगा। और रात्रि लाता है वृषाकपि, अतएव उससे वह रुष्ट है। पर इन्द्र जानता है कि यही वृषाकपि, प्रातः भी उदित होगा[46], जो हवि दिलाने में कारण बनेगा, अतः वह उससे प्रीति करता है। मृग चन्द्रमा हो सकता है। अथवा तिलक का ही अनुसरण करें तो मृगशीर्ष अर्थ भी ले सकते हैं। यद्यपि कभी मृगशीर्ष ऐसे काल में भी उदित हो सकता है जब यज्ञ न होते हों, पर अग्निहोत्र रूपी नित्य यज्ञ तो सदा ही होता है।

स्कन्द स्वामी अपने निरुक्त-भाष्य में कहते हैं कि ऐतिहासिक पक्षानुसार इन्द्राणी इन्द्र की भार्या तथा वृषाकपि इस नाम से प्रसिद्ध ऋषि है, किन्तु नैरुक्त पक्ष में इन्द्राणी माध्यमिक वाणी एवं वृषाकपि आदित्य है।[47] इन्द्र का स्वरूप यद्यपि उन्होंने स्पष्ट नहीं किया, तो भी जब इन्द्राणी माध्यमिक वाणी है, तब इन्द्र वैद्युताग्नि होना चाहिये। सब हवि सूर्य छीन ले जाता है, अतः माध्यमिक वाणी उससे रुष्ट है।

राजनीतिक दृष्टि से इन्द्र राष्ट्र का राजा हो सकता है, इन्द्राणी राजपरिषद् और वृषाकपि सामन्त राजा, जो प्रधान राजा या इन्द्र का प्रबल

---

४६. प्रस्तुत सूक्त के ही २१ वें मन्त्र "य एष स्वप्ननंशनोऽस्तमेषि पथा पुनः" से स्पष्ट है कि उदयकालीन तथा अस्तोन्मुख दोनों ही आदित्य वृषाकपि हैं।

४७. इन्द्राणीं माध्यमिकामिन्द्रस्य वा भार्याम्। ""नेह प्रसिद्धो वृषाकपिः ऋषिः। किं तर्हि ? द्युस्थानोऽभिप्रेतः। निरु. ११.३८ का स्कन्दस्वामिभाष्य। सख्युर्वृषाकपेर्ऋते सख्या वृषाकपिना आदित्येन ऋषिणा विनेत्यर्थः। निरु. ११.३९ का स्कन्दस्वाभिभाष्य।

सहायक होने से उसका सखा है, अथवा उसी के द्वारा राज्याभिषिक्त किये जाने के कारण उसका पुत्र है। इन्द्र वृषाकपि के साथ सोमपान करता है, इसका आशय यह है कि सामन्त राजा अपने राज्य से जो कर (टैक्स) एकत्र करता है, उसमें से कुछ अंश तो वह अपने राज्य में व्यय करने के लिए अपने पास रखता है तथा कुछ प्रतिशत अंश प्रधान राजा को देता है। सामन्त राजा का कोई मुख्य अधिकारी है, जो उसका शीर्षस्थानीय है, तथा जो यह परामर्श देता है कि अपनी प्रजा से प्राप्त सारा कर अपने ही पास रखो, प्रधान राजा को मत दो, एवं तुम स्वतन्त्र हो जाओ। यही हरित मृग है। उसकी कुमन्त्रणा के वशीभूत हो सामन्त वैसा ही करने लगता है। तब राजपरिषद् (इन्द्राणी) इस समस्या पर विचार करने के लिए बैठती है। राजपरिषद् के सदस्य यह विचार प्रस्तुत करते हैं कि वृषाकपि का सिर काट देना उचित है, अर्थात् उसे राज्यच्युत कर देना चाहिये। परन्तु राजा वृषाकपि का महत्त्व समझता है, वह जानता है कि यह मेरा दाहिना हाथ है, संकट के समय काम आने वाला है। अतः वह उसके प्रति प्रीतिभाव ही रखता है, और यह उचित समझता है कि इसके साथ जो इसे कुमन्त्रणा देने वाला मृग है उसे दण्डित किया जाये। वह राजपरिषद् को भी अपने विचार के अनुकूल कर लेता है। परिणाम यह होता है कि सामन्त राजा अपने घर (अपने राज्य में) जाकर उस अधिकारी को (मृग को) पदच्युत कर देता है। तब १५, २० या ३५ जितने भी प्रकार के उक्षा अर्थात् प्रजा से लिये जाने वाले कर हैं, उनका उचित अंश वह इन्द्र को भी देने लगता है, तथा इन्द्र का उदर या राज्यकोश खूब भर जाता है। एवं इन्द्र वृषाकपि के साथ मिल कर आनन्दपूर्वक सोमपान करता है।

अब हम मन्त्रशः सूक्त पर विचार करते हैं।

वृषाकपायी

वि हि सोतोरसृक्षत नेन्द्रं देवममंसत।
यत्रामदद् वृषाकपिरर्यः पुष्टेषु मत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥१॥

इन्हें (याज्ञिकों को) सोम सवन करने के लिए कहा गया था, पर इन्होंने इन्द्र (मेरे श्वसुर) को देव नहीं माना, अर्थात् उसे सोम अर्पित नहीं किया, जब कि परिपुष्ट यज्ञों में मेरा सखा समृद्ध वृषाकपि खूब छक गया है। पर तो भी इन्द्र सबसे उत्तर है।[४८]"

---

४८. सायण ने इस मन्त्र को इन्द्र की उक्ति माना है। उसी ने इसका भी निर्देश किया है कि माधव भट्ट इसे इन्द्राणी का वाक्य समझते थे। पिशेल,

इन्द्राणी

परा हीन्द्र धावसि वृषाकपेरति व्यथिः ।
नो अह प्रविन्दस्यन्यत्र सोमपीतये विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥२॥

"हे इन्द्र, वृषाकपि के लिए व्याकुल हुए तुम उसके पीछे दूर तक भाग जाते हो। क्या अन्यत्र सोमपान के लिए तुम्हें स्थान नहीं मिलता ? इन्द्र सबसे उत्तर है।"

इन्द्र

किमयं त्वां वृषाकपिश्चकार हरितो मृगः ।
यस्मा इरस्यसीदु न्वर्यो वा पुष्टिमद्वसु विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥३॥

"इस हरित(हरित-मृग-धारी)वृषाकपि ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है, जो तुम

गैल्डनर, लुड्विग आदि सायण का ही अनुसरण करते हैं। पर हमने इसे वृषाकपायी के कथन के रूप में लिया है। इसमें दो हेतु हैं। प्रथम यह कि इस सूक्त की इसी मण्डल के २८वें सूक्त में तुलना करें तो प्रथम मन्त्र वृषाकपायी की ओर से अपने श्वसुर के लिए ही कहा गया प्रतीत होता है, जैसे वहाँ प्रथम मन्त्र वसुक्र की पत्नी ने अपने श्वसुर इन्द्र के विषय में कहा है कि अन्य सब देव तो यज्ञ में आ गये, पर मेरे श्वसुर जी नहीं आये, यदि वे भी आ जाते तो भुने जव खाते और सोमरस पीते। दूसरे यह कि प्रस्तुत सूक्त की १३वीं ऋचा में वृषाकपि वृषाकपायी को ही कहता है कि लो, तुम्हारा इन्द्र यथेच्छ उक्षाओं का भक्षण कर ले, मैं बाधक नहीं बनता। यदि इन्द्र को हवि न मिलने की शिकायत प्रथम मन्त्र में वृषाकपायी द्वारा न की गयी होती तो वृषाकपायी को उसे सम्बोधन करने की क्या आवश्यकता थी, इन्द्र या इन्द्राणी को सम्बोधन करना चाहिए था, जिनकी ओर से आपत्ति उठायी गयी होती। तिलक भी यह स्वीकार करते हैं कि यदि संवाद में वृषाकपायी को भी सम्मिलित करना हो तो मैं प्रथम ऋचा को उसका वचन मानना अधिक पसन्द करूंगा—

"If वृषाकपायी is to be at all introduced in the dialogue, we may assign this verse to her. The phrases 'my friend मत्सखा' and 'did not respect Indra नेन्द्रं देवममंसत' would be more appropriate in her mouth than in that of इन्द्र or इन्द्राणी (Orion 1955. P. 190). 'विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः' में उत्तर का अर्थ सायण उत्कृष्टतर करते हैं। तिलक ने 'उत्तर में वर्तमान' (In the upper i.e. northern part of the universe) किया है।

उससे इतनी ईर्ष्या कर रही हो? जो समर्थ है, वह पुष्टिमान् वसु को अवश्य प्राप्त कर ही लेता है। इन्द्र सबसे उत्तर है।[४९]"

इन्द्राणी

यमिमं त्वं वृषाकपिं प्रियमिन्द्राभिरक्षसि ।
श्वा न्वस्य जम्भिषदपि कर्णे वराहयुर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥४॥
प्रिया तष्टानि मे कपिर्व्यक्ता व्यदूदुषत् ।
शिरो न्वस्य राविषं न सुगं दुष्कृते भुवं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥५॥
न मत् स्त्री सुभसत्तरा न सुयाशुतरा भुवत् ।
न मत् प्रतिच्यवीयसी न सक्थ्युद्यमीयसी विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥६॥

"हे इन्द्र, जिस अपने वृषाकपि की तुम रक्षा करने में तत्पर हो, वराह का शिकार करने वाला कुत्ता उसका कान काट ले। मेरे लिए तो इन्द्र सबसे उत्तर है। इस कपि ने (यजमानों से) तैयार की हुई मेरी प्रिय हवियों को दूषित कर दिया है। मैं इसका सिर काट डालूंगी। दुष्कर्म करने वाले को मैं चैन से नहीं बैठने दूंगी। मेरे लिए तो इन्द्र सबसे उत्तर है। मुझसे अधिक अन्य कोई स्त्री सुभगा, सुकीर्तिमती या सुन्दरी[५०] नहीं है, न सुखिनी या सुपुत्रवती है,[५१] न

---

४९. हरितो मृगः = लक्षणा से हरितमृगधारी। २२वें मन्त्र से स्पष्ट है कि वृषाकपि मृगरूप नहीं, किन्तु मृगधारी है। सायण ने इस मन्त्र को इन्द्राणी का वचन माना है— "इस हरित मृग वृषाकपि ने तेरा क्या प्रिय किया है, जो तू उदार होकर उसे पुष्टिमान् वसु प्रदान कहता है।" परन्तु इरस् धातु ईर्ष्यार्थक ही है, दानार्थक नहीं। ऋग्वेद में अन्यत्र ७. ४१. ६ तथा १०. १७४. २ इन दो स्थलों पर ही यह धातु प्रयुक्त हुई है तथा सायण ने क्रमशः 'इरस्यः विघातं मा कृथाः,' 'इरस्यति ईर्ष्यति' अर्थ किये हैं। लुड्विग, ग्रासमान, पिशेल, गैल्डनर, ग्रिफिथ, तिलक आदि इस ऋचा को इन्द्र का ही वचन स्वीकार करते हैं।

५०. 'सुभसत्तरा अतिशयेन सुभगा'—सायणः। यद्वा, बभस्ति दीप्यते इति भसत् यशः (भस भर्त्सनदीप्त्योः)। सुभसत्तरा सुयशस्तरेत्यर्थः। अथवा ऋग् १०. १६३. ४ इत्यस्य सायणीयं भाष्यमनुसृत्य भसत् कटिप्रदेशः, तथा च सति सुभसत्तरा शोभनकटियुक्ता सुन्दरीत्यर्थः।

५१. सुयाशुतरा अतिशयेन सुसुखा, अतिशयेन सुपुत्रा वा। सायण

मुझसे बढ़ कर शत्रुओं को च्युत करने वाली है, न सक्थि उठाने वाली अर्थात् उद्यम करने वाली है।[५२]"

इन्द्र

> उवे अम्ब सुलाभिके यथेवाङ्ग भविष्यति ।
> भसन्मे अम्ब सक्थि मे शिरो मे वीव हृष्यति विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ।।७।।
> किं सुबाहो स्वंगुरे पृथुष्टो पृथुजाघने ।
> किं शूरपत्नि नस्त्वमभ्यमीषि वृषाकपिं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ।।८।।

हे शुभ लाभ वाली प्रिय पत्नी, जैसा तुमने कहा है, वैसा ही होगा। हे प्रिये, तुमसे मेरी कीर्ति है, (तुम्हारी गौरवगाथा से) मेरे ऊरु-युगल, मेरा सिर, (मेरा अंग-अंग) नृत्य कर रहा है। न्द्र सबसे उत्तर है। परन्तु हे शोभन बाहुओं वाली, शोभन अंगुलियों वाली, लम्बे घने केशों वाली, विस्तीर्ण जघन वाली शूरपत्नी, हमारे प्रिय वृषाकपि पर क्रुद्ध क्यों होती हो? इन्द्र सबसे उत्तर है।[५३]"

---

५२. षष्ठ मन्त्र के उत्तरार्ध का सायणकृत यह भाष्य शिष्टजन-सम्मत होने योग्य नहीं है—"किं च मत् मत्तोऽन्या प्रतिच्यवीयसी पुमांसं प्रति शरीरस्यात्यन्तं च्यावयित्री नास्ति। किं च मत्तोऽन्या स्त्री सक्थ्युद्यमीयसी संभोगेऽत्यन्तमुत्क्षेप्त्री नास्ति। न मत्तोऽन्या काचिदपि नारी मैथुनेऽनुगुणं सक्थि उद्यच्छतीत्यर्थः।" क्या कोई भी शीलवती नारी आत्मस्तुति में ऐसे उद्गार प्रकट कर सकती है। वैसे भी इन्द्राणी की प्रशस्ति भोग-विलास में नहीं, किन्तु वीरता में है।

५३. सप्तम मन्त्र सायण ने वृषाकपि का वाक्य माना है। 'अम्ब' सम्बोधन ही इसमें प्रबल हेतु रहा प्रतीत होता है। परन्तु अम्ब शब्द, जैसा कि तिलक ने माना है, स्नेह तथा आदर के व्यंजक अव्यय के रूप में भी गृहीत हो सकता है। तदनुसार तिलक से सहमत होकर हमने अष्टम मन्त्र के साथ इसे भी इन्द्र की ही उक्ति स्वीकार किया है। सायण ने वृषाकपि की उक्ति मानते हुए इस मन्त्र के उत्तरार्ध का जो अर्थ किया है वह अनावश्यक खींचतान वाला तथा अत्यन्त अस्वाभाविक है। कोई भी पुत्र ऐसा वचन नहीं कह सकता है—'मे मम पितुः त्वदीयो भसत् भगः उपयुज्यताम्। किं च मम पितुस्त्वदीयं सक्थि चोपयुज्यताम्। किं च मे मम पितरमिन्द्रं त्वदीयं शिरश्च प्रियालापेन वीव यथा कोकिलादिः पक्षी तद्वत् हृष्यति हर्षयतु।" साथ ही 'पक्षी के समान(वीव)' इस अर्थ के

इन्द्राणी

अवीरामिव मामयं शरारुरभि मन्यते ।
उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥९॥
सं होत्रं स्म पुरा नारी समनं वाव गच्छति ।
वेधा ऋतस्य वीरिणीन्द्रपत्नी महीयते विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥१०॥

"यह घातक(वृषाकपि)मुझे अबला समझ बैठा है । पर मैं तो वीरांगना हूं, इन्द्र की पत्नी हूं, मरुत् मेरे सखा हैं । (मेरा पति) इन्द्र सबसे उत्तर है । प्राचीन काल से नारी यज्ञ तथा संग्राम में जाती रही है । फिर इन्द्राणी तो सत्य की विधात्री है, वीरिणी है, इन्द्र की पत्नी है, अतः विशेष महिमाशालिनी है । इन्द्र सबसे उत्तर है ।[५४]"

इन्द्र

इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम् ।
नह्यस्या अपरं चन जरसा मरते पतिःविश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥११॥
नाहमिन्द्राणि रारण सख्युर्वृषाकपेर्ऋते ।
यस्येदमप्यं हविः प्रियं देवेषु गच्छति विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥१२॥

"इन सब नारियों में मैंने इन्द्राणी को सुभगा सुना है । दूर से दूर काल में भी इसका पति जराजीर्ण हो कर मरता नहीं । (इसका पति) इन्द्र सबसे उत्तर है । (इस प्रकार हे इन्द्राणी, मैं तुम्हारा आदर करता हूं, तो भी वृषाकपि को दण्डित करने की तुम्हारी बात से मैं सहमत नहीं हूं) । हे इन्द्राणी, अपने सखा वृषाकपि के विना मुझे आनन्द नहीं आता, जिसकी जलों से संस्कृत प्रिय हवि देवों को प्राप्त होती है । इन्द्र सबसे उत्तर है ।[५५]"

स्थान पर 'वि हृष्यति इव—नृत्य सा कर रहा है' यह अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है ।

लुड्विग इस मन्त्र को पूर्व मन्त्र के समान इन्द्राणी का वचन मान कर यह व्याख्या करते हैं कि वृषाकपि के अपराध के कारण मेरा अंग-अंग क्रोध से कांप रहा है । पर उस अवस्था में 'सुलाभिके' यह स्त्रीलिंग सम्बोधन किस के प्रति होगा ?

५४. दसवीं ऋचा पिशेल तथा गैल्डनर के अनुसार वृषाकपि ने इन्द्राणी को कही है ।

५५. सायण ने यह विकल्प दिया है कि ११वीं ऋचा वृषाकपि की भी मानी जा सकती है । पिशेल तथा गैल्डनर इसे वृषाकपायी की उक्ति मानते हैं ।

वृषाकपि

वृषाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुस्नुषे ।
घसत् त इन्द्र उक्षणः प्रियं काचित्करं हविः विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥१३॥

"हे ऐश्वर्यशालिनी, सुपुत्रवती, शोभन पुत्रवधू वाली वृषाकपायी, सुनो (अब मैं तुम्हारे श्वसुर इन्द्र के सोमपान या हविर्ग्रह में बाधक नहीं बनूंगा), तुम्हारा इन्द्र यथेच्छ उक्षाओं तथा सुखसंचय करने वाली प्रिय हवि को भक्षण करे । इन्द्र सबसे उत्तर[५६] है ।"

---

५६. सायण का कथन है कि कामनाओं का वर्षक (वृषा) तथा अभीष्ट देश में पहुँचने वाला (कपि) होने से इन्द्र भी वृषाकपि है । एवं उसकी पत्नी वृषाकपायी से यहां इन्द्राणी ही अभिप्रेत है । अथवा वृषाकपायी का अर्थ वृषाकपि की पत्नी न लेकर वृषाकपि की माता लेना चाहिए, इस प्रकार भी इन्द्राणी वृषाकपायी कहला सकती है । परन्तु यह ठीक प्रतीत नहीं होता । प्रथम विकल्प में तो व्यर्थ खींचातानी है, तथा दूसरा विकल्प इसलिए स्वीकार्य नहीं हो सकता, क्योंकि वेद में जैसे अग्नि की पत्नी (न कि अग्नि की माता) अग्नायी है, वैसे वृषाकपि की पत्नी ही वृषाकपायी हो सकती है (वृषाकपायी वृषाकपेः पत्नी, निरु १२. ६) । हमारी योजनानुसार प्रथम ऋचा में वृषाकपि की पत्नी ने ही श्वसुर इन्द्र को सोमरस न मिलने की शिकायत की थी, अतः वृषाकपि द्वारा अपनी पत्नी को कहा जाना सर्वथा उचित है । पिशेल तथा गैल्डनर भी इस ऋचा को वृषाकपि द्वारा अपनी पत्नी को कहा मानते हैं । सायण की दूसरी असंगति यह है कि उस ने यहां उक्षा का अर्थ सेचनसमर्थ बैल पशु किया है । यह आश्चर्य का विषय है कि आपत्ति तो यह उठी थी कि इन्द्र को सोमपान करना नहीं मिला, जब कि वृषाकपि सोमपान से खूब छक गया, और परिहार किया जा रहा है इन्द्र को बैल खिला कर । सायण को यह भी विस्मृत हो गया कि 'उक्षा बिभर्ति भुवनानि वाजयुः ऋग् ६.८३.३' में वह स्वयं उक्षा का अर्थ 'जलस्य सेक्ता सोमः' कर चुका है । यहां तक कि ऋग् ६.८६. ४ में तो केवल उक्षा नहीं, किन्तु 'उक्षा पशु (उक्षणं पशुम्) शब्द आये हैं, तो भी सायण ने बैल अर्थ न करके सोम अर्थ किया है, भले ही उसे वहां पशु का अर्थ द्रष्टा करना पड़ा है । जब वेद के अन्य अनेक स्थलों में सायण के अनुसार ही उक्षा सोम है तो यहां क्यों नहीं, जब कि प्रसंग भी सोमसवन का है । इस प्रसंग में द्वितीय

इन्द्र

उक्ष्णो हि मे पञ्चदश साकं पचन्ति विंशतिम् ।
उताहमस्मि पीव इदुभा कुक्षी पृणन्ति मे
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥१४॥

"मेरे लिए वे (यज्ञकर्ता लोग) एक साथ १५ और २० उक्षाओं को पकाते हैं, तथा मैं उनका भक्षण करता हूं। मैं बहुत मोटा हो गया हूं, मेरी दोनों कुक्षियों को उन्होंने भर दिया है। इन्द्र सबसे उत्तर है।[५७]"

अध्याय में व्याख्यात उक्षा पृश्नि को पकाने की पहेली तथा वृषभ को पकाने का वर्णन भी द्रष्टव्य हैं। यह भी ध्यान देने योग्य है कि वेद में केवल इन्द्र का भोजन ही उक्षा या वृषभ नहीं है, जो कि बैल अर्थ में इतिश्री कर ली जाए; किन्तु इन्द्र के वज्र, रथ, घोड़े, आयुध, मद, क्रतु, सिल-बट्टे (ग्रावा), अध्वर्यु, पेय रस सभी वृषभ हैं, यहां तक कि इन्द्र का आह्वाता तथा इन्द्र स्वयं भी वृषभ है (द्रष्टव्य ऋग् २.१६. ५, ६; ५. ३६.५;५. ४०. २, ३)। इससे स्पष्ट है कि वेद जान-बूझ कर रहस्यमयी भाषा का प्रयोग कर रहा है तथा पहेली बुझवाना चाहता है। यहां उक्षा का बैल अर्थ निरुक्तकार ने भी नहीं किया, किन्तु माध्यमिक संस्त्यान या ओस के कण अर्थ लिया है। प्रातःकालीन सूर्य ओस-कण रूप उक्षाओं का भक्षण करता है। 'उक्षणः एतान् माध्यमिकान् संस्त्यानान् (निरु. १२. ९)।'

५७. यहां १५ और २० उक्षाओं को पकाने का वर्णन है। इसका आशय १५ या २० भी हो सकता है और १५ तथा २० अर्थात् ३५ भी। यदि उक्षा सोम है तो ये १५, २० या ३५ उस सोम के भेद माने जायेंगे। आयुर्वेद की सुश्रुत संहिता में अंशुमान्, मुंजवान् आदि सोम के अनेक भेद वर्णित भी हैं। अथवा ये संख्यायें सोमरस से परिपूर्ण पात्रों की हैं। ऋग् ८. ७७. ४ में इन्द्र द्वारा सोम के ३० तालाब (सरांसि) पिये जाने का उल्लेख है, जिसका आशय निरुक्तकार ने याज्ञिकों के मत में सोम से भरे हुए ३० उक्थ-पात्र बताया है, जो माध्यन्दिन सवन में इन्द्र को पिलाये जाते हैं (निरु. ५. १०)। तिलक ने अपनी व्याख्या में अश्विनी, भरणी आदि २८ नक्षत्र तथा ७ ग्रह ये ३५ उक्षा माने हैं।

इन्द्राणी

वृषभो न तिग्मशृङ्गोऽन्तर्यूथेषु रोरुवत्
मन्थस्त इन्द्र शं हृदे यं ते सुनोति भावयुर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥१५॥
न सेशे यस्य रम्बतेऽन्तरा सक्थ्या कपृत् ।
सेदीशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥१६॥

"जैसे तीक्ष्ण शृंगों वाला बैल डकराता हुआ यूथों के बीच में आता है, वैसे ही अपने तीक्ष्ण आयुध या प्रभावरूपी शृंगों से युक्त होकर दहाड़ते हुए तुम अपनी प्रजाओं के मध्य आओ। मन्थ[58] तुम्हारे हृदय के लिए शान्ति-दायक हो, जिसे तुम्हारे लिए भावयु (प्रेमभाव के अभिलाषी) ने तैयार किया है। इन्द्र सबसे उत्तर है। (याद रखो) वह समर्थ नहीं होता, जिसका सिर दूसरों के पैरों के बीच झुकता है, प्रत्युत समर्थ वह होता है, जिस दृढ़ स्थिति वाले का सिर तन कर अपने प्रभाव को फैलाता है[59]। इन्द्र सबसे उत्तर है।"

इन्द्र

न सेशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते ।
सेदीशे यस्य रम्बतेऽन्तरा सक्थ्या कपृद् विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥१७॥

"(हे इन्द्राणी, तुमने जो कहा है, वह ठीक है। तो भी यह नियम सर्वत्र लागू नही होता। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि) वह समर्थक नहीं होता

---

५८. मन्थः=सोमरस के साथ सत्तू मिला कर तैयार किया हुआ पेय द्रव्य। अध्यात्म में, मन्थ=ध्यान (ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्, श्वेता. १. १४)।

५९. १६ वें मन्त्र में इन्द्राणी इन्द्र को कहती है कि तुम तो सबके सामने नम्र होकर रहते हो, नम्रता से संसार में कार्य-निर्वाह नहीं होता, प्रत्युत अपने प्रभाव का विस्तार करने से होता है। सायण ने कपृत् तथा रोमश को उपस्थवाची मान कर मन्त्र १६-१७ को मैथुनपरक व्याख्यात किया है। पर यहां उसका तो कोई प्रसंग ही नहीं है। इन्द्राणी सोमरस के अन्य द्वारा छीन लिये जाने से चोट खाई हुई है। चोट खाई सर्पिणी को क्या शृंगारचेष्टाएं सूझती हैं। उसे तो प्रतीकार के लिए साहस और वीरता ही शोभा देते हैं। हमने जो अर्थ किया है उसे दृष्टि में रखते हुए ३७ वें मन्त्र का संस्कृतभाष्य इस प्रकार होगा—"स न ईशे समर्थो भवति यस्य कपृत् क यशोज्ञानादिरूपो रसः तेन पूर्णं, यद्वा कं सुखं पृणातीति, अथवा कानि इन्द्रियाणि पिपर्ति पालयतीति, शिर इत्यर्थः,

जो डट कर खड़ा हो जाता है और सिर ताने रखता है, प्रत्युत वह समर्थ होता है जिसका सिर दूसरों के पैरों के बीच झुकता है[६०]।"

इन्द्राणी

अयमिन्द्र वृषाकपिः परस्वन्तं हतं विदत्।
असिं सूनां नवं चरुमादेधस्यान आचितं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।१८।

"हे इन्द्र, इस वृषाकपि ने अपने मृग[६१] को हतप्राय जान लिया है, क्योंकि इसने तलवार को तथा वधशिला (सूना) को देख लिया है, तथा (यज्ञार्थ सुसज्जित) नवीन चरु एवं समिधाओं से भरी हुई गाड़ी का दर्शन कर लिया है।"[६२]

अन्येषां सक्थ्या अन्तरा सक्थ्युपलक्षितयोश्चरणयोर्मध्ये, रम्बते लम्बते उपतिष्ठते; प्रत्युत स इत् स एव ईशे समर्थो जायते यस्य निषेदुषः निषण्णस्य सुदृढस्थितिमतो रोमशं केशयुक्तं शिरः, विजृम्भते विततं जायते।"

६०. अर्थात् सर्वत्र दण्डनीति का ही प्रयोग हितकर नहीं होता, किन्तु अवसर के अनुसार साम का प्रयोग भी आवश्यक होता है। 'अन्तरा सक्थ्या' का अर्थ होगा ऊरुओं के बीच में अर्थात् चरणों के मध्य। सायण ने सूक्त की भूमिका मे तो १७वी ऋचा इन्द्राणी की उक्ति मानी है, परन्तु व्याख्या में इसे इन्द्र का ही वचन लिखा है। पिशेल तथा गैल्डनर के मत में मन्त्र १७, १८ वृषाकपायी के वचन हैं।

६१. परस्वन्तम्। सायण ने अथर्व ६ ७२. २ के भाष्य में परस्वान् को मृगविशेष ही माना है—'परस्वतः एतत्संज्ञस्य मृगविशेषस्य', पर प्रस्तुत मन्त्र में उसने 'परस्वन्तं परस्वमात्मनो विषयेऽवर्तमानम्' अर्थ कर लिया है।

६२. जब वृषाकपि के मृग का उत्पात असह्य हो गया, तब उसके वध की पूरी तैयारी कर ली गई है। आकाश में यह मृगशीर्ष-नक्षत्र है, तलवार की आकृति के तीन तारे ही तलवार हैं, जिससे यह मृगशीर्ष विद्ध है, आकाश या आकाशगंगा वधशिला है और अस्त होना ही वध है। अध्यात्म में शम, दमादि की तलवार से अहंकार रूप मृग का वध होगा। इसी प्रकार विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न व्याख्याएं हो सकती हैं। मृग ही हवियों को दूषित करने के द्वारा यज्ञ में बाधक था। उसके वध की तैयारी हो जाने पर यज्ञ निर्विघ्न होना निश्चित हो गया, अतः यज्ञार्थ चरु और समिधायें सुसज्जित करने का भी मन्त्र में वर्णन है।

इन्द्र

अयमेमि विचाकशद् विचिन्वन् दासमार्यम् ।
पिबामि पाकसुत्वनोऽभि धीरमचाकशं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥१९॥
धन्व च यत् कृन्तत्रं च कति स्वित् ता वि योजना ।
नेदीयसो वृषाकपेऽस्तमेहि गृहाँ उप विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥२०॥
पुनरेहि वृषाकपे सुविता कल्पयावहै ।
य एष स्वप्ननंशनोऽस्तमेषि पथा पुन र्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥२१॥

"यह मैं देखता हुआ, आर्य तथा दास की पृथक् पहचान करता हुआ, चलता हूँ। मैं परिपक्व मन से सोम अभिषुत करने वाले के सोमरस को पीता हूँ और उस धीर पर कृपादृष्टि रखता हूँ। धन्व तथा कृन्तत्र में भला कितने योजनों की दूरी है? अर्थात् कोई विशेष दूरी नहीं है। हे वृषाकपि, अपने निकटस्थ घर को तू जा तथा वहां से हमारे घर पर आ जाना। इन्द्र सबसे उत्तर है। हे वृषाकपि, पुनः तुम आ जाना, हम दोनों शुभ कर्म करेंगे। जो तू निद्रा को भंग करता हुआ उदित होता है, वही मार्ग में चलना-चलता अब अस्त हो रहा है। इन्द्र सबसे उत्तर है।[६३]"

इन्द्राणी

यदुदञ्चो वृषाकपे गृहमिन्द्राजगन्तन ।
क्व स्य पुल्वघो मृगः कमगञ्जनयोपनो विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥२२॥

यहां मृत पशु को पकाने के लिए चरु (हांडी) तथा लकड़ियां एकत्र होने का जो भाव कुछ भाष्यकारों ने लिया है वह अनावश्यक है। चरु का अर्थ हांडी लें तो वह हांडी यज्ञिय हवि पकाने के लिए होगी, न कि मृत मृग को पकाने के लिए। दूसरे, चरु एक हवि भी है, जो चावल, यव आदि से तैयार होती है।

६३. इन्द्राणी वृषाकपि का वध करने को तैयार थी, पर इन्द्र ने विवेकबुद्धि से समझ लिया कि वृषाकपि आर्य है, दास नहीं, मृग के कारण वह दास सा प्रतीत होता है; अतः वध्य तो मृग है, वृषाकपि नहीं। एवं १९वीं ऋचा में इन्द्र अपने विवेक की प्रशंसा कर रहा है। धन्व तथा कृन्तत्र क्रमशः पूर्व क्षितिज तथा पश्चिम क्षितिज प्रतीत होते हैं। इन्द्र वृषाकपि सूर्य को कह रहा है कि अभी तो तुम अस्त हो रहे हो, पर शीघ्र ही पश्चिम क्षितिज से पूर्व क्षितिज में आ जाना। सायण के मत में, धन्व=मरुस्थल, कृन्तत्र=हराभरा वनप्रदेश। तिलक के मत में 'धन्व कृन्तत्र' एक ही दक्षिण क्षितिज है, नेदीयस्=नीचे स्थित वृषाकपि का घर।

"हे वृषाकपि तथा इन्द्र, जब तुम ऊर्ध्व गति करते हुए घर पर आये तब वह पुल्वघ मृग कहां रह गया ? वह जनों को विमूढ़ करने वाला मृग किसके पास चला गया ? इन्द्र सबसे उत्तर है।[६४]"

वृषाकपि

पशुर्ह नाम मानवी साकं ससूव विंशतिम्।
भद्रं भल त्यस्या अभूद् यस्या उदरमामयद् विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ।।२३।।

"मनु की दुहिता पर्शु ने एक साथ बीस पुत्रों को जन्म दिया। उस बेचारी को चैन मिल गया, जिसका उदर (२० पुत्रों के भार से) कष्ट पा रहा था।[६५] इन्द्र सबसे उत्तर है।"

पुरूरवा और उर्वशी का संवाद

ऋग्वेद १०म मण्डल, सूक्त ९५ में पुरूरवा और उर्वशी का संवाद वर्णित है, जिसमें १८ मन्त्र हैं। अनुक्रमणी के मन्त्र १, ३, ६, ८–१०, १२, १४ तथा १७ पुरूरवा के वाक्य हैं तथा शेप उर्वशी के। पुरूरवा और उर्वशी

---

६४. 'मृग=मृगशीर्ष नक्षत्र। उदञ्चः=उत्तरायण होकर'–तिलक। पुल्वघः =पुरु अघः=बहुत पापी। पुल्वघः बह्वादी, निरु. १३.३। इन्द्र तथा वृषाकपि को साथ देख तथा हविर्भक्षी मृग को न देख प्रसन्न हो इन्द्राणी कह रही है। सायण ने यह ऋचा इन्द्र (परमैश्वर्यवान्) को वृषाकपि का विशेषण मान कर प्रथम इन्द्रोक्ति के रूप में व्याख्यात की है, फिर यह विकल्प दिया है कि यह इन्द्राणी का वचन भी हो सकता है, २३वीं ऋचा उसने वृषाकपि की मानी है। पिशेल तथा गैल्डनर २२, २३ दोनों ऋचायें सूक्त के कवि की ओर से कही गयी मानते हैं। वह भी संभव है। ग्रिफिथ ने दोनों ऋचाएं इन्द्राणी की मानी हैं।

६५. ये बीस पुत्र १४वें मन्त्र में वर्णित २० उक्षा ही हैं। पूर्वप्रदर्शित नयानुसार बीस पुत्र सोमरस से परिपूर्ण २० प्याले हुए। इनकी माता मानवी पर्शु वह बड़ी स्थाली होगी जिसमें ये प्याले भरे जाते हैं। अध्यात्म में पांच यम, पांच नियम, शमदमादि षट्कसम्पत्ति तथा मैत्री करुणादि चार वृत्तियां ये २० पुत्र हो सकते हैं, इनकी माता विशुद्ध चित्रवृत्ति है। हमने 'भल' शब्द सम्बोधनवाची माना है, सायण ने इसका अर्थ शर किया है। इस सूक्त के ११,१२,१३,२१, २२ ये पांच मन्त्र क्रमशः ११.३४, ११.३५, १२.९, १२.२७ तथा १३.३ पर निरुक्त में व्याख्यात हैं।

पति-पत्नी हैं। बहुत दिन तक साथ रहने के पश्चात् उर्वशी के कहीं चले जाने पर पुरूरवा उसे खोजने लगता है। अन्त में साक्षात्कार होने पर दोनों का परस्पर निम्न प्रकार संवाद प्रवृत्त होता है।

पुरूरवा

हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे वचांसि मिश्रा कृणवावहै नु।
न नौ मन्त्रा अनुदितास एते मयस्करन् परतरे चनाहन् ॥१॥

"हे मेरी निष्ठुर पत्नी, मन से जरा ठहर जाओ, हम दोनों परस्पर बातें कर लें। हमारी एक-दूसरे के संमुख न कही हुई (मन की मन में ही रही हुई) ये मन्त्रणाएं आगे आने वाले दिनों में हमें सुखी नहीं कर सकेंगी।"

उर्वशी

किमेता वाचा कृणवा तवाहं प्राक्रमिषमुषसामग्रियेव।
पुरूरवः पुनरस्तं परेहि दुरापना वात इवाहमस्मि ॥२॥

"मैं तेरी इन बातों से क्या करूंगी? अब तो मैं तेरे पास से चली ही आयी हूँ, जैसे उषाओं में प्रथमा उषा जा चुकी है। हे पुरूरवा, तू पुनः घर को लौट जा, मैं तो अब वायु के समान पकड़ में न आने वाली हो गयी हूँ।"

पुरूरवा

इषुर्न श्रिय इषुधेरसना गोषाः शतसा न रंहिः।
अवीरे क्रतौ वि दविद्युतन्नोरा न मायुं चितयन्त धुनयः ॥३॥

"(तेरे विरह के कारण) मुझे विजय-श्री की प्राप्ति के लिये तूणीर से बाण नहीं छोड़ मिलता। अब मेरा वेग (पहले जैसा) गौओं को प्राप्त करने तथा सैकड़ों धन-धान्यों को जीतने वाला नहीं रहा। राजकार्य के वीर-विहीन हो जाने से उसकी शोभा नहीं रही। मेरे शत्रु-प्रकम्पक वीर विस्तीर्ण संग्राम में अब सिंहनाद करना नहीं जानते।"

उर्वशी

सा वसु दधती श्वशुराय वय उषो यदि वष्ट्यन्तिगृहात्।
अस्तं ननक्षे यस्मिञ्चाकन् दिवा नक्तं श्नथिता वैतसेन ॥४॥
त्रिः स्म माह्नः श्नथयो वैतसेनोत स्म मेऽव्यत्यै पृणासि।
पुरूरवोऽनु ते केतमायं राजा मे वीर तन्वस्तदासीः ॥५॥

"उर्वशी उषा-काल में श्वसुर के लिए प्रशस्त भोजन (प्रातराश) तैयार कर रही होती थी, तभी पति उसकी चाह करने लगता था। तब वह अन्तिकगृह (समीपस्थ भोजनागार) से पति के कक्ष में चली जाती थी, जहां वह उसकी

चाह में बैठा होता था। दिन-रात वह भोग से शिथिल की जाती थी[६६]। हे पुरूरवा, दिन में तीन-तीन वार तू मुझे भोग से पीड़ित करता था और मुझ सपत्नी-रहिता को तू सब प्रकार से भरपूर करता था। मैं तेरे कक्ष में आती थी और तब हे वीर, तू मेरी देह का राजा होता था।"

पुरूरवा

या सुजूर्णिः श्रेणिः सुम्न आपिर्ह्रदेचक्षुर्न ग्रन्थिनी चरण्युः।
ता अञ्जयोऽरुणयो न सस्रुः श्रिये गावो न धेनवोऽनवन्त ॥६॥

"जो सुजूर्णि, सुम्न-आपि, ह्रदेचक्षु, ग्रन्थिनी, चरण्यु नामक तेरी सखियां थीं, वे आभूषणों से अलंकृत अरुणवर्णा सखियां अब मेरे घर नहीं आतीं, जो शोभा के लिए नवप्रसूता गौओं के समान प्यारी वाणी बोलती थीं[६७]।"

उर्वशी

समस्मिञ्जायमान आसत ग्ना उतेमवर्धन् नद्यः स्वगूर्ताः।
महे यत् त्वा पुरूरवो रणायाऽवर्धयन् दस्युहत्याय देवाः ॥७॥

"हे पुरूरवा, जब तू राजा बना था तथा जब महान् संग्राम के लिए एवं दस्युओं का हनन करने के लिए देवों ने तेरी महिमा को बढ़ाया था, उस समय राज्याभिषेक के सलिल मुझे प्राप्त हुए थे, और स्वयं बहने वाली नदियों ने (नदीजलों ने) तुझे समृद्ध किया था[६८]।"

---

६६. इस मन्त्र में उर्वशी अपने लिए प्रथम पुरुष का प्रयोग कर आप-बीती सुना रही है।

६७. सुजूर्णिः=सुजवा=प्रशस्त वेग वाली (जूर्णिरिति क्षिप्रनाम नि.२.१५)। जूर्णिः जवतेर्वा द्रवतर्वा दुनोतेर्वा, निरु. ६.४)। श्रेणिः=सेवापरायण (श्रिञ् सेवायाम्)। सुम्न आपिः=सुख प्राप्त कराने वाली (सुम्न= सुख, नि. ३. ६, आपि—आप्लृ व्याप्तौ)। ह्रदेचक्षु.=जिसकी आंखें आह्लादित करने वाली हैं। ग्रन्थिनी=सुन्दरता से केश गूंथने वाली। चरण्युः=सुन्दर चाल वाली।

६८. उर्वशी पुरूरवा को स्मरण करा रही है कि किन आशाओं को लेकर तुझे राजा बनाया गया था। पर पुरूरवा अपनी ही धुन में मस्त है। वह उर्वशी की सखियों के साथ हुई अपनी क्रीडाओं को ही याद कर रहा है। ग्नाः=जल (ग्नाः गमनाद्, आपो देवपत्न्यो वा, निरु १०.४५)। सायण ने देवपत्नी अर्थ किया है। उसके अनुसार उर्वशी पुरूरवा पर यह आरोप लगाती है कि तेरा देवपत्नियों के साथ संसर्ग रहा है, पुरुरवा अगले मन्त्रों में उसका उत्तर देता है कि नहीं, जब मैं उनके पास जाता था तब वे मुझ से दूर भाग जाती थीं।

पुरूरवा

सचा यदासु जहतीष्वत्कममानुषीषु मानुषो निषेवे ।
अप स्म मत् तरसन्ती न भुज्युस्ता अत्रसन् रथस्पृशो नाश्वा : ॥८॥
यदासु मर्तो अमृतासु निस्पृक् संक्षोणीभिः क्रतुभिर्न पृङ्क्ते ।
ता आतयो न तन्वः शुम्भत स्वा अश्वासो न क्रीडयो दन्दशानाः ॥९॥
विद्युन्न या पतन्ती दविद्योद् भरन्ती मे अप्या काम्यानि ।
जनिष्ठो अपो नर्यः सुजातः प्रोर्वशी तिरते दीर्घमायुः ॥१०॥

"जब अपने रूप को बखेरती हुई उन अमानुषी सुन्दरियों के बीच में क्रीडाएं करता थां, तब वेगवती-मृगी के समान तथा रथ में जुती हुई घोड़ियों के समान वे डर कर दूर भाग जाती थीं। जब मैं मर्त्य उन अमृताओं के साथ वाणी से तथा क्रियाओं से सम्पर्क स्थापित करता था तब वे हंसियों के समान अपनी तनुओं को शोभित करती थीं, तथा घोड़ियों के समान क्रीडा करती थीं और दांत दिखाती थीं[६९]। मेरी उर्वशी गिरती हुई विद्युत् के समान चमकती है, उसने मेरे व्यापक मनोरथों को धारण किया हुआ है। उससे कर्मशील, नरहितकारी पुत्र जन्म लेगा, तब वह उर्वशी दीर्घ आयु प्राप्त करेगी।"

उर्वशी

जज्ञिष इत्था गोपीथ्याय हि दधाथ तत् पुरूरवो म ओजः ।
अशासं त्वा विदुषी सस्मिन्नहन् न म आशृणोः किमभुग्वदासि ॥११॥

"हे पुरूरवा, तू भूमि की रक्षा के लिए पैदा हुआ है, भूमि की रक्षा के लिए ही तूने मेरे अन्दर अपना ओज निहित किया है। मुझ विदुषी ने तुझे सब दिन समझाया, पर तूने मेरी बात नहीं सुनी। अब भोग के स्वामित्व से वंचित हुआ तू किस अधिकार से बोल रहा है?"

पुरूरवा

कदा सूनुः पितरं जात इच्छाच्चक्रन्नाश्रु वर्तयद् विजानन् ।
को दंपती समनसा वि यूयोदध यदग्निः श्वशुरेषु दीदयत् ॥१२॥

"कब वह घड़ी आयेगी जब मेरा पुत्र उत्पन्न होगा और वह मुझ पिता की चाहना करेगा, मुझे पहचान कर क्रन्दन करता हुआ सा आंसू बहायेगा! प्रेमयुक्त

---

६९. उर्वशी से कही हुई ७म मन्त्र की बात पर पुरूरवा कुछ ध्यान नहीं देता, मानों उसने कुछ सुना ही नहीं। षठ मन्त्र में उसने कहा था कि उर्वशी की सखियां अब उसके घर नहीं आती हैं। अब भी वह उन्हीं की बात सोच रहा है तथा उन्हीं के विषय में कह रहा है।

मन वाले हम पति-पत्नी को कौन पृथक् कर सकेगा, जब श्वशुरों के बीच में शिशु रूपी अग्नि चमक रहा होगा।[७०]"

उर्वशी

प्रति ब्रवाणि वर्तयते अश्रु चक्रन् न क्रन्ददाध्ये शिवायै।
प्र तत् ते हिनवा यत् ते अस्मे परेह्यस्तं न हि मूर मापः ॥१३॥

"जब वह आंसू बहायेगा तब मैं उसे सान्त्वना दे लूंगी, फिर वह बिलखता हुआ क्रन्दन नहीं करेगा। उसके मंगल की मैं चिन्ता कर लूंगी। (और यदि तुझे बहुत ही परवाह है तो) जो तेरा तेज मुझ में निहित है (वह जब जन्म लेगा) उसे मैं तेरे ही पास भेज दूंगी। जा, तू घर जा। हे मूढ़, तू मुझे नहीं पा सकता।"

पुरूरवा

सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत् परावतं परमां गन्तवा उ।
अधा शयीत निर्ऋतेरुपस्थेऽधैनं वृका रभसासो अद्युः ॥१४॥

"(यदि तू मेरा कहना नहीं मानती तो) आज यह तेरा सुदेव फिर लौट कर न आने के लिए, महाप्रयाण कर जाने के लिए, किसी ऊंचे स्थान से गिर पड़ेगा और सदा के लिए पृथिवी की गोद में सो जायेगा। तेजी से झपटते हुए भेड़िये इसे खा जायेंगे।"

उर्वशी

पुरूरवो मा मृथा मा प्रपप्तो मा त्वा वृकासो अशिवास उक्षन्।
न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता ॥१५॥
यद्विरूपाचरं मर्त्येष्ववसं रात्रीः शरदश्चतस्रः।
घृतस्य स्तोकं सकृदह्न आश्नां तादेवेदं तातृपाणा चरामि ॥१६॥

"हे पुरूरवा, तू मर मत, किसी ऊंचाई से गिर मत, न ही तुझे अशिव भेड़िये खायें। स्त्रियों का सख्य अच्छा नहीं होता। इनके हृदय भेड़ियों के हृदय होते हैं। विशेष रूपवती मैं (पतिकुल के) लोगों के बीच में विचरती रही और चार वर्ष (तेरे साथ) रात्रियों में रही। उन दिनों जो मैंने थोड़ा सा

---

७०. अर्थात् चल मेरे ही पास रह। मैं तो उस दिन की प्रतीक्षा में हूँ, जब पुत्र पैदा होगा और पिता-पिता की रट लगा कर मेरे पास आने के लिए मचलेगा। और, तब तो तेरा मुझ से अलग होना और भी असंभव हो जाएगा, क्योंकि कौन श्वसुर उस खिलौने से शिशु को अपने पास से पृथक् करना चाहेगा।

घृत भक्षण किया था, उसी से तृप्त हुई-हुई मैं जी रही हूं[71]।"

पुरूरवा

> अन्तरिक्षप्रां रजसो विमानीमप शिक्षाम्युर्वशीं वसिष्ठः ।
> उप त्वा रातिः सुकृतस्य तिष्ठान्निवर्तय हृदयं तप्यते मे ।।१७।।

"अपने सौन्दर्य से अन्तरिक्ष को पूर्ण करने वाली, रस का निर्माण करने वाली तुझ उर्वशी को मैं वसिष्ठ (घर बसाने वाला)[72] सर्वस्व देने को तैयार हूं। मेरी शुभ कमाई का सब उपहार तेरे चरणों में न्यौछावर होगा। लौट चल, मेरा हृदय सन्तप्त हो रहा है।"

उर्वशी

> इति त्वा देवा इम आहुरैड यथेमेतद् भवसि मृत्युबन्धुः ।
> प्रजा ते देवान् हविषा यजाति स्वर्ग उ त्वमपि मादयासे ।।१८।।

"हे इडा के पुत्र पुरूरवा, सब देवजन तेरे विषय में यही कहते हैं कि तू तो मृत्यु का शिकार होता जा रहा है। (उचित तो यह है कि) तेरी प्रजा हवि द्वारा देवों का यजन करे और तू भी स्वर्ग में आनन्द भोगे[73]।"

विवेचन

ऐतिहासिक पक्ष के अनुसार पुरूरवा एक राजा था, यह इडा का पुत्र होने से ऐड कहलाता है। उर्वशी नाम की अप्सरा से उसने विवाह कर लिया था। उन्हीं का सवाद इस सूक्त में वर्णित है[74]। अन्य पक्षों में भी इस संवाद की व्याख्याएं हो सकती हैं।

राजनीतिक दृष्टि से पुरूरवा एक क्षत्रिय राजा है, इडा राष्ट्रभूमि है, जिसका वह पुत्र है, उर्वशी उसकी पत्नी है[75]। राजा को प्रजा ने इसलिए चुना है

---

७१. नहीं तो, तेरे अति भोग ने मेरा शरीर ही छुड़ा दिया होता।

७२. वसिष्ठ : समानानां मध्येऽतिशयेन वासयिता—सायण। यहां वसिष्ठ निश्चित ही व्यक्तिवाची नाम नहीं है।

७३. अर्थात् मेरे भोग की इच्छा छोड़कर तू प्रजा को सन्मार्ग में प्रवृत्त कर, जिससे तू स्वर्ग का अधिकारी बने।

७४. द्रष्टव्य: आगे अद्भुत शतपथ ब्राह्मण ११.५.१ का कथानक (पृ.१८९)।

७५. पुरूरवा:, पुरु+रु शब्दे। पुरूरवा बहुधा रोरूयते, निरु. १०.४५। पुरु बहु रौति शब्दायते रूयते स्तूयते वा स पुरूरवाः। जो बहुत सिंहनाद करता है, प्रजा को नियमों का उपदेश करता है या प्रजा से बहुत स्तुति पाता है, ऐसा राजा। उर्वशी, उरु+वश कान्तौ, बहुत चाही जाने वाली, बहुत प्रिय। अथवा उरु+अशूङ् व्याप्तौ, बहुत व्याप्त गुणों वाली।

कि वह दस्युओं का हनन कर राज्य की रक्षा तथा उन्नति करे। परन्तु वह अपने कर्तव्य को भूल विलास-परायण हो गया है। अपनी रूपवती पत्नी तथा उसकी सहेलियों के साथ क्रीडा करने में ही उसका अधिकांश समय व्यतीत होता है। उसके विवाह को चार वर्ष हो चुके हैं। इस समय पत्नी के उदर में गर्भ विद्यमान है। तो भी राजा उसे क्षण भर के लिए भी अपने से पृथक् नहीं करता। पत्नी उसे बहुत समझाती है, अनुनय-विनय करती है, पर सब व्यर्थ होता है। यह अवस्था देख वह घर छोड़ चली जाती है। पतिगृह के बाद नारी का दूसरा अवलम्ब पितृगृह ही होता है, अतः वह पितृगृह चली गयी है ऐसा सहज ही अनुमान किया जा सकता है। पुरूरवा भी उसके पास जा पहुँचता है और उससे घर लौट चलने का आग्रह करता है। वह उसे उसका राज्य-रक्षा का कर्तव्य स्मरण कराती है, यह भी कहती है कि तेरा ओज मेरे उदर में विद्यमान है, ऐसे समय मेरा पृथक् रहना ही उचित है, पर पुरूरवा नहीं मानता। वह हर प्रकार से उर्वशी को मनाने का प्रयत्न करता है, पर उर्वशी नहीं मानती। अन्त में वह पर्वत से गिरकर आत्महत्या कर लेने की धमकी देता है। पर उर्वशी समझदार है, वह उसे शिक्षा देती है कि स्त्रियों के मोह में रहने से कोई लाभ नहीं है। इस समय तुम्हारे साथ रहने से न मेरा कल्याण है, न तुम्हारा कल्याण है, न प्रजा का कल्याण है। जाओ, तुम राज्य-संचालन में मन लगाओ और प्रजा को सन्मार्ग में प्रवृत्त करो। पुत्रोत्पत्ति के पश्चात् यथासमय मैं तुम्हारे समीप आऊंगी। तब तुम उत्सव रचना, जितना चाहे पुत्र को गोद खिलाना और स्नेह पूर्वक मेरे साथ मिलकर प्रजानुरंजन करना।

सारे संवाद में एक स्वाभाविकता है, कामाभिभूत मनुष्य के हृदय का सहज चित्रण है, और नारी की दूरदर्शिता, बुद्धिमता एवं कर्तव्योन्मुखता का उज्ज्वल परिचय है। गृहस्थ-जीवन का एक ऐसा उपन्यास इसमें चित्रित है, जिसकी पुनः पुनः आवृत्ति होती रहती है। गार्हस्थ्य-धर्म एवं राजनीति दोनों का सुन्दर ग्रन्थन इसमें विद्यमान है। देशों के इतिहास में अनेक विलासी राजा होते रहे हैं तथा भविष्य में भी मानव की इस दुर्बलता के उदाहरण मिलते ही रहेंगे। उन सबके लिए यह वैदिक संवाद मार्गदर्शक विद्युद्दीप के रूप में जगमगा रहा है।

निरुक्त में पुरूरवा तथा उर्वशी मध्यमस्थानीय देवताओं में पठित हैं। स्कन्द स्वामी अपनी टीका में ऐतिहासिक पक्ष दिखाकर फिर नित्य पक्ष

उर्वशी अप्सराः, उरु अभ्यश्नुते, उरुभ्यामश्नुते, उरुर्वा वशोऽस्याः, निरु ५.४७। इडा=पृथिवी, नि १.१।

प्रदर्शित करते हुए कहते हैं कि कुछ के मत में उर्वशी विद्युत् तथा पुरूरवा वायु है[७६]। स्वामी दयानन्द विभिन्न प्रकरणों में उर्वशी से यज्ञक्रिया, दीप्ति, बहुवशकर्त्री प्रज्ञा, वाणी एवं विद्या अर्थ गृहीत करते हैं[७७]। पुरूरवा से एक स्थान पर उन्होंने यज्ञ अर्थ अभिप्रेत माना है, अन्यत्र विद्वान् अर्थ भी लिया है[७८]। मैक्समूलर के कथनानुसार यह संवाद वेद की उन पुरावृत्त कथाओं में से एक है, जो उषा तथा सूर्य के सम्बन्ध पर प्रकाश डालती हैं। गोल्डस्टुकर का मत है कि उर्वशी छाया हुआ प्रातःकालीन कुहरा है, जो सूर्य रूपी पुरूरवा के आते ही अन्तर्धान हो जाता है[७९]। विभिन्न क्षेत्रों में संवाद को घटाने के लिए निम्न प्रकार की कल्पनाएं भी की जा सकती हैं।

आत्मा पुरूरवा है, देह (तनू) उर्वशी है। आत्मा चार वर्ष इसका भोग करता है। बाल्य, कौमार, यौवन तथा वार्धक्य मनुष्य-जीवन की ये चार अवस्थाएं ही चार वर्ष हैं। इसके उपरान्त देह आत्मा को छोड़ चली जाती है। तब आत्मा पुनः देह की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करता है[८०]।

भूपति पुरूरवा है, भू उर्वशी है। भूपति यदि भू की रक्षा न कर उसके भोग में संलग्न रहता है तो भू उसके पास से चली जाती है, छिन जाती है। फिर भूपति कितना ही उसे अपने समीप आने के लिए कहे, वह नहीं आती।

हलधर (कृषक) पुरूरवा है, भूमि उर्वशी है। वह भूमि का कर्षण करता है, उसमें हल चलाता है। पर जब बीजवपन हो जाता है, तब भूमि

---

७६. अत्र च नित्यपक्षे केचिद् उर्वशी विद्युद् वायुः पुरूरवा इति मन्यन्ते। निरु. ५. १३ का भाष्य। नैरुक्तपक्षे मध्यमस्थानः स्तनयित्नुलक्षणाया वाचोऽधिष्ठात्री या देवता तामाह, निरु. ११.३६ का भाष्य। पुरूरवा मध्यमस्थानः। विज्ञायते हि वायुः प्राण एव पुरूरवाः इति, निरु. १०.४६ का भाष्य।

७७. क्रमशः द्रष्टव्य यजु ५.२; १५.११, ऋग् ५.४१.१९ (प्रज्ञा, वाणी); तथा ७.३३.११ के भाष्य। प्रस्तुत संवाद-सूक्त का भाष्य स्वामी दयानन्द ने नहीं किया है।

७८. क्रमशः द्रष्टव्य—यजु ५.२ तथा ऋग् १.३१.४ के भाष्य।

७९. द्रष्टव्यः इस सूक्त के अन्त में ग्रिफिथ की टिप्पणी।

८०. तुलनीयः कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च॥

ऋग् १. २४. १

कहती है कि अब मेरा कर्षण मत करना, नहीं तो बोया हुआ बीज नष्ट हो जाने का भय है। फिर जब पुत्रोत्पत्ति हो जाती है, परिपक्व फसल कट जाती है, तब हलधर को पुनः उसका कर्षण करने तथा नयी फसल के लिए बीज वपन करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है।

क्षितिज से नीचे वर्तमान ब्राह्ममुहूर्त का सूर्य पुरूरवा है, उषा उर्वशी है। चार घड़ी वह उसके साथ रहता है, फिर उषा उसे एकाकी छोड़ भाग आती है[८१]। सूर्य भी उसे आकाश में खोजता फिरता है और सायंकाल में सन्ध्या के रूप में स्थित उसे पाकर अपने साथ रहने का आग्रह करता है। पर वह कहती है कि अहोरात्र रूपी शिशु की उत्पत्ति के पश्चात् ही मैं तुझ से मिलूँगी। फिर अगले दिन उन दोनों का मिलन होता है।

मेघ पुरूरवा है, विद्युत् उर्वशी है। वर्षा ऋतु के चार पक्ष ही चार वर्ष हैं, जिनमें दोनों साथ रहते हैं। उसके पश्चात् भी आकाश में छुट-पुट मेघ तो रहते हैं, पर विद्युत् दिखाई नहीं देती। शीत ऋतु की वर्षा में पुनः दोनों का साक्षात्कार होता है, तथा मेघ उसे अपने साथ रहने के लिए कहता है, परन्तु वह इसके लिए तैयार नहीं होती। अगली वर्षा ऋतु में ही पुनः दोनों का समागम हो पाता है।

पर्जन्य पुरूरवा है, पृथिवी उर्वशी है। वर्षा ऋतु में ये दोनों साथ रहते हैं तथा पर्जन्य के रेतस् को पृथिवी गर्भ में धारण करती है। वर्षा के अनन्तर दोनों पृथक् हो जाते हैं। पृथिवी के गर्भ में स्थित जल से निर्झर, स्रोत आदि शिशुओं की उत्पत्ति होती है। तत्पश्चात् आगामी संवत्सर में पुनः दोनों का मिलन हो जाता है।

उत्तरसंहिता-काल में इस संवाद के कथानक को पर्याप्त अतिरंजित रूप दे दिया गया है। शतपथ ब्राह्मण में कथा इस प्रकार है—

---

८१. तुलनीय : अपोषा अनसः सरत् संपिष्टादह बिभ्युषी। नि यत् सीं शिश्नथद् वृषा॥ ऋग् ४.३०.१०, अर्थात् जब वृष। सूर्य ने उषा को अतिशय भोग से शिथिल किया तब उसका रथ भी टूट-फूट गया और वह उससे भाग निकली।

...... and when Urvashi says that s' e is gone away and Pururavas calls himself Vasishtha or the brightest, it is the same Dawn flying away from the embrace of the rising Sun. (B.G. Tilak : The Arctic Home in the Vadas, 1956, Tilak Bros. Poona, P. 224,).

"उर्वशी एक अप्सरा थी, वह इडा के पुत्र पुरूरवा को चाहने लगी। उसे पाकर वह बोली, एक तो मेरी इच्छा न होने पर आप मुझमें रतिपरायण न हों, दूसरे मैं आपको कभी नग्न न देखूं, यह हम स्त्रियों का उपचार है। वह इसके समीप रहने लगी तथा इससे गर्भवती हो गयी। जब उसे पुरूरवा के पास रहते चिरकाल हो गया तब गन्धर्व परस्पर कहने लगे कि इस उर्वशी ने बहुत समय तक मनुष्यों के मध्य निवास कर लिया है, ऐसा उपाय करो जिससे यह पुनः हमारे बीच लौट आये। उर्वशी के शयन के निकट एक मेषी दो बच्चों सहित बंधी रहती थी। गन्धर्व उनमें से एक बच्चा ले भागे। वह बोली जैसे अवीर और विजन देश में चोर धनादि हर लेते हैं, वैसे ये मेरे पुत्र को हर लिये जा रहे हैं। गन्धर्व दूसरे बच्चे को भी ले चले। पुनः वह वैसे ही चिल्लायी। तब पुरूरवा बोला, जहां मैं हूं वह स्थान अवीर और विजन कैसे कहला सकता है। यह कहकर वह नग्न ही उनके पीछे भागा। गन्धर्वों ने विद्युत् चमका दी, जिसके प्रकाश में उर्वशी ने पुरूरवा को नग्न देख लिया। तब वह 'फिर मैं आऊंगी' ऐसा कह वहां से तिरोहित हो गयी। पुरूरवा शोकसन्तप्त हो कुरुक्षेत्र के निकट विचरण करने लगा। घूमता-घूमता कमलमण्डित सरोवर के पास आया। वहां अप्सराएं बत्तख होकर तैर रही थीं। पुरूरवा को पहचान कर उर्वशी बोली, यह वही मनुष्य है जिसके साथ मैं रहती थी। तब वे इसके समक्ष आविर्भूत हुईं। इसने भी उर्वशी को पहचान लिया तथा 'हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे' आदि ऋग्वेद के सूक्त से इनका परस्पर संवाद हुआ। अन्त में उर्वशी के हृदय में दया उपजी। उसने कहा संवत्सरतमी रात्रि को आप आवें, तब आप मेरे साथ एक रात्रि शयन कर सकेंगे और आप के एक पुत्र भी उत्पन्न होगा। वह संवत्सरतमी रात्रि को हिरण्यनिर्मित गृह में आया। उर्वशी ने कहा, प्रातःकाल गन्धर्व आपको वर मांगने को कहेंगे। आप यह वर मांगना कि मैं तुममें से ही एक हो जाऊं। उसने यही वर मांग लिया। गन्धर्व बोले, मनुष्यों में अग्नि की वह यज्ञिया तनू नहीं है, जिससे यज्ञ करके यह हम में से एक हो सके। अतः उन्होंने इसे स्थाली में रख कर अग्नि दिया और कहा कि इससे यज्ञ करके आप हममें से एक होंगे। वह अग्नि को तथा कुमार को लेकर चला। अरण्य में ही अग्नि को रख 'मैं फिर आऊंगा' यह कह कुमार के साथ ग्राम को आ गया। वह अग्नि अश्वत्थ हो गया और वह स्थाली शमी हो गयी। वह पुनः गन्धर्वों के पास आया। उन्होंने कहा एक-संवत्सर-चातुष्प्राश्य ओदन पकाओ और इसी अश्वत्थ की तीन-तीन समिधाएं लेकर उन्हें घृताक्त कर समिद्वती तथा घृतवती

ऋचाओं से समिदाधान करो। उससे जो अग्नि जनित होगा वह यही होगा। पुनः वे बोले, यह परोक्षवत् है, आप अश्वत्थ की लकड़ी की उत्तरारणि बनायें तथा शमी की लकड़ी की अधरारणि, इन दोनो का मन्थन करें। उससे जो अग्नि जनित होगा वही यह होगा। पुनः वे बोले, यह भी परोक्षवत् है, आप अश्वत्थ की लकड़ी की उत्तरारणि तथा अश्वत्थ की ही लकड़ी की अधरारणि बनायें, इससे जो अग्नि उत्पन्न होगा वही यह होगा। इसने अश्वत्थ की ही लकड़ी की उत्तरारणि तथा अधरारणि बना कर अग्निमन्थन किया। इससे यज्ञ कर पुरूरवा गन्धर्वों में से एक हो गया। इसलिए उत्तरारणि तथा अधरारणि दोनों अश्वत्थ की ही बनावे। इससे जो अग्नि उत्पन्न होगा उससे यज्ञ करके यजमान गन्धर्वों में से ही एक हो जायेगा[८२]।

यह ध्यान देने योग्य है कि ऋग्वेद की मूल कथा से शतपथ की यह कथा कितनी भिन्न हो गयी है। मूल में पुरूरवा को नग्न न देखने की शर्त होना, शय्या के समीप मेषी व मेषशिशुओं का बंधा रहना, गन्धर्वो द्वारा शिशुओं को ले भागना, पुरूरवा का खिन्न हो कुरुक्षेत्र के निकट विचरण करना, कुरुक्षेत्र के सरोवर में उर्वशी का सखियों सहित बत्तख बनकर तैरना, संवत्सरतमी रात्रि को इकट्ठे शयन करना, पुत्रोत्पत्ति होना, गन्धर्वों से वर माँगना, अश्वत्थ की उत्तरारणि बना अग्नि उत्पन्न कर यज्ञ करना आदि कुछ नहीं है। यह सब शतपथकार की अपनी कल्पना है।

यही कथा भागवतपुराण में इस रूप में वर्णित है—"मित्र और वरुण के शाप से स्वर्ग की अप्सरा उर्वशी मर्त्यलोक को प्राप्त हो राजा पुरूरवा के घर आयी। राजा से उसने कहा कि आप मेरे ये दो उरणक (मेषशिशु) न्यास रख लें, मेरा भोजन केवल घृत रहे और आप मेरे निकट कभी विवस्त्र न हों। यह आपको स्वीकार हो तो मैं आपके साथ कुछ काल निवास करूं। राजा के स्वीकार कर लेने पर उर्वशी सुखपूर्वक निवास करने लगी। बहुत दिनों के पश्चात् इन्द्र ने अपना भवन उर्वशी से रहित देख गन्धर्वों को आज्ञा दी कि मर्त्यलोक से उर्वशी को ले आओ। गन्धर्व उर्वशी के पुत्रीकृत दोनों उरणक ले भागे। पुरूरवा उन्हें बचाने के लिए नग्न ही उनके पीछे दौड़ा। विद्युत्प्रकाश में पुरूरवा को नग्न देख उर्वशी अन्तर्धान हो गयी। अन्त में उसने कुरुक्षेत्र की सरस्वती नदी में स्नान करती हुई सखियों के साथ उर्वशी को देखा। दोनों में वार्तालाप हुआ। उर्वशी ने कहा कि एक वर्ष के अन्त में एक रात्रि आप मेरे साथ वास करेंगे और अन्य पुत्र भी आपको होंगे, इस समय आप लौट जाएं।

---

८२. शत. ११. ५. १

पुरूरवा लौट आया तथा अवधि की प्रतीक्षा करता रहा। एक वर्ष के अन्त में उर्वशी आयी। दोनों दम्पती स्नेहसहित एक रात्रि सहवास के सुख से परम सुखी हुए। उर्वशी ने कहा आप गन्धर्वों की स्तुति कीजिए, वे मुझको आपके लिए देंगे। गन्धर्व राजा की स्तुति से प्रसन्न हो उसे एक अग्नि-स्थाली देकर चले गये। वह उसी को उर्वशी समझ उसे लिये-लिये वन में घूमने लगा। फिर वन में ही उसे रखकर चला आया। लौटने पर उसने अग्निस्थाली के स्थान पर शमीगर्भस्थ अश्वत्थ वृक्ष को देखा। उस वृक्ष की एक अधरारणि बनायी और उत्तरारणि स्वयं बनकर दोनों का मन्थन किया। उससे अग्नि उत्पन्न हुआ जो त्रेता में अनेक यज्ञों का कारण बना।"[3]

महाभारत की कथा का निम्न रूप है—"चन्द्रमा ने बृहस्पति की पत्नी तारा को हर लिया था। उस समय तारा के गर्भ से चन्द्र को एक पुत्र हुआ, जिसका नाम बुध रखा गया। बुध का विवाह राजपुत्री इला के साथ हुआ। इला के गर्भ से बुध को पुरूरवा नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ। पुरूरवा अतिविद्वान् और नानाविध सद्‌गुणों से विभूषित थे। उर्वशी ने ब्रह्मशाप से मर्त्यलोक में जन्म लिया। एक दिन वह अप्सरा राजा पुरूरवा के निकट पहुंची और बोली कि यदि आप मेरी इन चारों बातों का पालन करेंगे तो मैं आपको वर सकती हूं। मैं आपको नग्न कभी न देखूं, मेरी इच्छा हो तभी आप मुझसे मैथुन करें, दो मेष शयन के समीप सदा बंधे रहें और मैं केवल घृत का एक काल आहार करूँ। जब तक आप इन चार बातों का पालन करेंगे तभी तक मैं आपके पास रहूँगी। उसका उल्लंघन करने पर मैं उसी समय आपको छोड़ स्वस्थान को चली जाऊँगी। राजा ने इन बातों को मान कर विवाह किया और ६१ वर्ष तक सुखपूर्वक रहे। एक दिन गन्धर्व उर्वशी के शापमोचन के लिए दोनों मेष खोलकर ले चले। राजा नग्न ही उनकी ओर दौड़े। राजा को नग्नावस्था में देखने से उर्वशी का शाप छूट गया और वह स्वर्ग को चली गयी। इस समय गन्धर्वों ने भी मेष छोड़ दिये। राजा उर्वशी-वियोग से नितान्त अधीर हो इधर-उधर घूमने लगे। एक बार कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत प्लक्ष तीर्थ में हेमवती पुष्करिणी के किनारे उन्हें उर्वशी पुनः दिखायी पड़ी। राजा उसे देख बहुत विलाप करने लगे। इस पर उर्वशी ने कहा, मुझे आपसे गर्भ है, एक वर्ष बाद अनेक पुत्र उत्पन्न होंगे, जिन्हें लेकर आपके निकट आऊँगी और केवल एक रात्रि रहूंगी। तब राजा प्रसन्न हो अपने नगर को चला गया। एक वर्ष बीतने पर उर्वशी पुनः आयी और राजा

---

८३. भा० पु० ६. १३

उसके साथ एक रात्रि रहा। पीछे स्वर्ग में उर्वशी के गर्भ से आयु, अमावसु, विश्वायु, श्रुतायु, दृढायु, वनायु और शतायु ये सात पुत्र उत्पन्न हुए।"[८४]

शौनक इस कथानक को इस प्रकार दिखाते हैं—"प्राचीन काल में उर्वशी नाम की अप्सरा राजा पुरूरवा के पास उससे कुछ वचन लेकर रही तथा उसके साथ गृहस्थधर्म का पालन करने लगी। इन्द्र को उन दोनों के साथ रहने से ईर्ष्या हुई तथा उसने अपने पार्श्वस्थ वज्र से कहा कि यदि तुम मेरा प्रिय चाहो तो इन दोनों की प्रीति भंग करो। वज्र ने भी तथास्तु कह अपनी माया से उनकी प्रीति को भंग कर दिया। तब उससे विहीन हुआ राजा उन्मत्त के समान फिरने लगा। घूमते-घूमते उसने एक सरोवर में उर्वशी को पाँच सुन्दर सखियों से घिरी हुई देखा। उसे उसने पुनः अपने पास आने के लिए कहा, पर वह राजा से बोली, आज तुम यहां मुझे प्राप्त नहीं कर सकते, पुनः तुम मुझे स्वर्ग में प्राप्त करोगे। दोनों के इस उत्तर-प्रत्युत्तर को यास्क ने संवाद माना है, किन्तु शौनक ने इसे इतिहास कहा है।"[८५]

अन्यत्र वायुपुराण, मत्स्यपुराण, विष्णुपुराण, देवी भागवत पुराण, विक्रमोर्वशीय नाटक आदि में भी कम-अधिक अन्तर के साथ यह कथानक मिलता है[८६]। इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋग्वेद के पुरूरवा-उर्वशी-संवाद को लेकर ही विभिन्न ग्रन्थकारों ने उसे अपना-अपना रंग दे दिया है, जिन सब में मूलतत्त्व एक ही है।

सरमा और पणियों का संवाद

ऋग्वेद, दशम मण्डल के १०८ वें सूक्त में सरमा तथा पणियों का संवाद है, जिसमें ११ ऋचाएं हैं। अनुक्रमणी के अनुसार ११ वीं के अतिरिक्त विषम संख्या की ऋचाएं पणियों द्वारा सरमा को कही गई हैं, तथा सम संख्या की ऋचाएं एवं ११ वीं ऋचा सरमा पणियों को कहती है। यास्क ने निरुक्त में प्रथम ऋचा के भाष्य में आख्यानवादियों का पक्ष दिखाते हुए कहा है कि इन्द्र द्वारा प्रेरित देवशुनी सरमा ने असुर पणियों से संवाद किया ऐसा आख्यान है[८७]। सायण ने इस सूक्त पर यह इतिहास लिखा है—"इन्द्र

---

८४. महा भा., हरिवंश, अ० २५, २६

८५. बृ. दे. ७. १४७-१५३

८६. द्रष्टव्यः वायु पु०, ६१, मत्स्य पु० २४, विष्णु पु० ४. ६, देवी भा. १. १३।

८७. देवशुनी इन्द्रेण प्रहिता पणिभिरसुरैः समूदे इत्याख्यानम्। निरु. ११.२२

के पुरोहित बृहस्पति की गौओं को वल नामक असुर के योद्धा पणि असुरों ने चुरा कर गुफा में छिपा लिया। तब बृहस्पति द्वारा प्रेरित इन्द्र ने गौओं की खोज के लिए देवशुनी सरमा को भेजा। वह विशाल नदी को पार कर वल के नगर में पहुँची तथा उसने गुप्त स्थान में निहित उन गौओं को देखा। इसी बीच में पणियों ने यह वृत्तान्त जान इससे मैत्री करने के लिए संवाद किया।" ऋग् १. ६२. ३ के भाष्य में भी सायण ने एतद्विषयक इतिहास दिया है, पर उसमें कुछ अन्तर है। वहां लिखा है कि जब इन्द्र सरमा को गौओं की खोज के लिए भेजने लगे तो उसने यह शर्त रखी कि यदि मेरी सन्तान को उन गौओं का क्षीरादि भोज्य दोगे तभी मैं जाऊंगी[८८]। इन्द्र ने इस शर्त को स्वीकार कर लिया। तब सरमा ने जाकर गौएं किस स्थान पर हैं यह जान लिया तथा लौट कर इन्द्र से निवेदन कर दिया। इन्द्र ने उस असुर का संहार कर गौएं प्राप्त कर लीं।

शौनक द्वारा प्रस्तुत इतिहास इससे भी भिन्न है। वह लिखता है—"पणि नामक असुर थे। वे इन्द्र की गौएं चुरा ले गये तथा प्रयत्नपूर्वक उन्हें छिपा दिया। बृहस्पति ने देख लिया तथा इन्द्र को सूचित कर दिया। तब इन्द्र ने सरमा को उनके पास दूती के रूप में भेजा। पणियों ने उसे देख कर पूछा—हे कल्याणी, तुम कहां से आ रही हो, तुम किसकी हो, तुम्हारा यहां क्या कार्य है? तब सरमा ने उनसे कहा कि मैं इन्द्र की दूती के रूप में विचरण कर रही हूं, तुम्हें तथा तुम्हारे गोष्ठ को और इन्द्र की गौओं को खोज रही हूं, क्योंकि इन्द्र उनके सम्बन्ध में पूछ रहे हैं। उसे इन्द्र की दूती जान पापी असुर कहने लगे—हे सरमा, तुम जाओ मत, यहीं हमारी बहिन बन कर रहो। हम तुम्हें भी गौओं का भाग देंगे, हमारा अहित मत करो। तब सरमा ने कहा—मैं न तुम्हारी बहिन बनना चाहती हूं, न धन चाहती हूं, किन्तु उन गौओं का दूध पीना चाहती हूं, जिन्हें तुमने छिपाया हुआ है। इस पर असुरों ने दूध लाकर दे दिया। उसने भी स्वभाव से विवश होकर तथा लालच के कारण असुरों का दिया दूध पी लिया, जो अतिशय संभजनीय, हृद्य तथा बल एवं पुष्टि को देने वाला था। फिर वह शतयोजन विस्तार वाली रसा को तैर गयी, जिसके दूसरे पार उनका सुदुर्जय पुर था। इन्द्र ने सरमा से पूछा तुमने गौओं को देखा या नहीं? उसने असुरों के दूध के प्रभाव से इन्द्र को नकारात्मक उत्तर

---

८८. सायण ने इसके प्रमाण रूप में निम्न वचन उद्धृत किया है—'तथा च शाट्शायनकम्। अन्नादिनीं ते सरमे प्रजां करोमि या नो गा अन्वविन्द इति।"

दे दिया। तब इन्द्र ने क्रुद्ध हो उसे लात मारी, जिससे उसके पेट से दूध निकल पड़ा और वह भयोद्विग्न हो पुनः पणियों के पास दौड़ी चली गयी। इन्द्र भी रथारूढ़ हो उसके पदचिन्हों का अनुसरण करता हुआ जा पहुँचा और पणियों का वध कर गौओं को वापिस ले आया"।[८६]

वेद से कथानक लेकर ब्राह्मण ग्रन्थ, पुराण आदि के लेखक उसमें अपनी कल्पना का मिश्रण कर उसे रोचक रूप देने का प्रयत्न करते हैं। ऐसा ही उपर्युक्त कथाओं में भी हुआ है। वस्तुतः सूक्त में ऐसा कोई संकेत नहीं है, जिससे सरमा पर लालच करने, अपनी सन्तान सारमेयों को दूध देने की शर्त रखने या स्वयं दूध के लोभ में विश्वासघात करने का आरोप लगाया जा सके[९०]। सूक्त में सरमा का जो चरित्र चित्रित हुआ है वह सर्वथा निष्कलंक, निश्छल तथा दूतकर्म का उज्ज्वल आदर्श है। उसे भय भी दिखाया जाता है, प्रलोभन भी दिया जाता है, पर वह कर्तव्य से विचलित नहीं होती। अस्तु, अब हम संवाद को देखते हैं।

पणि

किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानड् दूरे ह्यध्वा जगुरि पराचैः।
कास्मे हितिः का परितक्म्यासीत् कथं रसाया अतरः पयांसि ॥१॥

"क्या चाहती हुई सरमा इस स्थान पर आयी है? यहां आने का मार्ग बहुत लम्बा है। बहुत चलने के पश्चात् ही कोई पहुँच सकता है। हे सरमा, हम में तेरा क्या प्रयोजन निहित है? तेरी चाल[९१] क्या थी? तूने नदी के जलों को कैसे पार किया?"

---

८६. बृ० दे० ८. २४–३६

९०. ऋग् १. ६२. ३ में ये शब्द आये हैं "इन्द्रस्याङ्गिरसां चेष्टौ विदत् सरमा तनयाय धासिम्" अर्थात् इन्द्र और अंगिरसों की इष्टि में सरमा ने सन्तान के लिए अन्न प्राप्त किया। सायण ने इष्टि का अर्थ प्रेषण किया है। परन्तु इस मन्त्रांश से यह सिद्ध नहीं होता कि सरमा ने सन्तान को अन्न देने की शर्त रखी थी। इन्द्र ने उसके आदर्श दूतकर्म से प्रसन्न हो पुरस्कारस्वरूप उसकी सन्तान के लिए अन्न या दूध दिया, यही अर्थ ग्रहण करना उचित है। सायण ने प्रमाण में जो शाट्यायन का वचन उद्धृत किया है उससे भी यही पुष्ट होता है (द्रष्टव्यः टिप्पणी[८८])।

९१. परितक्म्या—चाल या रात्रि, निरु. ११. २५। तेरी चाल क्या थी, या मार्ग में रात्रि कैसी बीती।

सरमा

इन्द्रस्य दूतीरिषिता चरामि मह इच्छन्ती पणयो निधीन् वः ।
अतिष्कदो भियसा तन्न आवत् तथा रसाया अतरं पयांसि ।।२।।

"हे पणियो, मैं इन्द्र की दूती हूँ, उससे भेजी हुई विचर रही हूँ । तुम जो इन्द्र की महान् निधियां लूट कर लाये हो, उन्हें चाहती हूं । आक्रमण के भय से जल भी मेरी रक्षा में तत्पर हो गया । इस प्रकार नदी के जलों को मैंने पार कर लिया ।"

पणि

कीदृङ्ङिन्द्रः सरमे का दृशीका यस्येदं दूतीरसरः पराकात् ।
आ च गच्छान्मित्रमेना दधाम अथा गवां गोपतिर्नो भवाति ।।३।।

"हे सरमा, इन्द्र कैसा है, क्या उसके लक्षण हैं, जिसकी दूती बन कर तू दूर से यहां आयी है ? क्या ही अच्छा हो यदि यह सरमा हममें ही आ मिले, इसे हम अपना मित्र बना लें और यह भी हमारी गौओं की स्वामिनी बन जाए ।"

सरमा

नाहं तं वेद दभ्यं दभत् स यस्येदं दूतीरसरं पराकात् ।
न तं गूहन्ति स्रवतो गभीरा हता इन्द्रेण पणयः शयध्वे ।।४।।

"जिस इन्द्र की दूती बन मैं दूर से आयी हूं, मैं उसे पराजेय नहीं समझती, उल्टा वही अन्यों को पराजित करने वाला है । गम्भीर से गम्भीर नदियां भी उसे रोक नहीं सकतीं । हे पणियो, इन्द्र से मारे जाकर तुम भूमि पर सो जाओगे ।"

पणि

इमा गावः सरमे या ऐच्छः परि दिवो अन्तान् सुभगे पतन्ती ।
कस्त एना अवसृजादयुध्वी उतास्माकमायुधा सन्ति तिग्मा ।।५।।

"देख, हे सरमा, ये गौएं हैं, जिनकी खोज में तू आकाश के एक छोर से दूसरे छोर तक मारी-मारी फिरी है । भला कौन इन्हें बिना युद्ध किए यों आसानी से तेरे लिए छोड़ देगा ? और हमारे आयुध भी बड़े तीक्ष्ण हैं ।"

सरमा

असेन्या वः पणयो वचांसि—अनिषव्यास्तन्वः सन्तु पापीः ।
अधृष्टो व एतवा अस्तु पन्था बृहस्पतिर्वं उभया न मृडात् ।।६।।

"हे पणियो, तुम्हारे ये वचन हमारी सेनाओं के सामने व्यर्थ सिद्ध होंगे । भले ही तुम्हारे पापी शरीरों पर वाणों का प्रभाव न होता हो, और भले

ही तुम तक पहुंचने का रास्ता परिचित न हो, दोनों ही दशाओं में बृहस्पति तुम्हें चैन नहीं लेने देगा।''

पणि

अयं निधिः सरमे अद्रिबुध्नो गोभिरश्वेभिर्वसुभिर्न्यृष्टः।
रक्षन्ति तं पणयो ये सुगोपा रेकु पदमलकमा जगन्थ ॥७॥

"हे सरमा, गौओं, घोड़ों तथा अन्य ऐश्वर्यों से भरा हुआ यह खजाना हमने पहाड़ के अन्दर दृढ़ता से बन्द किया हुआ है। पणि उसकी रक्षा कर रहे हैं, जो बड़े कुशल रक्षक हैं। अतः व्यर्थ ही तू इस शंकाकुल स्थान पर आयी है।"

सरमा

एह गमन्नृषयः सोमशिता अयास्यो अङ्गिरसो नवग्वाः।
त एतमूर्वं विभजन्त गोनामथैतद् वचः पणयो वमन्नित् ॥८॥

"हे पणियो, सोमपान में तीक्ष्णीकृत अयास्य तथा नवग्व अंगिरस ऋषि यहां आयेंगे। वे गौओं के इस बाड़े को खोल डालेंगे। अतः अच्छा यही है कि तुम इन शेखी भरे वचनों का परित्याग कर दो।"

पणि

एवा च त्वं सरम आजगन्थ प्रबाधिता सहसा दैव्येन।
स्वसारं त्वा कृणवै मा पुनर्गा अप ते गवां सुभगे भजाम ॥९॥

"हे सरमा, प्रतीत होता है कि देवों के बल से बाधित होकर तुझे यहां आना पड़ा है। आ, हम तुझे अपनी बहिन बना लेते हैं, तू लौटकर न जा, कुछ गौएं हम तुझे भी दे देंगे।''

सरमा

नाहं वेद भ्रातृत्वं नो स्वसृत्वमिन्द्रो विदुरङ्गिरसश्च घोराः।
गोकामा मे अच्छदयन् यदायमपात इत पणयो वरीयः ॥१०॥
दूरमित पणयो वरीय उद् गावो यन्तु मिनतीर्ऋतेन।
बृहस्पतिर्या अविन्दन्निगूढाः सोमो ग्रावाण ऋषयश्च विप्राः ॥११॥

"न मैं भाईपना जानती हूं, न बहिनपना। यह सब इन्द्र जाने और घोर अंगिरस जानें। मुझे तो उन्होंने गौओं की कामना से भेजा है, इसी लिए मैं आयी हूं। अतः हे पणियो, तुम्हारा भला इसी में है कि (गौओं को छोड़कर) यहां से दूर कहीं भाग जाओ। हां, हे पणियो, तुम दूर चले जाओ। गौएं सत्य का शब्द करती हुई बाहर निकल पड़ें। इन्हें बृहस्पति ने, सोम ने, ग्रावाओं ने तथा विप्र ऋषियों ने समझो पा ही लिया है।''

यहां संवाद समाप्त होता है। आगे का इतिवृत्त यद्यपि इस सूक्त में नहीं कहा गया है, तो भी ऋग्वेद के अन्य सूक्त से हमें ज्ञात होता है। सरमा पणियों से हुआ अपना समग्र वार्तालाप इन्द्र को सुना देती है। इन्द्र बृहस्पति, अंगिरस आदि को साथ लेकर जाता है तथा गौओं की गुफा को विदीर्ण कर, पणियों को परास्त कर गौएं वापिस ले आता है—"तुम उस बली महान् इन्द्र के लिए आघोषणीय सामगान करो, जिसकी सहायता से हमारे पूर्व पितर अंगिरसों ने गौओं को प्राप्त कर लिया। बृहस्पति ने पर्वत की गुफा को तोड़-फोड़ डाला, गौओं को पा लिया, गौओं के साथ-साथ सब नरों ने हर्षध्वनि की। हे इन्द्र, विजयप्रयाण के लिए इच्छुक नवग्व तथा दशग्व सप्त विप्रों (अंगिरसों) को साथ लेकर तूने गौओं को घेरने वाले पर्वत को तथा पणियों के सरदार बल को शब्दपूर्वक विदीर्ण कर दिया।"[६२]

विवेचन

इस सूक्त पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण प्रारम्भ में दिखाया जा चुका है। अब अन्य पक्षों में क्या-क्या व्याख्याएं हो सकती हैं यह देखेंगे। राजनीतिक दृष्टि से इस कथानक में इन्द्र राजा है, गौएं राष्ट्र की धेनु आदि सम्पत्ति या ऐश्वर्य की प्रतीक हैं। पणि कृपण शत्रुजन हैं, जो उन गौओं को लूट ले जाते हैं तथा उनका उपयोग किसी दूसरे के लिए नहीं होने देते। इसी लिए वेद में पणियों के हृदय को मृदु करने तथा उन्हें दानशील बनाने की प्रार्थना मिलती है।[६३] ऐसी अवस्था में राजा का परम कर्तव्य है कि वह उन चुरायी हुई गौओं का पता लगाये तथा उन्हें प्रजा के हितार्थ पुनः प्राप्त करे। वह सरमा को दूती बना कर भेजता है। निरुक्त में इस संवाद के प्रथम मन्त्र की टीका में दुर्गाचार्य ने सरमा का अर्थ वाणी किया है। सरमा और सरस्वती समानार्थक हैं, दोनों ही गत्यर्थक सृ धातु से बने हैं। तो राजा पणियों के पास किसी सन्देशहर द्वारा अपनी वाणी को पहुंचाता है। वह सन्देशहर इतना वाक्कुशल है कि लक्षणा का आश्रय ले उसे साक्षात् वाणी (सरमा) कह दिया गया है। सरमा को सन्देशहर्त्री समझें तो राजदूत का कार्य नारी भी कर सकती है, यह भी इसमें सूचित होता है। पणि दूती सरमा को भय दिखा कर, प्रलोभन दे कर, सभी उपायों से वश में करना चाहते हैं, पर वह उनकी बातों में नहीं आती। इससे राजाओं के दूत-दूतियां किन गुणों वाले हों, इस पर भी इस सूक्त से प्रकाश

---

६२. ऋग् १.६२.२–४

६३. अदित्सन्तं चिदाघृणे पूषन् दानाय चोदय। पणेश्चिद् वि म्रदा मनः॥ ऋग् ६.५३.३

पड़ता है। यहां सरमा को अति दीर्घ पथ पार करना पड़ा है, विशाल नदी को तैरना पड़ा है, पर वह इन संकटों से विचलित नहीं होती। स्वयं कर्तव्य पर दृढ़ रहती है तथा पणियों को भी उनका कर्तव्य सुझाती है। पणियों से गौएं छीन लाने में बृहस्पति, अंगिरस, अयास्य तथा अन्य विप्र ऋषि राजा के सहायक होते हैं। बृहस्पति राजा का पुरोहित है, पुरोहित इस अर्थ में कि वह सेनापति बन कर आगे-आगे चलता है। "हे बृहस्पति, तू रथ पर बैठ कर चारों ओर जा, राक्षसों का वध कर, शत्रुओं को दूर धकेल दे, सेनाओं का भंजन करता हुआ, रिपुओं को युद्ध से जीतता हुआ हमारे रथों की रक्षा कर,"[९४] यह बृहस्पति का चरित्र है। अंगिरस तेजस्वी वीर योद्धा हैं, जो अंगारों के समान दहकने वाले हैं, मानों अग्नि के पुत्र हों।[९५] ये ही नवग्व तथा दशग्व भी कहलाते हैं, क्योंकि वर्ष में नौ-नौ या दस-दस महीने युद्ध करते हैं।[९६] अयास्य इनका अग्रणी है, जो किसी से हराया नहीं जा सकता।[९७] राजा के सहायको में विप्र ऋषि अर्थात् ज्ञानी ब्राह्मण भी हैं। एवं क्षात्रबल और ब्राह्म-बल दोनों का समन्वय विद्यमान होने से विजय निश्चित है।[९८]

गो शब्द भूमि का वाची भी है[९९]। यह भी हो सकता है कि किसी तरह राष्ट्र ने अवैधरूप से हमारे देश की गौएं अर्थात् भूमियां हस्तगत कर ली हैं और उसके आगे रोक लगा दी है, तथा सीमा पर अपनी रक्षक सेना नियुक्त कर दी है, जिससे उसे पुनः पाना कठिन हो गया है। शत्रुओं ने वह भूमि हर कर ऐसी अधिकार में कर रखी है मानो अद्रि की गुहा में छिपा दी हो। तब भी हमारे इन्द्र का कर्तव्य है कि वह सरमा अर्थात् अपनी वाणी को शत्रुओं के

---

९४. ऋग् १०.१०३.४

९५. अंगारेष्वंगिराः, निरु. ३.१७। ते अग्नेः परिजज्ञिरे, ऋग् १०.६२.५।

९६. यतः वर्षा के तीन या दो महीने युद्ध के लिए वर्जित हैं। सायण के अनुसार जो नौ महीने यज्ञ करते हैं वे नवग्व तथा जो दस महीने यज्ञ करते हैं वे दशग्व हैं। युद्ध को भी एक यज्ञ मानें तो यहां सायण की व्याख्या पूर्णतः संगत हो जाती है।

९७. "यासः प्रयत्नः तत्साध्यो यास्यः, न यास्योऽयास्यः, युद्धरूपैः प्रयत्नैः साधयितुमशक्य इत्यर्थः"—ऋग् १.६२.७ पर सायणभाष्य।

९८. यत्र ब्रह्म च च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह। तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना॥ यजु २०.२५

९९. नि० १.१।

पास पहुँचाये कि तुम हमारी भूमि हमें लौटा दो, नहीं तो युद्ध होगा और हमारे वीर सैनिकों के आगे तुम पराजय स्वीकार करने के लिए बाध्य होगे। फिर भी यदि शत्रु न मानें तब अपने बृहस्पति, अयास्य और अंगिरसों को लेकर उनसे युद्ध करे तथा अपनी भूमि को पुनः प्राप्त करे।

अधिदैवत पक्ष में इन्द्र सूर्य[100], एवं गौएं उसकी किरणें[101] हो सकती हैं। उन गौओं को वह पृथ्वी के चरागाह में चरने के लिए भेजता है। परन्तु मार्ग में मेघखण्डरूपी पणि उन्हें रोक लेते हैं तथा अपनी गुहा में छिपा लेते हैं। इन्द्र की दूती सरमा विद्युत् है, जो मेघों के मध्य में मानो अग्निज्वाला हाथ में लिए हुए उन गौओं को ढूँढ़ती है। विद्युत् सूर्य से ही आती है, क्योंकि सूर्य के विना सौर जगत् में कहीं भी तेज की उत्पत्ति नहीं हो सकती। सूर्य से अन्तरिक्ष तक का अवकाश ही नदी है, जिसे वह पार करती है। विद्युत् और मेघों के बीच संवाद होता है, जिसे हम आज भी सुनते हैं। सूर्य के सेनानी बृहस्पति तथा अयास्य उष्ण व शीत वायुएं हैं, जिनके वज्राघातों से मेघ की पर्वत-गुहा टूट-फूट जाती है। अंगिरस बाद में छोड़ी हुई सूर्य की किरणें हैं, जो अपनी सखा किरणों को वलासुर के कारागार से मुक्त करने में सहायता करती हैं। सप्त विप्र ऋषि सूर्य की वे सतरंगी रश्मियां हैं, जो आकाश में इन्द्रधनुष तान कर खड़ी हो जाती हैं। इस प्रकार मेघ की गिरि-गुहा टूट जाती है, अर्थात् मेघ बरस जाता है और इन्द्र की गौएं पूर्ववत् निर्भय होकर द्यावाभूमी पर विचरने लगती हैं।

अथवा पणि रात्रि का अन्धकार हो सकते हैं। दिन में प्रातः से सायं तक सूर्य की गौएं निर्बाध विचरती हैं। परन्तु अचानक रात्रिचर तमोरूप पणि उन्हें पकड़ ले जाते हैं तथा अपने कारागार में या पर्वत की गुफा में बन्द कर देते हैं। तब सूर्य अपनी दूती सन्ध्या रूपी सरमा को भेजता है, जो अस्ताचल की गुफाओं में छिपायी हुई उन गौओं को देख लेती है। फिर सूर्य तथा उसके महारथी रात्रि के अन्धकार का, पणियों की गिरिगुहा का, भेदन कर देते हैं। तब सन्ध्या रूपिणी सरमा उषा का परिधान पहन सूर्य की गौओं को अपने साथ लिए हुए आविर्भूत होती है, जिसके पीछे-पीछे विजयोल्लास से रक्ताभ सूर्यदेव रथारूढ़ हुए प्राची के क्षितिज में प्रकट होते हैं[102]।

१००. स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम्, अथर्व १३.३.१३। अथ यः स इन्द्रोऽसौ स आदित्यः, शत. ८.५.३.२

१०१. सर्वेऽपि रश्मयो गाव उच्यन्ते। निरु. २.७

१०२. तुलनीय : "Sarama..is said to have pursued and recovered the Cows stolen by the Panis: which has been

अथवा सूर्य की गौओं या किरणों के चुराये जाने का अभिप्राय है उसका निस्तेज हो जाना। शीत ऋतु में सूर्य की किरणें मन्द तेज वाली हो जाती हैं, शीतोत्पत्ति के भौगोलिक कारण ही पणि हैं, जो उनका तेज हर लेते हैं। आकाश में मृगशीर्षनक्षत्र के समीप श्वान नक्षत्रपुञ्ज है, यह कुतिया ही देवशुनी सरमा है। आजकल दिसम्बर से लेकर अप्रैल तक यह रात्रि के आकाश में दिखाई देती है। यही इन्द्र की दूती है। इसे बड़ा लम्बा आकाशमार्ग तय करना पड़ता है। चलते-चलते यह आकाशगंगा के पास पहुँचती है। यही रसा या नदी है, जिसके जलों को यह पार करती है। यह साधारण नदी नहीं, किन्तु ज्योतिर्विदों के अनुसार पद्मों कोस विस्तार वाली है। तभी तो पणि आश्चर्य प्रकट करते हैं कि सरमा ने इसे कैसे पार कर लिया। देवशुनी सरमा इस नदी को वसन्त में पार करती है। उसके अनन्तर सूर्य शीतोत्पत्ति के भौगोलिक कारणों को पराजित कर देता है तथा सूर्य की गौओं में पुनः तेज आ जाता है।

अपनी निरुक्तटीका में दुर्गाचार्य तथा स्कन्द स्वामी इस सूक्त के प्रथम मन्त्र की व्याख्या में लिखते हैं कि "नैरुक्त पक्ष मे सरमा माध्यमिका वाक् है। चिरकालीन अनावृष्टि के पश्चात् कभी अचानक विद्युद्वाणी का गर्जन सुन मनुष्य कहता है कि हे सरमा, तुम यहां कैसे आ पहुँचीं" आदि। इस पक्ष में रसा अन्तरिक्ष-नदी है[१०३]।

अध्यात्मपक्ष में आत्मा इन्द्र है, गौएं आत्मिक प्रकाश की किरणें हैं। आत्मा इन किरणों से शरीर की सब क्रियाओं को प्रकाशित करना चाहता है। पर असद्विचार रूप पणि इन अन्तःप्रकाश की किरणों

---

supposed to mean that Sarama is the Down who recovers the rays of the Sun that have been carried away by night." ऋग् १-६२-३ पर ग्रिफिथ की टिप्पणी। "Sarama,crossing the waters to find out the Cows stolen by Panis, is similarly the Dawn bringing with her the rays of the morning. (B. G. Tilak : The Arctic Home in the Vedas, 1956, Poona P. 223).

१०३. वाक्पक्षे तु चिरकालीनवृष्टिव्युपरमे कदाचिदभिनवमेघसंप्लवे सहसैव स्तनयित्नु मुपश्रुत्य कुत इयं माध्यमिका वाक् चिरेणागतेति विस्मितस्तामसूयन्निव ब्रवीति किमिच्छन्ती सरमा इति (दुर्ग निरु. ११.२५ का भाष्य)। अनावृष्ट्या पीडितो नदन्तं स्तनयित्नुमुपश्रुत्य सासूयं मन्त्रदृगाह (स्कन्द, वहीं)।

को पकड़ कर गुफा में बन्द कर लेते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि शरीर इनके आलोक से वंचित हो जाता है। तब आत्मा अपनी आन्तरिक दिव्य वाणी रूप सरमा को दूती बना कर उनके पास भेजता है। इन असद् विचारों के लोक तथा आत्मलोक में बहुत बड़ा अन्तर है, वही बीच की विस्तीर्ण नदी है, जिसे पार कर वह असद् विचारों के पास पहुँचती है। वह दिव्यवाणी गर्ज कर कहती है कि तुम इन अन्तःप्रकाश की गौओं को छोड़ दो। चिरकाल तक दोनों में कहासुनी होती रहती है। असद्-विचार चाहते हैं कि यह दिव्यवाणी हमारे पक्ष की हो जाये। अनेक बार ऐसा होता भी है। पर उचित यही है कि मनुष्य अन्तर्वाणी रूप सरमा को पणियों के वश न होने दे, तभी आत्मा की चुराई हुई गौएं पुनः प्राप्त हो सकती हैं। इन गौओं को पुनः प्राप्त कर लेने में आत्मा के जो सहायक हैं उनमें एक वृहस्पति है, यह बुद्धि है। दूसरे अंगिरस हैं, ये मन की तेजोमयी वृत्तियां हैं, जिनसे मनुष्य के अन्दर साहस, महत्त्वाकांक्षा, आदर्शवादिता आदि गुण आते हैं। अयास्य प्राण हैं[१०४]। अन्य विप्र ऋषि शरीरस्थ ज्ञानेन्द्रियां हैं[१०५]। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य, प्रत्येक आत्मा, अपनी अन्तर्वाणी को दूती बनाकर तथा बुद्धि, मन, प्राण, ज्ञानेन्द्रिय आदि को सहायक बना कर अपनी चोरित अन्तः-प्रकाश की गौओं को पुनः प्राप्त कर सकता है।

इस प्रसंग में इस कथानक की श्री अरविन्दकृत अध्यात्मपरक व्याख्या भी उल्लेखनीय है। उन्होंने यद्यपि विशेष रूप से इस सूक्त की व्याख्या नहीं लिखी है, तो भी इससे सम्बन्द्ध कई अन्य सूक्तों को लिया है तथा इस कथानक के प्रत्येक पार्श्व एवं प्रत्येक पात्र पर विशद विचार किया है। उनका कथन है कि बाह्य प्रतीकों द्वारा रहस्यमय आन्तरिक अर्थ को सूचित करना ही वेद का लक्ष्य है। उनकी व्याख्यानुसार इन्द्र प्रकाशमय या दिव्य मन है, जो अतिमानस लोक स्वः का अधिपति है, गौएं दिव्य उषा या दिव्य सूर्य की किरणें या ज्योतियां हैं। पणि इन किरणों के या आध्यात्मिक प्रकाश के शत्रु हैं, ये वे शक्तियां हैं जो जीवन की उन सामान्य अप्रकाशमान इन्द्रियक्रियाओं की अधिष्ठात्री हैं जिनका मूल अन्धकारमय अवचेतन भौतिक सत्ता में होता है, न कि दिव्य मन में। ये पणि मनुष्य के स्वः अर्थात् अतिमानस उच्च लोक के प्रति आरोहण करने के मार्ग में आकर खड़े हो जाते हैं तथा आध्यात्मिक

---

१०४. एतमु (प्राणम्) एव अयास्यं मन्यन्ते, आस्याद यदयते। छा. उ. १. २. १२

१०५. सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे, । यजु ३४. ५५

प्रकाश की प्राप्ति का विरोध करते हैं। सरमा अन्तर्ज्ञान (Intuition) है, यह वह शक्ति है जो पराचेतन सत्य (Superconscient Truth) से अवतीर्ण होकर आयी है तथा उस प्रकाश तक ले जाती है जो हमारे अन्दर अवचेतन (Subconscient) में छिपा पड़ा है। अन्तर्ज्ञान की शक्ति दिव्य मन के सामने इसकी अग्रदूती के रूप में आविर्भूत होती है। इसी के द्वारा वह प्रकाश को मुक्त कराता तथा उस प्रचुर सम्पत्ति को अधिगत कराता है जो पणियों के दुर्गद्वारों के पीछे चट्टान के अन्दर छिपी पड़ी है। अंगिरस ऋषि दिव्य अग्नि की प्रसरण-शील ज्योतियां हैं। ये दिव्य ज्वाला की जाज्वल्यमान अर्चियों से पूर्णतम होते हैं, और इस लिए कारागार में बन्द प्रकाश को मुक्त करने में तथा अति-मानस (विज्ञानमय) ज्ञान को उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। बृहस्पति सर्जन-कारी अन्तर्वाणी का अधिपति है। अयास्य वह है जो सत्य में से उत्पन्न होने वाले सात सिरों के महान् विचार (सप्तशीर्ष्णी धी) को पाता है तथा इन्द्र के लिए स्तुतिमन्त्रों का गान करता है। ये बृहस्पति तथा अयास्य अंगिरसों में से ही एक हैं। दिव्य मन (इन्द्र) इन सबकी सहायता से अवचेतन मन में छिपी प्रकाश की गौओं को प्राप्त करने में समर्थ तथा अतिमानस लोक स्वः के अपने ऊर्ध्वारोहण में सफल होता है[१०६]।

उपर्युक्त कुछ वैदिक संवादों की परीक्षा कर यह दर्शाने का यत्न किया गया है कि वेद संवाद-शैली द्वारा किस प्रकार विविध रहस्यों का प्रतिपादन करते हैं। यह कहना कठिन है कि विविध संवादों की यहां जो व्याख्याएं की गयी हैं वे ही अन्तिम हैं, तो भी इससे विचार की दिशा अवश्य हमारे सामने आ गयी है। अवशिष्ट संवादों पर भी इसी पद्धति से विचार कर उनके अन्तर्गर्भित आशय तक पहुंचा जा सकता है।

---

१०६. विस्तृत व्याख्या के लिए द्रष्टव्य—श्री अरविन्द: 'आन दि वेद' भाग १ अध्याय १५-२४।

पञ्चम अध्याय

प्रश्नोत्तरात्मक शैली

शिक्षा में प्रश्नोत्तर-शैली विशेष महत्त्व रखती है। ब्राह्मण-ग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद्, महाभारत आदि उत्तरकालीन साहित्य में यह शैली पर्याप्त पल्लवित हुई है। प्राचीन काल में शिष्य गुरु से जो प्रश्न करते थे तथा गुरु उनका जो उत्तर देते थे उन्हीं से कई शास्त्र या शास्त्रों के विशेष प्रकरण बन गये हैं। कभी-कभी ये प्रश्नोत्तर शिष्य-गुरुओं में जिज्ञासा-शान्ति के निमित्त किये गये प्रश्नोत्तरों से विपरीत विद्वानों में एक-दूसरे को विजित करने की इच्छा से या परस्पर परीक्षा लेने के लिए होते थे। शतपथ ब्राह्मण का वह प्रकरण प्रसिद्ध है, जिसमें कई विद्वान् तथा विदुषियों ने याज्ञवल्क्य ऋषि को पराजित करने की भावना से प्रश्न किये हैं, तथा याज्ञवल्क्य सबका यथोचित उत्तर देते गये हैं। यह प्रकरण ब्राह्मण-साहित्य का तथा बृहदारण्यकोपनिषद् के रूप में उपनिषत्साहित्य का भी एक अमूल्य रत्न समझा जाता है[1]। उपनिषदों में एक उपनिषद् का नाम ही प्रश्नोपनिषद् है, जिसमें छः शिष्यों ने आचार्य पिप्पलाद से प्रश्न किये है तथा उनसे उनके समुचित उत्तर प्राप्त किये हैं। केनोपनिषद् भी एक प्रश्न से ही प्रारम्भ होती है। इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद् में शौनक विनीत भाव से महर्षि अंगिरा के उपसन्न हो प्रश्न करता है कि ऐसी कौनसी वस्तु है, जिस एक के जान लेने से सब कुछ विज्ञात हो जाता है। अंगिरा शौनक के इस प्रश्न का उत्तर देते हैं। अन्य उपनिषदों में भी प्रश्नोत्तर पाये जाते हैं। महाभारत का रोचक ज्ञान प्रश्नोत्तरों में ही है। पतंजलि के महाभाष्य में भी यही शैली अपनायी गई है।

प्रश्नोत्तर-शैली के प्रथम दर्शन हम वेदों में पाते हैं। चारों ही वेदों में न्यूनाधिक प्रश्नोत्तर मिलते हैं, यद्यपि सामवेद में कठिनाई से एक-दो प्रसंग ही ऐसे हैं। यद्यपि वेदों के विपुल परिमाण को देखते हुए इन प्रश्नोत्तरों की संख्या स्वल्प ही है, तो भी इनमें इस कला का चरमोत्कर्ष प्राप्त होता है। वैदिक साहित्य में प्रश्नोत्तरों को ब्रह्मोद्य भी कहते हैं। शुक्ल यजुर्वेद का ब्रह्मोद्य प्रकरण वैदिक साहित्य में प्रख्यात है। अब हम क्रमशः वेदों के प्रश्नोत्तरों पर दृष्टिपात करते हैं।

---

१. शत १४. ६. १–९, बृ० उ० ३. १–९

ऋग्वेद के प्रश्नोत्तर

ऋग्वेद में जो प्रमुख प्रश्नोत्तर उपलब्ध होते हैं, वे नीचे दिये जा रहे हैं।

सोम के मद का क्या प्रभाव है ?

किमस्य मदे किम्वस्य पीताविन्द्रः किमस्य सख्ये चकार।
रणा वा ये निषदि किं ते अस्य पुरा विविद्रे किमु नूतनासः ।।
सदस्य मदे सद्वस्य पीताविन्द्रः सदस्य सख्ये चकार।
रणा वा ये निषदि सत्ते अस्य पुरा विविद्रे सदु नूतनासः ।।

ऋग् ६.२७.१,२

प्रश्न—सोम के मद में इन्द्र ने क्या किया? सोम का पान कर क्या किया? सोम से सख्य स्थापित कर क्या किया? इसकी संगति में जो पुराने स्तोता थे उन्होंने प्राचीन काल में क्या प्राप्त किया था? नूतन स्तोता क्या प्राप्त करते हैं?

उत्तर—सोम के मद में इन्द्र ने सत् किया, सोम का पान कर सत् किया, सोम से सख्य स्थापित कर सत् किया। इसकी संगति में जो पुराने स्तोता थे उन्होंने प्राचीन काल में सत् प्राप्त किया था, नूतन स्तोता भी सत् प्राप्त करते हैं।

वैदिक सोमरस-पान के प्रभाव की झांकी इस प्रकरण से मिलती है। भौतिक रूप में यह सोम सोमलता का रस है जो बुद्धि को बढ़ाता तथा आचरण को निर्मल करता हैं, और आन्तरिक रूप में दिव्य ब्रह्मानन्द-रस (Devine Beatitude)[२]। इन्द्र मनुष्य का आत्मा है। सोम-पान से मनुष्य का जीवन सत्-मय हो जाता हैं; उसकी प्रत्येक इच्छा, उसका प्रत्येक कार्य, उसका प्रत्येक वचन सत् होता है। न केवल वह स्वयं सत् हो जाता है, किन्तु उसकी संगति में रहने वाले अन्य भी उससे प्रभावित होकर सत् जीवन से युक्त हो जाते हैं।

ऋग् १०.८८ में एक प्रश्न है, जिसका उत्तर यद्यपि वहां नहीं दिया गया है, तो भी ८.५८ में अन्यत्र मिल जाता है।

अग्नि, सूर्य, उषाएं, नदियां कितनी है ?

कत्यग्नयः कति सूर्यासः कत्युषासः कत्यु स्विदापः।
तोपस्विजं वः पितरो वदामि पृच्छामि वः कवयो विद्मने कम् ।।

ऋग् १०. ८८. १८

२. Soma is rhe Lord of the wine of delight, the wine of immortality. Shri Aurobindo: On the Veda. 1956. P.405.

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनुप्रभूतः ।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति एकं वा इदं विबभूव सर्वम् ॥

ऋग् ८.५८,२

प्रश्न–कितनी अग्नियां हैं ? कितने सूर्य हैं, कितनी उषाएं हैं, कितनी नदियां हैं ? हे पितृजनो, हे कवियो, मैं आपसे स्पर्धावश नहीं कह रहा हूं, किन्तु ज्ञानवृद्धि के लिए पूछता हूं ।

उत्तर–एक ही अग्नि बहुत रूपों में प्रदीप्त है । एक ही सूर्य विश्व में अनुस्यूत है । एक ही उषा इस सबको भासित करती है। एक ही ब्रह्म इस सब जगत् में व्याप्त है ।

देखने में हमें अनेक अग्नियां प्रतीत होती हैं, कोई यज्ञाग्नि है, कोई वाडवाग्नि है, कोई जाठराग्नि है, कोई वैद्युताग्नि है । किन्तु अग्निरूप से वे सब एक ही हैं । सूर्य भी अनेक प्रतीत होते हैं । द्वादश आदित्य तो वैदिक साहित्य में वर्णित हैं ही । उसके अतिरिक्त प्रतिदिन ही नवीन सूर्य ने जन्म लिया है, ऐसा लगता है । पर वस्तुतः सूर्यात्मना सब एक ही हैं । एक ही सूर्य बारह राशियों के भेद से बारह प्रकार का हो जाता है । नववधू के समान नित्य प्रकाश की साड़ी पहन कर जो उषा आती है, वह भी एक ही है, हमें प्रतीति भले ही यह होती हो कि प्रतिदिन की उषा भिन्न है । नदियां (आपः) कितनी हैं, इसका उत्तर उक्त ऋचा में नहीं आया है, तो भी समझा जा सकता है कि नदी भी एक ही है । जो गंगा, यमुना आदि विभिन्न धाराएं दृष्टिगोचर होती हैं, इनमें एक ही जल की आत्मा प्रवाहित हो रही है । मन्त्रकार अन्त में उपसंहार करता है कि इसी प्रकार ब्रह्माण्ड में ब्रह्म भी एक ही है । नाना देव रथचक्र में अरों के समान या तने में शाखाओं के समान उसी एक देव में ओत-प्रोत हैं ।[३] प्रसिद्ध पुरुषसूक्त में एक प्रश्नोत्तर इस प्रकार है—

परम पुरुष के मुख, बाहु, जांघें, पैर क्या हैं ?

यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते ॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥

ऋग् १०. ९०, ११, १२

प्रश्न–सृष्टि के आदि में जब देवजनों ने पुरुष परमेश्वर को हृदय में धारण किया तब उन्होंने कितने रूपों में उसकी कल्पना की । इसका मुख

३. तस्मिन्छ्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः । अथर्व १०. ७. ३८

क्या था, भुजाएं कौन सी थीं, ऊरु तथा पैर कौन से थे ?

उत्तर—ब्राह्मण इसका मुख था, क्षत्रिय भुजाएं बने, वैश्य ऊरु थे और पैरों से शूद्र ने जन्म लिया।

परमेश्वर निराकार-निरवयव है। पर उसके चिन्तन के लिए उपासक उसके अंगों की कल्पना कर लेता है। ब्राह्मण को वह इसका मुख या इसके मुख से उत्पन्न हुआ कल्पित करता है। ब्राह्मण तथा मुख में कई समानताएं हैं। ब्राह्मण ज्ञान का प्रतिनिधि है, वह समाज में ज्ञान-विज्ञान का प्रसार करता है, वैसे ही मुख भी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ज्ञान का केन्द्र बना हुआ है तथा उसका उपदेश भी करता है। ब्राह्मण के समान मुख भी अपरिग्रही होता है। सारे शरीर को हम उत्तमोत्तम वस्त्रों से अलंकृत करते हैं, पर मुख नग्न ही रहता है। मुख जो कुछ भोज्य या पेय ग्रहण करता है, वह अन्य अंगो के पोषण के लिए उदर में पहुंचा देता है। एवं समाज में ब्राह्मण के गुणों से उपासकों ने परमेश्वर की मुख-शक्ति का अनुमान किया। क्षत्रियों से उसकी भुजाओं की शक्ति को कल्पित किया। क्षत्रिय तथा भुजाएं दोनों ही रक्षक हैं। एवं परमेश्वर में रक्षा की शक्ति क्षत्रियों के समान है ऐसा उन्होंने विचार किया। ऊरु मध्यभाग के प्रतिनिधि हैं, यह इससे स्पष्ट है कि अथर्ववेद में ऊरु के स्थान पर 'मध्यं'[४] पाठ है। उदर आमाशय में सब द्रव्यों का संग्रह करता है, जैसे वैश्य संग्रहशील होता है। वैश्य व्यापारार्थ यातायात भी करता है, जो शरीर में ऊरु का कार्य है। एवं वैश्यों से उपासकों ने परमेश्वर के ऊरु या मध्यांगों की शक्ति को समझा। समाज में शूद्र परम पुरुष के चरणों से उत्पन्न हुआ है, ऐसी उन्होंने कल्पना की। चरण सारे शरीर के सेवक हैं, शरीर का प्रत्येक अंग अपने आनन्द के लिए चरणों के यान पर आरूढ़ हो जहां चाहे भ्रमण करता है। परमेश्वर में भी सेवा की शक्ति ऐसी ही अद्भुत है। उसका प्रत्येक कार्य परार्थ है, स्वार्थ के लिए कुछ नहीं।

कुमार को और उसके रथ को किसने बनाया ?

कः कुमारमजनयद् रथं को निरवर्तयत्।
कः स्वित् तदद्य नो ब्रूयादनुदेयी यथाभवत्॥
यथा भवदनुदेयी ततो अग्रमजायत।
पुरस्ताद् बुध्न आततः पश्चान्निरयणं कृतम्॥ ऋग् १०.१३५.५,६

---

४. अथर्व १९. ६. ६.

प्रश्न—किसने कुमार को जन्म दिया है, किसने इसके रथ को रचा है ? कौन आज हमें यह बतायेगा कि यह अनुदेयी कैसे हुआ ?

उत्तर—जब यह अनुदेयी हुआ उससे पूर्व जन्म ले चुका था। पहले इसका सिर फैला, पश्चात् यह सारा बाहर निकल आया।

कुमार (आत्मा) ने जन्म लिया है, वह शरीर रूपी रथ पर बैठ कर आया है। उसके विषय में प्रश्न है कि वह अनुदेयी कैसे हुआ। अनुदेयी का अर्थ है एक की गोदी से दूसरे की गोदी में देने योग्य। जब तक कुमार माता के उदर में रहता है तब तक वह अनुदेयी नहीं होता, अनुदेयी जन्म के पश्चात् होता है। जन्म की प्रक्रिया बताते हुए कहा है कि पहले सिर बाहर आता है, पश्चात् सम्पूर्ण शरीर निकल आता है। प्रसूतितन्त्र के अनुसार भी स्वस्थ जन्म में यही क्रम रहता है।

इन प्रश्नोत्तरों के अतिरिक्त ऋग्वेद १.१६४ की ऋचा ३४ तथा ३५ भी प्रश्नोत्तरात्मक हैं। ये यजुर्वेद के ब्रह्मोद्य प्रकरण (अध्याय २३) में भी आती हैं, जिस सम्पूर्ण प्रकरण को अभी हम यजुर्वेद के प्रश्नोत्तरों में ले रहे हैं। अतः ये वहीं व्याख्यात की जायेंगी।

ऋग्वेद में कुछ प्रसंग ऐसे भी हैं जहां प्रश्न तो उठाया गया है, किन्तु उसका उत्तर स्वयं न देकर पाठकों के विचार के लिए छोड़ दिया गया है। शिक्षा-शास्त्र में यह भी शिक्षण की एक पद्धति है। प्रश्न उठा कर उसका उत्तर न दे उसके समाधान तथा अनुसन्धान के लिए शिष्य में उत्सुकता जनित करने में शिष्य की बुद्धि का विकास होता है। ऐसा एक प्रसंग निम्नलिखित है।

ऋग्वेद के विश्कर्मा-सूक्त में सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई इस पर विचार करते हुए प्रश्न किया है—

द्यावापृथिवी किस वृक्ष से रचे गये ?

किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत् स्वित् कथासीत्।
यतो भूमिं जनयम् विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः॥
किं स्विद् वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद् यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्॥
ऋग् १०.८१.२,४

प्रश्न—वह अधिष्ठान कौन सा था, वह उपादान क्या था, और किस रूप का था, जहां, जिस पर तथा जहां से विश्वद्रष्टा विश्वकर्मा ने अपनी महिमा से भूमि एवं द्युलोक को उत्पन्न किया ? वह वन कौन सा था तथा वह वृक्ष कौन सा था, जिससे जगत्स्रष्टाओं ने द्यावा-पृथिवी को गढ़-छील कर बनाया ? हे मनीषिओ, अपने मन से पूछो।

यह भी पूछो कि वह कौन था जो भुवनों को धारण किये हुए उनका अधिष्ठातृत्व कर रहा था ?

उत्तर–अद्वैतवादी इन प्रश्नों के यह उत्तर देते हैं कि परमेश्वर से भिन्न कोई उपादान कारण नहीं था। परमेश्वर ने स्वयं अपने अन्दर से जगत् को उत्पन्न किया। स्वयं वही वन था, वही वृक्ष था, जिससे द्यावापृथिवी रचे गये हैं। किन्तु त्रैतवादी प्रकृति को उपादान कारण एवं वन तथा वृक्ष मानते हैं। परमेश्वर को सृष्ट्युत्पत्ति के लिए आधार की आवश्यकता नहीं है, अतः उसने विना ही अधिष्ठान के सब जगत् की रचना की है, यह उभयपक्ष में समान है।

कहीं-कहीं ऐसा भी है कि मनुष्य स्वयं से ही प्रश्न करता है, तथा विचारोपरान्त स्वयं ही उसका उत्तर देता है। ऐसा एक दृष्टान्त शुनःशेप के सूक्त में उपलब्ध होता है।

मुक्ति के लिए किसे स्मरण करें ?

कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम ।
को नो मह्या अदितये पुनर्धात् पितरं च दृशेयं मातरं च ।।
अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम ।
स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च ।।

ऋग् १.२४.१,२

प्रश्न–अमर देवों में से हम किस देव के सुन्दर रूप का स्मरण करें ? कौन हमें महती मुक्ति की प्राप्ति के लिए पुनः जन्म देगा, जिससे हम पिता और माता के दर्शन करेंगे ?

उत्तर–अमर देवों में से हम अग्निदेव के सुन्दर नाम का स्मरण करें। वही हमें महती मुक्ति की प्राप्ति के लिए पुनः जन्म देगा, जिससे हम पिता और माता के दर्शन करेंगे।

ये उद्गार सांसारिक पाशों से बद्ध मनुष्य (शुनःशेप) की ओर से प्रकट किये गये हैं। वह मुक्ति के लिए उत्सुक है। यह जन्म अपर्याप्त देख वह मुक्ति के प्रयास के लिए पुनर्जन्म पाना चाह रहा है। तदर्थ इसी सूक्त में प्रथम वह अग्नि को स्मरण करता है, फिर सविता, यम और वरुण को।[५]

---

५. शुनःशेप की कक्षा के लिए द्रष्टव्यः ऐ. ब्रा. अध्याय ३३।

यजुर्वेद के प्रश्नोत्तर

यजुर्वेद का प्रसिद्ध ब्रह्मोद्य प्रकरण वाजसनेयि संहिता के अश्वमेध - प्रसंग में अध्याय २३ की कण्डिका ४५ से ६२ तक है।[६] कर्मकाण्डिक विनियोगानुसार ये प्रश्नोत्तर अश्वमेध यज्ञ में परस्पर ऋत्विजों के बीच होते हैं, कण्डिका ४५-४८ होता-अध्वर्यु के, ४९, ५२ ब्रह्मा-उद्गाता के, ५३–५६ पुनः होता-अध्वर्यु के, ५७–६० पुनः ब्रह्मा-उद्गाता के, तथा ६१, ६२ यजमान–अध्वर्यु के बीच। विनियोग से स्वतन्त्र होकर विचार करें तो ये प्रश्नोत्तर सभी के लिए हैं तथा वेद इस शैली के द्वारा सम्बद्ध विषयों का ज्ञान दे रहा है[७]। यजुर्भाष्य में इन प्रश्नोत्तरों पर उवट, महीधर तथा स्वामी दयानन्द के व्याख्यान उपलब्ध हैं। उवट तथा महीधर के व्याख्यान प्रायः एक से ही हैं। स्वामी दयानन्द की व्याख्या कई स्थलों पर भिन्न है। हम इन भाष्यकारों से तथा इतर वैदिक साहित्य से मार्ग-दर्शन प्राप्त कर अधिकतर स्वतन्त्र व्याख्याएं प्रस्तुत कर रहे हैं, जिनमें कुछ प्रश्नोत्तरों को विभिन्न क्षेत्रों में घटाने का भी प्रयत्न किया गया है।

कौन एकाकी चलता रहता है?

कः स्विदेकाकी चरति क उ स्विज्जायते पुनः
किं स्विद्धिमस्य भेषजं किं वावपनं महत् ॥
सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः
अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत् ॥ यजु २३. ४५, ४६

प्रश्न—कौन एकाकी चलता रहता है? पुनः कौन जन्म लेता है? हिम का औषध क्या है? विशाल अन्नागार कौन सा है?

उत्तर—सूर्य एकाकी चलता रहता है। चन्द्रमा पुनः जन्म लेता है। अग्नि हिम का औषध है। भूमि विशाल अन्नागार है।

संसार में सभी अपने साथी-संगियों के साथ मिलकर यात्रा किया करते हैं। मृग मृगों के साथ चलते हैं, गौएं गौओं के साथ चलती हैं, पक्षी भी पंक्तिबद्ध हो विहार करते हैं, चन्द्रमा भी सितारों के साथ रहता है, मनुष्य

६. यद्यपि कण्डिका ९–१२ भी प्रश्नोत्तरात्मक ही हैं, पर ये कण्डिका ४५, ४६, ५३, ५४ में पुनरुक्त हुई हैं।

७. कुछ विद्वान् विनियोग को नित्य नहीं मानते, जिनमें स्वामी दयानन्द प्रमुख हैं। उन्होंने विनियोग से सर्वथा स्वतन्त्र होकर सम्पूर्ण यजुर्वेदभाष्य किया है। इस शैली से आधुनिक युग के अन्य विद्वानों ने भी भाष्य लिखे हैं।

भी भ्रमण के लिए साथी की खोज करता है। पर एक सूर्य रूपी परिव्राजक ही है जो प्रातः से सायं तक दिन भर गगन में एकाकी चलता रहता है। अध्यात्म में यहां सूर्य का अर्थ प्राण ले सकते हैं[८]। शरीर में प्राण किसी साथी की अपेक्षा किए बिना निरन्तर चलता रहता है चक्षु-श्रोत्रादि, हस्त, पाद आदि बाह्येन्द्रियों तथा मनरूपी अन्तरिन्द्रिय के सो जाने पर भी प्राण नहीं सोता, एकाकी चलता रहता है[९]। चन्द्रमा पुनः जन्म लेता है। अमावस के पश्चात् शिशु चन्द्र आकाश के प्रांगण में पदार्पण करता है। शनैः शनैः बड़ा होते-होते वह पूर्णिमा को परिपूर्णांग हो जाता है। फिर कृष्णपक्ष में क्षीण होते-होते अमावस को उसका अन्त हो जाता है, न वह दिन में दिखाई देता है, न रात्रि में। पर दो दिन बाद ही हम पुनः उसे तारों के बीच में हंसता हुआ देखते हैं, मानों हंस कर कहता है कि तुम तो मुझे मृत समझ बैठे थे; लो, मैं पुनः आ गया। अध्यात्म में चन्द्रमा मन है[१०]। वह क्षीण होकर या मर कर भी पुनः जन्म लेता है, अर्थात् हताश होकर भी सद्गुरु से प्रेरणा पाकर पुनः आशावान् हो जाता है। और हिम का औषध क्या है? हिम का सच्चा औषध अग्नि है। अग्नि के समीप दो क्षण बैठ लेने से जो शीत का उपचार हो जाता है, वह अन्य साधनों से नहीं। अग्नि से केवल यह ज्वालामयी स्थूल अग्नि ही नहीं, किन्तु सूक्ष्म अग्नितत्त्व भी गृहीत है। यदि हमारे शरीर में अग्नितत्त्व न्यून है तो कितने ही शीतत्राण के उपाय कर लें, सब विफल होंगे। फिर, सबसे विशाल अन्नागार कौन सा है? संभव है कोई कहे कि राजकीय अन्न-संचय-मन्दिर सबसे बड़ा अन्नागार है, जिसमें अरबों क्विंटल अन्न सुरक्षित रह सकता है। पर नहीं, सबसे विशाल अन्नागार तो बीजवपनस्थली यह भूमि है, जिसके पास अन्न का अक्षय कोष है, जहां से एक दाना बोने पर सैंकड़ों दाने निकल आते हैं। वैदिक साहित्य में भूमि या पृथिवी नारी को भी कहते हैं[११]। नारी भी बृहत् आवपन अर्थात् महत्त्व-

---

८. प्राणो ह सूर्यः, अथर्व ११. ४. १२। प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः प्रश्न. १. ८। प्राणा वा आदित्याः। जै० उ० ४. २. ६

९. ऊर्ध्वः सुप्तेषु जागार ननु तिर्यङ् निपद्यते। न सुप्तमस्य सुप्तेष्वनुशुश्राव कश्चन॥ अथर्व. ११. ४. २५

१०. यत् तन्मनः एष स चन्द्रमाः। शत १०. ३. ३.७। चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्, ऐ उ. १. २.४

११. विवाह-प्रसंग में वर वधू को कहता है—द्यौरहं पृथिवी त्वम्। अथर्व १४. २. ७१

पूर्ण बीज बोने की स्थली है। अचेतन भूमि तो अचेतन अन्न के दानों को ही उत्पन्न करती है, किन्तु यह नारी उस चेतन मानव की जननी होती है, जो सब प्राणियों में श्रेष्ठ है।

ऐसी क्या वस्तु है जिसकी माप-तोल नहीं ?

किं स्वित् सूर्यसमं ज्योतिः किं समुद्रसमं सरः ।
किं स्वित् पृथिव्यै वर्षीयः कस्य मात्रा न विद्यते ॥
ब्रह्म सूर्यसमं ज्योति र्द्यौः समुद्रसमं सरः ।
इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान् गोस्तु मात्रा न विद्यते ॥ यजु २३.४७.४८

प्रश्न—सूर्य के समान ज्योति क्या है ? समुद्र के समान सरोवर कौन सा है ? ऐसी वस्तु कौन सी है जिसकी माप-तोल न हो सके ?

उत्तर—ब्रह्म सूर्य के समान ज्योति है। आकाश समुद्र के समान सरोवर है। इन्द्र पृथिवी से बड़ा है। गौ की माप-तोल नहीं हो सकती।

सूर्य के समान ज्योति क्या है ? यह प्रश्न सुनकर संभव है कोई अग्नि, विद्युद्दीप, अणु-शक्ति की भट्टी आदि की बात सोचने लगे। पर नहीं, सूर्य में जो असीम प्रकाश का पारावार है, उसके सम्मुख ये ज्योतियां कुछ भी नही हैं, ये सब तो अपने प्रकाश के लिए सूर्य पर ही निर्भर हैं। सूर्य जैसी ज्योति तो इस सौर जगत् में यदि कोई है तो ब्रह्म है, जो सूर्य जैसी क्या, उससे भी सहस्रगुणित है[१२]। और समुद्र के समान सरोवर आकाश है। जैसे पार्थिव समुद्र में जलराशि उमड़ती है, वैसे ही मेघ के रूप में आकाश में भी। इसी कारण वैदिक भाषा में समुद्र शब्द के दोनों अर्थ होते हैं, पार्थिव समुद्र तथा आकाश[१३]। फिर, पृथिवी से बड़ा कौन है ? यह है इन्द्र। यद्यपि पृथिवी बहुत बड़ी है, भूगोलवेत्ता बताते हैं कि उसका व्यास चार सहस्र कोस है और घनफल लगभग साढ़े तेंतीस घन कोस, तो भी इन्द्र की तुलना में वह कुछ नहीं है। इन्द्र मनुष्य का आत्मा है,[१४] जो सोमपान के मद में आकर पृथिवी को गेंद के समान इधर से उधर फेंक सकता है और विशाल

---

१२. लोक में उपमान उपमेय की उपेक्षा अधिक गुण वाला होता है। किन्तु वेद में उपमान न्यूनगुण भी हो सकता है। इसे हीनोपमा कहते हैं. (द्रष्टव्य: निरु. ३. १४)। ब्रह्म से अधिकगुण कोई वस्तु न होने के कारण न्यूनगुण लौकिक वस्तु ही उसका उपमान बन सकती है।

१३. स उत्तरस्मादधरं समुद्रम्, ऋग् १०. ९८. ५। समुद्र=अन्तरिक्ष, नि० १.३

१४. इन्द्रः इन्द्रियवान् जीवः। दयानन्द, ऋग् १.१०१.५ भाष्य।

द्यावापृथिवी जिसके पासे के बराबर भी नहीं है।[15] और, वह वस्तु कौन सी है, जो मापी न जा सके? वह है गौ। गौ हमारी माता है, जो यज्ञ के लिए तथा हमारे शरीर के लिए दुग्ध-घृतादि प्रदान करती है। उसके उपकार हम पर असीम हैं। वह अपरिमेय है, उसके बराबर कोई वस्तु नहीं, जिससे उसे तोला जा सके। दूसरे वेदवाणी भी गौ शब्द से व्यवहृत होती है। वह वरदा वेदमाता है, जो आयु, प्राण प्रजा, पशु, कीर्ति, द्रविण, ब्रह्मवर्चस् का वर प्रदान करती है।[16] वह सरस्वती है, जो ज्ञानरस रूपी स्तन्य का पान कराती है।[17] वह भी अपरिमेय है।

क्या विष्णु के पगों में सारा भुवन समाया है?

> पृच्छामि त्वा चितये देवसख यदि त्वमत्र मनसा जगन्थ।
> येषु विष्णुस्त्रिषु पदेष्वेष्ट स्तेषु विश्वं भुवनमाविवेशाँ॥
> अपि तेषु त्रिषु पदेष्वस्मि. येषु विश्वं भुवनमाविवेश।
> सद्यः पर्येमि पृथिवीमुत द्याम् एकेनाङ्गेन दिवो अस्य पृष्ठम्॥
>
> यजु २३.४९,५०

प्रश्न—हे देवों के सखा विद्वन्, ज्ञान के लिए मैं तुमसे पूछता हूँ, यदि तुम्हारे मन की गति इस विषय में हो। मैंने सुना है कि जिन तीन पदों में विष्णु गति करता है, उनमें सारा भुवन प्रविष्ट है। क्या यह सत्य है?

उत्तर—हाँ, विष्णु के उन तीन पदों में सम्पूर्ण भुवन प्रविष्ट है, मैं भी उनके मध्य ही निवास करता हूँ। मैं अपने एक अंग (मन) से पृथिवी में, द्युलोक में तथा इस अन्तरिक्ष के पृष्ठ पर झटपट यात्रा कर आता हूँ, अर्थात् तीनों लोकों की मुझे जानकारी है।

किसी व्यक्ति के तीन पदों में सारा भुवन समा जाए यह बड़े आश्चर्य का विषय है। अत एव प्रश्नकर्ता पूछता है कि क्या यह सत्य है? उत्तर हां में है। विष्णु सूर्य है, वह पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ अथवा पूर्वक्षितिज, मध्याकाश एवं पश्चिम क्षितिज, तीनों स्थानों में अपने किरणरूपी पैरों को निहित करता है,[18] अतः ये तीनों उसके पद अर्थात् चरणन्यास करने के लोक हैं। इनमें सारा ही

---

१५. द्रष्टव्य: ऋग् १०.११९

१६. अथर्व. १९.७१

१७. ऋग् १. १६४.४९

१८. निरु. १२.१९

भुवन या सौर जगत् प्रविष्ट है। विष्णु का अर्थ सर्वव्यापी परमात्मा[१९] लें तो भी यह ठीक है। विष्णु का अर्थ आत्मा करें तो तीन स्थान शरीर का उत्तमांग, मध्यभाग तथा अधोभाग होंगे। इनमें वह पग रखे हुए है, अर्थात् उसी की क्रियाशक्ति से शरीरस्थ तीनों लोकों का संचालन हो रहा है। इन तीन पदों में सारा ही शरीर समाविष्ट हो जाता है। उत्तर देने वाला कह रहा है कि मैं अपने मन से विष्णु के तीनों पादन्यासस्थानों का विचार कर सकता हूँ तथा मुझे सब जानकारी है। तुम जो कुछ पूछो मैं बता सकता हूं, चाहे परीक्षा लेने के लिए पूछो, चाहे ज्ञानवृद्धि के लिए।

किनके अन्दर पुरुष प्रविष्ट है?

केष्वन्तः पुरुष आविवेश, कान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि।
एतद् ब्रह्मन्नुपवल्हामसि त्वा, किंस्विन्नः प्रतिवोचास्यत्र॥
पंचस्वन्तः पुरुष आविवेश, तान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि।
एतत् त्वात्र प्रतिमन्वानो अस्मि, न मायया भवस्युत्तरो मत्॥

यजु २३. ५१, ५२

प्रश्न—किनके अन्दर पुरुष प्रविष्ट है? कौन सी वस्तुएं पुरुष के अन्दर अर्पित हैं? हे ब्रह्मन्, यह हम आपसे प्रश्न करते हैं, आप हमें उत्तर क्यों नहीं देते?

उत्तर—पांच के अन्दर पुरुष प्रविष्ट है, वे पांचों पुरुष के अन्दर अर्पित हैं। यह मैं आपको उत्तर देता हूँ। आप बुद्धि में मुझसे बढ़ नहीं सकते।

पुरुष आत्मा है, वह प्राणों के अन्दर प्रविष्ट है, पंच प्राण उसके अन्दर अर्पित हैं। एवं दोनों अन्योन्याश्रित हैं। अथवा वह आत्मा पृथिव्यादि पंच भूतों में या पांचभौतिक शरीर में प्रविष्ट है तथा वे पंच भूत आत्मा के आश्रित हैं। अथवा पुरुष परमात्मा है, वह पंचभूतों में या पंच तन्मात्राओं में व्याप्त है तथा वे उसके अधीन हैं।[२०]

सबसे विशाल पक्षी कौन?

का स्विदासीत् पूर्वचित्तिः किं स्विदासीद् बृहद् वयः।
का स्विदासीत् पिलिप्पिला का स्विदासीत् पिशंगिला॥

---

१९. विष्णुः = वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स परमेश्वरः। दयानन्द, ऋग् १.२२.१६ भाष्य।

२०. 'पुरुषः आत्मा पञ्चसु प्राणेषु अन्तः यद्वा पञ्चसु भूतेषु भूम्यादिषु" महीधर। तुलनीयः मु० ३.१.९। "पञ्चसु भूतेषु तन्मात्रासु वा अन्तः पुरुषः पूर्णः परमात्मा आविवेश स्वव्याप्त्या आविष्टोऽस्ति," दयानन्द।

द्यौरासीत् पूर्वचित्तिरश्व आसीद् बृहद् वयः ।
अवि रासीत् पिलिप्पिला रात्रिरासीत् पिशंगिला ॥
यजु २३. ५३, ५४

प्रश्न—सबसे पहली ज्ञातव्य वस्तु (पूर्वचित्ति) क्या थी ? सबसे विशाल पक्षी (बृहद् वयः) कौन था ? पिलपिली वस्तु (पिलिप्पिला) क्या थी ? रूप को निगलने वाली वस्तु (पिशंगिला) कौन सी थी ?[२१]

उत्तर—द्यौ सबसे ज्ञातव्य वस्तु थी। अश्व विशाल पक्षी था। अवि पिलपिली वस्तु थी। रात्रि रूप को निगलने वाली वस्तु थी।

द्यौ आकाश है। सृष्ट्युत्पत्तिकाल में सर्वप्रथम आकाश ही उत्पन्न होता है,[२२] अतः वही सबसे पहली ज्ञातव्य वस्तु या पूर्वचित्ति था। अश्व आदित्य है,[२३] वही विशाल पक्षी[२४] है। उसे पक्षी इस कारण कहा, क्योंकि वह अपने रश्मि रूपी पंखों को फैला कर पक्षी के समान आकाश में उड़ता है। और उसकी विशालता का क्या कहना! खगोलवेत्ता बताते हैं कि उसमें लगभग साढ़े बारह लाख पृथिवियां समा सकती हैं। अवि पिलपिली वस्तु थी। अवि यहां पृथिवी है[२५]। पृथिवी सूर्य से टूट कर बनी है। प्रारंभ में वह गैस रूप थी, फिर द्रव रूप में आयी, शनैः शनैः ठण्डी होकर ठोस रूप को धारण करने लगी। उस समय पहले वह पिलपिली ही थी। ज्यों ज्यों अधिक ठंडी पड़ती गई त्यों-त्यों उसका पृष्ठ दृढ़ होता गया[२६]। रात्रि पिशंगिला है, यतः वह दिन में दीखने वाले वस्तुओं के रूप को अपने अंधकार में निगल लेती है।

---

२१. पूर्वं चित्यते ज्ञायते इति पूर्वचित्तिः(चिती संज्ञाने)। पिशं रूपं गिलति निगिरति इति पिशंगिला (पिश = रूप, निरु० ८ ११, गॄ निगरणे)।
२२. तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। तै०उ० २.१
२३. असौ वा आदित्योऽश्वः तै० ३.९.२३.२। ऋग् ७.७७.३ भी द्रष्टव्य।
२४. द्रष्टव्यः अथर्व १३.२.३३ जहां आदित्य को चमकता हुआ विशाल पक्षी (ज्योयिष्मान् पक्षी महिषः) कहा गया है। इसी प्रकरण में इसे पतङ्ग (मन्त्र ३०) सुपर्ण (मन्त्र ३२, ३६, ३७) तथा हंस (मन्त्र ३८) इन पक्षीवाची नामों से भी स्मरण किया है। अन्यत्र इसे श्येन (बाज पक्षी) भी कहा गया है—आ सूर्यो यातु सप्ताश्वः रघुः····श्येनः, ऋग् ५.४५.९।
२५. 'अवतीत्यविः पृथिवी'-महीधर। 'अविः रक्षणादिकर्त्री' पृथिवी-दयानन्द।
२६. तुलनीयः 'यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद् (जिस इन्द्र ने पिलपिली पृथिवी को दृढ़ किया), ऋग् २.१२. २।

अथवा द्यौ सूर्य है[27], वही हमारी सौर जगत् की भौतिक वस्तुओं में सर्वप्रथम ज्ञातव्य तथा चेतनाप्रदायक होने से पूर्वचित्ति है। पर्जन्य या अग्निरूप[28] अश्व ही विशाल पक्षी है, क्योंकि पर्जन्य वायुरूप पंखों मे तथा अग्नि ज्वाला-रूप पंखों से उड्डयन करता है। अवि अर्थात् प्रकृति[29] ही पिलपिली या चिकनी वस्तु है। प्रलयरूप रात्रि[30] ही सब पदार्थों के रूप को निगलने वाली है।

अध्यात्म में आत्मारूपी द्यौ ही पूर्वचित्ति या सर्वश्रेष्ठ ज्ञातव्य वस्तु है। प्राणरूप अश्व ही विशाल पक्षी है। प्राण को पक्षीवाची शब्द हंस नाम से कहा भी गया है[31]। तनूरूपिणी अवि ही पिलिप्पिला या मांसल वस्तु है। मृत्युरूप रात्रि ही पिशंगिला या रूप को निगलने वाली है।

राजनीतिक क्षेत्र में राजसभा[32] रूपिणी द्यौ पूर्वचित्ति है। राजारूप[33] अश्व विशाल पक्षी है, यतः वह राष्ट्र को अपने साथ लिए हुए उन्नति के ऊर्ध्वाकाश में उड़ता है। राष्ट्रभूमि पिलिप्पिला अर्थात् ऐश्वर्य-रसों से समृद्ध या पिलपिली है। राजा की दण्डशक्ति ही रात्रि या पिशंगिला है, क्योंकि वह दुष्टरूपता को निगल लेती है।

उवट तथा महीधर ने द्यौ वृष्टि को माना है, तथा प्राणियों द्वारा पूर्व चिन्तन की जाने के कारण उसे पूर्वचित्ति कहा है। अश्व से अश्वमेध अर्थ लिया है। पक्षी के तुल्य इस अश्वमेध से यजमान स्वर्गलोक को आरोहण करता है, अतः यह विशाल पक्षी हुआ। भूमि को पिलपिली इस कारण कहा है, क्योंकि वह वर्षा से पिलपिली हो जाती है। रात्रि शब्द से रात्रि ही गृहीत की गई है, तथा सब रूपों को निगल लेने के कारण उसे पिशंगिला कहा है।[34]

---

२७. 'दिवः द्योतमानस्य आदित्यस्य द्युलोकस्य वा'-सायण, ऋग् ६,६६.५भाष्य।

२८. अश्व=पर्जन्य, ऋग् ५. ८३. ६। अश्व=अग्नि, ऋग् १०. १८८. १। 'अश्वः योऽश्नुते मार्गान् सोऽग्निः'—दयानन्द।

२९. 'अविः रक्षिका प्रकृतिः'—दयानन्द। 'अविर्वै नाम देवता-ऋतेनास्ते परी-वृता। तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः"। अथर्व १०. ८. ३१

३०. 'रात्रिः रात्रिवद् वर्तमानः प्रलयः'—दयानन्द। मनुस्मृति में सृष्टि को ब्राह्म दिन तथा प्रलय को ब्राह्म रात्रि कहा है। मनु १. ७३

३१. एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्। अथर्व ११. ४. २१

३२. राजसभा के लिए द्रष्टव्यः ऋग् ६. ९२. ६; १०. ९७. ६, अथर्व ६. ८८. ३; ७. १२. ३; १५. ९. २।

३३. राजा अश्व है—क्षत्रं वा अश्वः, शत० १३. २. ११. १५।

३४. तुलनीयः शत. १३. २. ६. १४-१७ द्यौर्वै वृष्टिः पूर्वचित्तिः ...अश्वो वै बृहद् वयः ...श्रीर्वै पिलिप्पिला—अहोरात्रे वै पिशंगिले।

पिशंगिला और कुरुपिशंगिला क्या हैं ?

का ईमरे पिशंगिला का ईं कुरुपिशंगिला ।
क ईमास्कन्दमर्षति क ईं पन्थां विसर्पति ।।
अजारे पिशंगिला श्वावित् कुरुपिशंगिला ।
शश आस्कन्दमर्षत्यहिः पन्थां विसर्पति ।। यजु २३. ५५, ५६

प्रश्न—पिशंगिला क्या है ? कुरुपिशंगिला क्या है ? उछल-उछल कर कौन चलता है ? कौन रास्ते पर तेजी से सरकता है ?

उत्तर—अजा पिशंगिला है । श्वावित् कुरुपिशंगिला है । शश उछल-उछल कर चलता है । अहि रास्ते पर तेजी से सरकता है ।

यहां अजा, श्वावित् आदि शब्दों के निम्न प्रकार विभिन्न अर्थ हो सकते हैं ।

बकरी पिशंगिला है, क्योंकि वह वृक्ष-वल्लरियों के अवयवभूत पत्तों को (पिश अवयवे) खा जाती है । सेही कुरुपिशंगिला है, क्योंकि वह कुर-कुर शब्द करती हुई कन्द-मूल आदि अवयवों को निगलती है, अथवा कृत कृष्यादि के अवयवों को खा जाती है ।[३५] खरगोश उछल-उछल कर चलता है । सर्प रास्ते पर तेजी से सरकता है ।

अथवा अजन्मा या नित्य होने से अजा प्रकृति है । वही पिशंगिला है, क्योंकि अपने अन्दर से प्रादुर्भूत जगत् के रूपों या अवयवों को प्रलयकाल में अपने उदर में निगल लेती है । काम-क्रोधादि श्वानों को पकड़ने के कारण जीव-शक्ति श्वावित् है । वही कुरुपिशंगिला है, यतः कृत कर्मों के फलों को भोगती है । उछल-उछल कर श्वासोच्छ्वास करने के कारण प्राण शश है (शश प्लुतगतौ) । मन अहि है, वह विभिन्न मार्गों पर तेजी से सर्पण करता है ।[३६]

अथवा प्रवाह रूप से नित्य होने के कारण रात्रि अजा है, वह अपने अन्धकार में सब पदार्थों के रूपों को निगरण करने से पिशंगिला है । विद्युत्

---

३५. 'कुरु इति शब्दमनुकुर्वाणा पिशान् मूलाद्यवयवान् गिलति पिशंगिला'-महीधर । 'कुरोः कृतस्य कृष्यादेः पिशानि अङ्गानि गिलति सा', दयानन्द ।

३६. अजा जन्मरहिता ··· प्रकृतिः । 'अजा प्रकृतिः सर्वकार्यप्रलयाधिकारिणी कार्यकारणाख्या स्वकार्यं स्वस्मिन् प्रलाययति,' दयानन्द । श्वेता. ४. ५ भी द्रष्टव्य । जीवशक्ति-पक्ष में कुरुपिशंगिला का निर्वचन यह होगा—'कुरूणां कृतकर्मणां पिशानि फलानि गिलति भुङ्क्ते इति कुरुपिशंगिला जीवात्मशक्तिः ।'

कुरुपिशंगिला है, यतः कड़-कड़ शब्द करती हुई भूमि पर गिरकर वृक्षादिकों के अवयवों को निगल जाती है। वायु शश है, जो उछल-उछल कर चलता है। अहि मेघ है, वह आकाशमार्ग में त्वरित गति से सर्पण करता है।[37]

नक्षत्रों की दृष्टि से विचार करें तो मेषराशि अजा, सिंहराशि श्वावित्, शशक नक्षत्रपुंज शश तथा कालिय नाग नामक नक्षत्रपुंज अहि है। मेषी या बकरी की आकृति बनाने वाली मेषराशि आकाश में पत्तों को चरती प्रतीत होने से अजा है। नक्षत्रों में सिंह राशि के सामने ही एक सारमेय या श्वा (Canis Minor) है, सिंह जिसका पीछा करता हुआ प्रतीत होता है। अतः वह श्वावित् है। शशक नक्षत्रपुंज पूर्व से पश्चिम की ओर उछल-उछल कर चल रहा है, अतः वह शश है। उत्तराकाश में कालिय नामक नक्षत्रपुंज इधर-उधर सर्प के समान सर्पण करने से अहि है।

यज्ञ के स्थितिस्थान, अक्षर आदि कितने हैं ?

कत्यस्य विष्ठाः कत्यक्षराणि, कति होमासः कतिधा समिद्धः।
यज्ञस्य त्वा विदथा पृच्छमत्र, कति होतार ऋतुशो यजन्ति॥
षडस्य विष्ठाः शतमक्षराणि, अशीतिर्होमाः समिधो ह तिस्रः।
यज्ञस्य ते विदथा प्रब्रवीमि, सप्त होतार ऋतुशो यजन्ति॥

यजु. २३. ५७, ५८

प्रश्न—यज्ञसम्बन्धी ज्ञान के विषय में मैं तुझसे पूछता हूं। बता, इस यज्ञ के विशेष स्थितिस्थान (विष्ठाः) कितने हैं, कितने अक्षर हैं, कितने होम हैं, कितनी समिधाओं से यह समिद्ध होता है, कितने होता ऋतु-ऋतु में यजन करते हैं ?

उत्तर—यज्ञ सम्बन्धी ज्ञान के विषय में मैं तुझे उत्तर देता हूं। सुन, इस यज्ञ के ६ विशेष स्थितिस्थान हैं, १०० अक्षर हैं, ८० होम हैं, ३ समिधायें हैं, ७ होता ऋतु-ऋतु में यजन करते हैं।

उवट तथा महीधर के अनुसार इन संख्याओं की व्याख्या निम्न प्रकार है। षड्रस अन्न ही ६ विशेष स्थितिस्थान हैं। १०० अक्षर हैं, क्योंकि छन्दों के गायत्री वर्ग के साथ विपरीत क्रम से अतिजगत्यादि छन्दों को मिलाने से एक-एक छन्दोयुगल में सौ-सौ अक्षर ही बनते हैं। यथा—

---

३७. 'अजा नित्या माया रात्रिर्वा...माया विश्वं ग्रसते, रात्रावपि रूपाणि न प्रतीयन्ते तमसा', महीधर। 'शशः पशुविशेष इव वायुः। अहिः मेघः', दयानन्द।

गायत्री + अतिधृति	२४ + ७६ = १००
उष्णिक् + धृति	२८ + ७२ = १००
अनुष्टुप् + अत्यष्टि	३२ + ६८ + १००
बृहती + अष्टि	३६ + ६४ + १००
पंक्ति + अतिशक्वरी	४० + ६० + १००
त्रिष्टुप् + शक्वरी	४४ + ५६ = १००
जगती + अतिजगती	४८ + ५२ = १००

अश्वमेध में २१ यूप रहते हैं, जिनमें से अग्निष्ठ मध्यम यूप में अश्व, तूपर तथा गोमृग को नियुक्त किया जाता है। उसे निकाल दें तो शेष २० यूपों में प्रत्येक में १६–१६ पशु नियुक्त होते हैं, जो कुल मिलाकर २०×१६ =३२० हुए। एवं २० यूपों में पशुओं की चार अशीतियां हुई। इस अभि-प्राय: से ८० होम कहे गये हैं। इक्कीसवें अग्निष्ठ यूप में नियुक्त अश्व, तूपर (शृंगरहित छाग) तथा गोमृग (गवय) ये ही यज्ञ की तीन समिधाएं हैं। वषट्कर्ता सात ऋत्विज् ही सात होता हैं। यह अश्वमेधीय कर्मकाण्ड-पद्धति का अनुसरण करने वाली व्याख्या हुई।

दूसरी जीवन-यात्रापरक सुन्दर व्याख्या हो सकती है। मनुष्य का जीवन एक यज्ञ है[३८]। छह ऋतुएं ही इस यज्ञ के ६ स्थितिस्थान या पड़ाव हैं। यात्रा के प्रत्येक वर्ष में ६-६ पड़ाव करने होते हैं। जीवन के १०० वर्ष ही सौ अक्षर या ॐकार पाठ हैं। अन्त के ८० वर्ष होम हैं, क्योंकि प्रारम्भ के २० वर्ष तो अपने आपको परिपक्व करने के होते हैं, वे होम के नहीं, किन्तु होम की तैयारी के होते हैं। छः या आठ वर्ष का बालक आचार्य के समीप विद्याध्ययन के लिए आता है, चौदह या बारह वर्ष अध्ययन कर २० वर्ष का स्नातक बन जाता हैं। उसके पश्चात् वह सामाजिक हित के कार्यों में अपना होम करने लगता है। एवं १०० वर्ष की पूर्णायु हो तो ८० वर्ष होम के हुए। शरीर, मन एवं प्राण तीन समिधाएं हैं, जिनसे यज्ञ प्रदीप्त होता है। पांच ज्ञानेन्द्रियां मन और बुद्धि ये सात इस यज्ञ के होता हैं[३९]। एवं यह शतसंवत्सर यज्ञ चलता है।

---

३८. द्रष्टव्य: 'पुरुषो वाव यज्ञ:' आदि प्रकरण। छा. उ. ३. १६

३९. तुलनीय: पुरुषो वै यज्ञ:, तस्य......मन एवं ब्रह्मा, प्राण उद्गाता, अपान: प्रस्तोता, व्यान: प्रतिहर्ता, वाग् होता, चक्षु: अध्वर्यु:, प्रजापति: सदस्य:, अंगानि होत्राशंसिन:, आत्मा यजमान:। गो. ब्रा., उ० ५. ४

इस भुवन की नाभि आदि कौन जानता है?

को अस्य वेद भुवनस्य नाभिं को द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्।
कः सूर्यस्य वेद बृहतो जनित्रं को वेद चन्द्रमसं यतोजाः॥
वेदाहमस्य भुवनस्य नाभिं वेद द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्।
वेद सूर्यस्य बृहतो जनित्रमथो वेद चन्द्रमसं यतोजाः॥

यजु २३. ५९,६०

प्रश्न—कौन इस भुवन की नाभि को जानता है? कौन द्यावापृथिवी तथा अन्तरिक्ष को जानता है? कौन महान् सूर्य की उत्पत्ति को जानता है? कौन चन्द्रमा के विषय में जानता है कि कहां से वह उत्पन्न होता है?

उत्तर—मैं इस भुवन की नाभि को जानता हूँ, द्यावापृथिवी तथा अन्तरिक्ष को जानता हूं, महान् सूर्य की उत्पत्ति को जानता हूं, और यह भी जानता हूं कि चन्द्रमा कहां से उत्पन्न होता है।

प्रश्नकर्ता ने पूछा था, 'कौन जानता है'। उसी के अनुरूप उत्तर दिया गया है। उत्तर देने वाला आत्मविश्वास के साथ कहता है, मैं जानता हूं, मैंने सब अध्ययन किया हुआ है। अहम् से अभिप्राय ज्ञानी आत्मा या परमात्मा भी हो सकता है। पहला प्रश्न इस भुवन की नाभि के सम्बन्ध में है। वेदों में इस भुवन (पृथिवी) की नाभि सूर्य कही गयी है[४०]। इस भुवन से अभिप्राय शरीर लें तो इसकी नाभि प्राण है, क्योंकि प्राण से ही शरीर के अंग-प्रत्यंग बंधे रहते हैं (नह बन्धने)। फिर द्यावापृथिवी तथा अन्तरिक्षविषयक प्रश्न हैं, जिसमें अधिदैवत, अधिभूत, अध्यात्म आदि दृष्टियों से ये क्या हैं, इनमें परस्पर क्या सम्बन्ध है इत्यादि ज्ञान आ जाता है। अधिदैवत में सूर्य से अधिष्ठित ऊर्ध्वलोक द्यौ हैं, अग्नि से अधिष्ठित भूलोक पृथिवी है और वायु या इन्द्र से अधिष्ठित मध्यलोक अन्तरिक्ष है[४१]। अधिभूत में पति-पत्नी[४२] क्रमशः द्यावापृथिवी हैं तथा सन्तान उनके मध्य का अन्तरिक्ष है। अध्यात्म में अन्नमय कोश पृथिवी, मनोमय कोश द्यौ तथा मध्यवर्ती प्राणमय कोश अन्तरिक्ष है[४३]। ये तीनों लोक परस्पर एक सूत्र में ओतप्रोत रहते हैं। फिर महान्

---

४०. वैश्वानर नाभिरसि क्षितीनाम्। ऋग् १.५९.२

४१. निरु० ७. ५

४२. अथर्व १४. २. ७१

४३. आर्षोऽयं त्रैलोक्यविभागः भूमिरन्तरिक्षं द्यौरिति। इदं च बाह्यं भुवनत्रयं तत्सदृशस्य आन्तरस्य त्रिकस्य संकेतभूतम् अवगन्तव्यम्। तत्र भूरित्ययं लोकः भौतिक इन्द्रियार्थः अन्नमयाख्यस्थूलजाग्रत्प्रज्ञाविशेषभूमेः संकेतो

सूर्य तथा चन्द्रमा की उत्पत्ति का प्रश्न है। वेद में महान् सूर्य की उत्पत्ति अदिति से बतायी गयी है[४४]। यह अदिति वह विशाल नीहारिका होगी जिससे सूर्य का जन्म हुआ। सूर्य को द्यौ का पुत्र[४५] भी कहा है। समुद्र से भी इसका जन्म बताया गया है[४६]। पुरुषसूक्त में इसका जन्म विराट् पुरुष के नेत्रों[४७] से बताया गया है। वहीं चन्द्रमा की उत्पत्ति उस पुरुष के मन से बतायी है[४८]। चन्द्रमा सूर्य या पृथिवी का पुत्र भी[४९] है। चन्द्रमा की उत्पत्ति के प्रश्न से यदि उसके नित्य नवीन रूप में उदित होने का अभिप्राय लिया जाए तो इसका उत्तर है कि सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित[५०] हो यह प्रतिदिन नया-नया जन्म लेता है, क्योंकि जितने भाग पर सूर्य का प्रकाश पड़ता है उतना भाग ही हमें प्रकाशित दीखता है। चन्द्र पर पड़ने वाले इस सूर्यप्रकाश को वेद में सुषुम्ण रश्मि[५१] कहा है।

पृथ्वी का सबसे अन्तिम छोर कौन सा है ?

पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः।
पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमं व्योम ॥
इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।
अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥
यजु. २३. ६२, ६३

भवति। बहिर्भुवनानपेक्षस्य स्वतन्त्रतयावस्थितस्य शुद्धमनस्तत्त्वप्रधानस्य प्रज्ञाविशेषस्य द्यौः संकेतो भवति। उभयोर्द्यावापृथिव्योर्मध्यवर्ती उभयोरन्नमयमनोमयप्रज्ञाविशेषयोः सन्धिभूतः प्राणः प्रज्ञागर्भितशक्तिविशेषः भुव इत्यन्तरिक्षेण संकेतितो भवति। कपाली शास्त्री, ऋग्वेदसंहिता, सिद्धाञ्जनभाष्य, १म भाग, १९५०, पृ० २६, २७।

४४. ऋग् १०. ७२. ८
४५. दिवस्पुत्राय सूर्याय शंसत। ऋग् १०. ३७. १
४६. समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारत् (ऋग् ४. ५८. १) इत्यादित्यमुक्तं मन्यन्ते। 'समुद्राद्ध्येषो ऽद्भ्य उदेति' इति च ब्राह्मणम्। निरु० ७.१७
४७. चक्षोः सूर्यो अजायत। ऋग् १०. ९०. १३
४८. चन्द्रमा मनसो जातः। वही
४९. ऋग् ९. ९. ३
५०. अधित्विषीरधित सूर्यस्य। ऋग् ९. ७१. ९; स सूर्यस्य रश्मिभिः परिव्यत। ऋग् ९. ८६. ३२
५१. सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः। यजु १८. ४०। निरु २. ६. भी द्रष्टव्य।

प्रश्न—मैं तुझसे पृथ्वी का परम अन्त पूछता हूं। मैं यह पूछता हूं कि भुवन की नाभि कहां है। मैं तुझसे पूछता हूं कि वृषा अश्व का रेतस् क्या है, और यह पूछता हूं कि वाणी का परम व्योम क्या है।

उत्तर—यह वेदि पृथ्वी का परम अन्त है, यह यज्ञ भुवन की नाभि है। यह सोम वृषा अश्व का रेतस् है, यह ब्रह्मा वाणी का परम व्योम है।

क्या तुम पृथिवी को पार कर स्वर्गलोक को पहुँचना चाहते हो, इस लिए पूछ रहे हो कि पृथिवी का अन्त कहां है? चलते चले जाओ, कहीं भी पृथिवी का छोर नहीं मिलेगा, क्योंकि वह गोलाकार है। वस्तुतः यह वेदि ही पृथिवी-लोक को पार कर मोक्षधाम पहुंचने का परम साधन है। तुम पूछते हो भुवन की नाभि या केन्द्र कहां है? यह यज्ञ ही भुवन की नाभि या केन्द्र है। यदि यज्ञ की भावना इस भुवन से निकल जाये तो सब अस्तव्यस्त हो जाये, असन्तुलित हो जाये। यज्ञरूप केन्द्र के बिन्दु के चारों ओर ही सारा ब्रह्माण्ड घूम रहा है। सूर्य, चन्द्र, सितारे, ऋतु, संवत्सर, बड़े-बड़े राष्ट्र आदि सब यज्ञ-भावना से ही चल रहे हैं। तुम पूछते हो वृषा अश्व का, वर्षक पर्जन्य का[५२] रेतस् या सार क्या है? ओषधियों का राजा सोम ही उसका रेतस् या सार है। पर्जन्य ने बरस कर भूमि पर जो सर्वोत्कृष्ट सार-वस्तु उत्पन्न की है वह सोम ही है, जिसका यज्ञ में व्यवहार होता है। फिर तुम पूछते हो वेद-वाणी का परम व्योम क्या है? निःसन्देह वेदवाणियां विविध विषयों का प्रतिपादन करती हैं, पर उनका परम व्योम, चरम प्रतिपाद्य विषय तो ब्रह्म ही है[५३]।

सामवेद के प्रश्नोत्तर

सामवेद में विशेष प्रश्नोत्तर नहीं पाये जाते। तो भी ऐन्द्र पर्व के एक सुन्दर प्रश्नोत्तर का उल्लेख यहाँ किया जाता है।

बहुत सी गर्दनों वाला युवा वृषभ कहां है?

क्व ३स्य वृषभो युवा तुविग्रीवो अनानतः।
ब्रह्मा कस्तं सपर्यति ॥ साम पू० २. ३. ७

प्रश्न—वह बहुत सी ग्रीवाओं वाला, किसी के आगे न झुकने वाला युवा वृषभ कहां है? और कौन ज्ञानी उसकी पूजा करता है?

---

५२. वृषा अश्व=पर्जन्य। ऋग् ५. ८३. ६

५३. तुलनीयः ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त इमे समासते ॥
ऋग् १. १६४.३९

यह मन्त्र पहेली भी है और प्रश्नोत्तर भी। यह वृषभ इन्द्र है। यहाँ दो प्रश्न किये हैं। इन्द्र चर्मचक्षुओं से दिखाई नहीं देता, अतएव कई यह कहते हैं कि इन्द्र है ही नहीं[५४], परन्तु आस्तिक लोग निश्चित रूप से उसकी सत्ता बताते हैं कि वह सुखादि की वर्षा करने वाला (वृषभ) है, नित्य तरुण (युवा) है, बहुत सी ग्रीवाओं वाला अर्थात् बहूपदेष्टा (तुविग्रीव) है, और किसी से पराजित न होने वाला (अनानत) है। उसके विषय में प्रश्न उठाया है कि यदि वह है तो बताओ कहां है ? दूसरा प्रश्न यह किया है कि यदि वह है भी तो जो निराकार है, नेत्रों से दीखता नहीं, जिसका त्वचा से स्पर्श नहीं होता, जो श्रोत्र से सुनाई नहीं देता, रसना से जिसका स्वाद नहीं लिया जा सकता, नासिका से जिसे सूंघा नहीं जा सकता, ऐसे देव की पूजा भला कौन कर सकता है ? दोनों प्रश्नों का एक साथ ही श्लिष्ट वाणी में उत्तर दिया गया है।

उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्।
धिया विप्रो अजायत ॥ साम पु० २. ३. ८

उत्तर—पर्वतों के एकान्त प्रदेश में तथा नदियों के संगम पर वह रहता है, अर्थात् उसकी अनुभूति करने के लिए ऐसे शान्त, पवित्र वातावरण की आवश्यकता हैं। साथ ही ध्यान द्वारा जो ज्ञानी हो गया है वही उसकी पूजा करने योग्य होता है।

अथर्ववेद के प्रश्नोत्तर

अब हम अथर्ववेद के प्रश्नोत्तरों पर दृष्टिनिक्षेप करते हैं, जो पर्याप्त रोचक तथा ज्ञानवर्धक हैं।

गौ, एकऋषि, धाम, आशीष आदि क्या हैं ?

को नु गौः क एकऋषिः किमु धाम का आशिषः।
यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकतुः कतमो नु सः ॥
एको गौरेक एकऋषिरेकं धामैकधाशिषः।
यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकतुर्नातिरिच्यते ॥ अथर्व ८. ९. २५, २६

प्रश्न—गौ कौन है ? एक-ऋषि कौन है ? धाम क्या है ? आशीर्वाद कौन से हैं ? पृथिवी पर जो एक ही यक्ष है, वह कौन सा है ? एक ऋतु कौन सी है ?

---

५४. नेन्द्रो अस्तीति नेम उ त्व आह क ईं ददर्श कमभिष्टवाम।
ऋग् ८. १००. ३

उत्तर–एक ही गौ है, एक ही एक-ऋषि है, एक ही धाम है, एक ही प्रकार के आशीर्वाद होते हैं। यक्ष पृथिवी पर एक ही है। एक ही ऋतु है, अधिक नहीं।

प्रश्न यह था कि गौ कौन है, एकऋषि कौन है आदि। तदनुसार उत्तर में नामोल्लेख होना चाहिये था कि अमुक गौ है, अमुक एकऋषि है। परन्तु स्पष्ट निर्देश न कर वेद उत्तर में केवल इतना संकेत करता है कि गौ, एकऋषि आदि एक-एक ही हैं। शेष उत्तर की पूर्ति वेद प्रश्नकर्ता जिज्ञासु पर ही छोड़ देता है कि वह अपनी बुद्धि को प्रेरित करे और निश्चित उत्तर तक पहुंचे। एक सूत्र यहां पकड़ा दिया गया, अन्य सूत्र वेद में ही इतस्ततः मिल जाते हैं। उन्हें गृहीत कर निश्चित परिणाम पर पहुँच जाना कठिन नहीं है। वेद की यह शिक्षण-शैली कई स्थानों पर मिलती है तथा शिक्षामनोविज्ञान की दृष्टि से विशेष ध्यान देने योग्य है। यहाँ गो शब्द पुल्लिङ्ग व्यवहृत हुआ है। यह एक गौ अर्थात् बैल सूर्य है[५५]। यद्यपि इस सौर जगत् में अन्य भी गो या वृषभ हैं, यथा पर्जन्य, अग्नि, बैल पशु आदि, तथापि सर्वप्रमुख वृषभ सूर्य ही है। अध्यात्म में यह वृषभ प्राण होगा, जो शरीररूपी शकट को खींचता है[५६]। एकऋषि शरीर में आत्मा एवं ब्रह्माण्ड में परमात्मा है। ऋषि का अर्थ द्रष्टा[५७] होता है। शरीर में मन, चक्षु, श्रोत्र आदि; राष्ट्र में राजा, अमात्य आदि; ब्रह्माण्ड में सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि भी यद्यपि ऋषि हैं, किन्तु परम ऋषि आत्मा या परमात्मा ही है। एक धाम मोक्षधाम है, जो अन्य अनेकों लौकिक धामों मे श्रेष्ठ है। आशीर्वाद भी एक ही होता है, वह है स्वस्ति[५८] का आशीर्वाद। यद्यपि दीर्घायु होने, सौभाग्यवान् होने, तेजस्वी होने, ऐश्वर्यशाली होने आदि के अनन्त आशीर्वाद हो सकते हैं, परन्तु उन सबमें स्वस्ति अन्तर्निहित होता है। यक्ष (पूजनीय) भी पृथिवी पर एक ही है, वह है परमेश्वर। यद्यपि माता, पिता, अतिथि, गुरुजन आदि अनेक पूजनीय हैं, तो भी वह पूजनीयों का

---

५५. गौः आदित्यो भवति। निरु २. १४

५६. प्राणो हि गौः। शत. ४. ३. ४. २५
अनड्वान् प्राण उच्यते। अथर्व ११. ४. १३

५७. ऋषिर्दर्शनात्। निरु. २. ११

५८. स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः अथर्व १. ३१. ४। स्वर्यन्तु यजमानाः स्वस्ति, वही ४. १४. ५। स्वस्ति न इन्द्रो मघवान् कृणोतु, वही ७. ९१ १। कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति, वही ८.२.११।

भी पूजनीय एवं परम यक्ष है[५९]। फिर, एक ही ऋतु है, अधिक नहीं। यह ऋतु संवत्सर है। यद्यपि वेद के अनुसार ऋतुओं की संख्या वर्गीकरणों के भेद से बारह, सात, छः, पांच, चार, तीन, दो एक और अहोरात्रों की दृष्टि से ३६० या ७२० होती है, तो भी संवत्सररूप एक ऋतु ही प्रधान है[६०]। ऐसी सौ ऋतुओं से मनुष्यों का शतसंवत्सर जीवन-यज्ञ बनता है[६१]।

अथर्ववेद के केनसूक्त (१०.२) में भी कुछ प्रश्नोत्तर मिलते हैं।

किसकी कृपा से श्रोत्रिय आदि मिलते हैं ?

केन श्रोत्रियमाप्नोति केनेमं परमेष्ठिनम्
केनेममग्निं पूरुषः केन संवत्सरं ममे ॥
ब्रह्म श्रोत्रियमाप्नोति ब्रह्मेमं परमेष्ठिनम् ।
ब्रह्मेममग्निं पूरुषो ब्रह्म संवत्सरं ममे ॥ अथर्व १०. २. २०, २१

प्रश्न - किसकी कृपा से पुरुष श्रोत्रिय गुरु को प्राप्त करता है, किसकी कृपा से परमेष्ठी को प्राप्त करता है, किसकी कृपा से अग्नि को प्राप्त करता है, किसकी कृपा से संवत्सर को मापने में समर्थ होता है ?

उत्तर - ब्रह्म की कृपा से[६२] पुरुष श्रोत्रिय गुरु को प्राप्त करता है, ब्रह्म की कृपा से अग्नि को प्राप्त करता है और ब्रह्म की ही कृपा से संवत्सर को मापने में समर्थ होता है।

अज्ञान तथा मोह के अन्धकार से पार कर दिव्य ज्ञान एवं विवेक के प्रकाश में पहुँचा देने वाले, मुक्तिमार्ग के प्रदर्शक श्रोत्रिय गुरु विरलों को ही मिल पाते हैं। जिन पर परब्रह्म की कृपा होती है, वे ही ऐसे परम निष्णात गुरु को प्राप्त करते हैं। जगत्प्रपंच से मन को विमुख कर अन्तर्मुख हो परमेष्ठी आत्मा का दर्शन करने वाले भी संसार में वे ही होते हैं, जिन पर परब्रह्म कृपा करते हैं। कठोपनिषद् के नचिकेता के समान अग्नि-विद्या या यज्ञ के रहस्य को हृदयंगम भी वे ही करते हैं जिन पर परब्रह्म की कृपादृष्टि होती है।

---

५९. महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे। अथर्व १०.७.३८

६०. द्रष्टव्य: निरु ४. २७। ऋषभो वा एष ऋतूनां यत् संवत्सरः। तै. ब्रा. ३. ८. ३. ३

६१. द्रष्टव्य: सातवलेकरकृत अथर्ववेदभाष्य में इस प्रश्नोत्तर की व्याख्या।

६२. ब्रह्म=ब्रह्मणा। सुपां सुलुग् पा० ७ १. ३९ से तृतीया विभक्ति का लुक् होकर यह रूप बना है।

इसी प्रकार एक-एक संवत्सर को मापते हुए जीवन के शत-संवत्सर-यज्ञ को सकुशल पार करने वाले भी ब्रह्म-कृपा-प्राप्त पुरुष ही होते हैं[63]।

किससे देवों में वास योग्य होता है?

केन देवाँ अनुक्षियति केन दैवजनीर्विशः ।
केनेदमन्यन्नक्षत्रं केन सत् क्षत्रमुच्यते ॥
ब्रह्म देवाँ अनुक्षियति ब्रह्म दैवजनीर्विशः ।
ब्रह्मेदमन्यन्नक्षत्रं ब्रह्म सत् क्षत्रमुच्यते ॥ अथर्व १०. २. २२, २३

प्रश्न - किससे मनुष्य देवों में वास करने योग्य होता है, किससे दैवजनी प्रजाओं में वास करने योग्य होता है? किससे ये अन्य (क्षत्रियभिन्न) मनुष्य 'नक्षत्र' कहाते हैं?

उत्तर - ब्रह्म ही है जिसकी कृपा से मनुष्य देवों (उच्च जनों) में वास करने योग्य होता है। ब्रह्म ही है जिसकी कृपा से दैवजनी प्रजाओं[64] में वास करने योग्य होता है। ब्रह्म ही है जिसकी व्यवस्था से क्षत्रियेतर ब्राह्मणादि वर्ण 'न-क्षत्र' कहाते हैं। ब्रह्म ही है जिसकी व्यवस्था से कुछ लोग श्रेष्ठ क्षत्रिय कहाते हैं[65]?

भूमि, आकाश आदि किसने बनाये?

केनेयं भूमिर्विहिता केन द्यौरुत्तरा हिता ।
केनेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम् ॥
ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्म द्यौरुत्तरा हिता ।
ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम् ॥ अथर्व १०. २.२४, २५

प्रश्न - किसने यह भूमि रची है? किसने ऊपर द्युलोक को निहित किया है? किसने इस विस्तीर्ण अन्तरिक्ष को ऊर्ध्व तथा तिरछे स्थापित किया है?

उत्तर - ब्रह्म ने भूमि रची है। ब्रह्म ने ऊपर द्युलोक को निहित किया है। ब्रह्म ने ही ऊर्ध्व तथा तिरछे इस विस्तीर्ण अन्तरिक्ष को स्थापित किया है।

---

६३. तुलनीय : मु० २.४।

६४. दैवजनीः विशः=यज्ञ, परोपकार आदि द्वारा देवजनों का हित करने वाली प्रजाएं। देवजनेभ्यो हिता दैवजन्यस्ताः।

६५. क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रुढः। रघुवंश २. ५३। जो आपत्तियों से रक्षा करे वह क्षत्र, तथा तदितर वर्ण 'न-क्षत्र' हुए।

अथर्व. ११. ८ में सृष्ट्युत्पत्ति का अलंकारमय वर्णन करते हुए निम्न प्रश्नोत्तर हुए हैं–

ब्रह्म के विवाह में घराती-बराती कौन ?

यन्मन्युर्जायामावहत् संकल्पस्य गृहादधि ।
क आसं जन्याः के वरा क उ ज्येष्ठवरोऽभवत् ।
तपश्चैवास्तां कर्म च–अन्तर्महत्यर्णवे ।
त आसं जन्यास्ते वरा ब्रह्म ज्येष्ठवरो ऽभवत् ।। अथर्व ११. ८. १, २

प्रश्न - जब मन्यु संकल्प के घर में से जाया को लाया, उस समय घराती कौन थे वराती कौन थे और ज्येष्ठ वर कौन था ।

उत्तर - महान् अर्णव के अन्दर तप तथा कर्म विद्यमान थे । वे ही घराती एवं बराती थे । ब्रह्म ज्येष्ठ वर था ।

यहां परमात्मा तथा प्रकृति के विवाह का आलंकारिक वर्णन है । परमात्मा के अन्दर सृष्ट्युत्पत्ति के लिए जाया की इच्छा हुई । उसने संकल्प किया और जाया मिल गयी, मानों संकल्प के घर में जाया को ले आया ।' ब्रह्म इस विवाह में ज्येष्ठ वर था, तप घराती थे, कर्म वराती थे । तप का अर्थ है स्रष्टव्यपर्यालोचनात्मक ज्ञान[६६] । ब्राह्मणग्रन्थों में इस ईश्वरीय तप का आलंकारिक चित्रण करते हुए कहा गया है कि उसने इतना घोर तप किया कि उसके ललाट मे स्वेदधारायें प्रवाहित होने लगीं[६७] । यह ईश्वरीय तप ही ब्रह्म के विवाह में घराती थे । साथ ही जीवात्माओं के पूर्व जन्मोपार्जित शुभाशुभ कर्मसंस्कार भी उनके साथ विद्यमान थे, जिनका फल देने के लिए सृष्टि की आवश्यकता थी, ये ही वराती थे ।

शरीर के अंगों को किस ऋषि ने जोड़ा ?

ऊरू पादावष्ठीवन्तौ शिरो हस्तावथो मुखम् ।
पृष्टीर्बर्जह्ये पार्श्वे कस्तत् समदधाद् ऋषिः ।।
शिरो हस्तावथो मुखं जिह्वा ग्रीवाश्च कीकसाः ।
त्वचा प्रावृत्य सर्वं तत् संधा समदधान्मही ।। अथर्व ११. ८. १४, १५ ।

प्रश्न - जांघ, पैर, घुटने, सिर, हाथ, मुख, पसलियां, हंसली, पार्श्व, शरीर के इन सब अंगों को किस ऋषि ने जोड़ा है ?

---

६६. यस्य ज्ञानमयं तपः । मु० १.९

६७. गो० ब्रा., पू० १. १,२

उत्तर - सिर, हाथ, मुख, जिह्वा, गर्दन के मोहरे, पीठ के मोहरे आदि शरीर के सब अंगों को त्वचा से ढक कर महती संधा देवी (जोड़ने वाली ईश्वरी शक्ति) ने जोड़ा है।

शरीर में रंग किसने भरा ?

यत् तच्छरीरमशयेत् संधया संहितं महत् ।
येनेदमद्य रोचते को अस्मिन् वर्णमाभरत् ॥
सर्वे देवा उपाशिक्षन् तदजानाद् वधूः सती ।
ईशा वशस्य या जाया सास्मिन् वर्णमाभरत् ॥ अथर्व. ११. ८. १६, १७

प्रश्न—संधा देवी से जोड़ा हुआ जो महान् शरीर शयन कर रहा था, उसमें वह रंग किसने भरा, जिसके कारण यह आज रोचमान हो रहा है।

उत्तर—शरीर में स्थित सब (प्राणादि) देवों ने (रंग भरने की) प्रार्थना की। उसे सती वधू ने जान लिया। कमनीय परमेश्वर की जो अधीश्वरी जाया (प्रकृति) थी, उसी ने इसमें रंग भरा।

अथर्व १२.४ में वशा गौ को ब्राह्मणों के लिए दान करने का विधान किया गया है तथा उसका महाफल भी वर्णित किया है। इस प्रसंग में निम्न प्रश्नोत्तर हम पाते हैं।

किस गाय का दूध-घी आदि अब्राह्मण न खाये ?

कति नु वशा नारद यास्त्वं वेत्थ मनुष्यजाः ।
तास्त्वा पृच्छामि विद्वांसं कस्या नाश्नीयादब्राह्मणः ॥
विलिप्त्या बृहस्पते या च सूतवशा वशा ।
तस्या नाश्नीयादब्राह्मणो य आशंसेत भूत्याम् ॥

अथर्व १२.४.४३,४४

प्रश्न—हे नारद कितनी वशाएं हैं, जिन्हें तुम मनुष्यज (पालतू) जानते हो ? तुम विद्वान् हो, अतः उनके विषय में मैं तुमसे पूछता हूँ कि उनमें से किसके दूध, घी आदि का अब्राह्मण भक्षण न करे।

उत्तर—हे बृहस्पति, वशाओं के तीन रूप हैं, एक विलिप्ती, दूसरी सूतवशा, तीसरी वशा। जो ब्राह्मण समृद्धि चाहता है, उसे इन तीनों के ही दूध-घी का स्वयं भक्षण नहीं करना चाहिए (किन्तु इन्हें ब्राह्मणों को दान कर देना चाहिये)[६८]।

---

६८. तुलनीय : त्रीणि वै वशाजातानि विलिप्ती सूतवशा वशा । ताः प्रयच्छेद् ब्रह्मभ्यः सोऽनाव्रस्कः प्रजापतौ ॥ अथर्व .१२.४.४७

जो ब्राह्मण कुलपति वन गुरुकुलों व आश्रमों का संचालन करते हैं तथा अगणित छात्रों को विद्याध्ययन कराते हैं उन्हें उत्तम गौओं की आवश्यकता होती है। सद्‌गृहस्थों को चाहिए कि जो उनके पास विशेष उत्तम गौए हों उनका दान करें[६९]; ऐसा समझें कि ब्राह्मण ही उनके दूध, घी आदि के अधिकारी हैं, हम नहीं। प्रश्न किया गया है कि ऐसी गौंएं कितनी हैं। उत्तर में ऐसी तीन गौएं बतायी गयी हैं–विलिप्ती, सूतवशा और वशा। विलिप्ती वह है जिसके दूध में घी बहुत निकलता है। सूतवशा वह है जो उत्तम नस्ल की बछड़ियां ही बछड़ियां देती है। वह आश्रमों के लिए विशेष उपयोगी है, क्योंकि उससे दूध के लिए अधिक गौएं प्राप्त होंगी। ऐसी गौं कृषि व व्यापार करने वाले गृहस्थों के काम की नहीं होती, क्योंकि उन्हें बछड़ों की भी आवश्यकता होती है। वशा वह गौं है जो अपनी किन्हीं अन्य विशेषताओं के कारण चाहने योग्य है[७०]।

फिर प्रश्न किया गया है कि इन तीनों में से भी ऐसी कौन सी है जिसे दान न करना अति भयंकर परिणाम वाला होता है।

किस गाय का दान अवश्य करे ?

नमस्ते अस्तु नारदानुष्ठु विदुषे वशा।
कतमासां भीमतमा यामदत्त्वा पराभवेत्॥ अथर्व १२.४.४५

प्रश्न–हे नारद, आपको नमस्कार हो। आप जैसे विद्वान् को अवश्य गौ मिलनी चाहिये। अब कृपया यह बताइये कि उक्त तीनों में से दान न करने पर भीमतम कौनसी होती है, जिसे दान न करने से मनुष्य पराभूत हो जाता है ?

इस मन्त्र का यथार्थ उत्तर इससे पहले के ४१वें मन्त्र में है–

या वशा उदकल्पयन् देवा यज्ञादुदेत्य।
तासां विलिप्त्यं भीमामुदाकुरुत नारदः॥ अथर्व १२.४.४१

---

६९. द्रष्टव्यः सातवलेकर–अथर्ववेदभाष्य, तृतीय खण्ड, १९३५, पृ. १५९।
७०. विलिप्ती=जो अधिक घी देने वाली गौ है (सातवलेकर, अथर्वभाष्य)। सूतवशा=सूता उत्पादिता वशा वत्सतर्यो यया सा (जो बछड़ियां ही ब्याती है)। वशा=उश्यते काम्यते या सा (वह गौ जो प्रचुर दूध देना आदि गुणों के कारण चाहने योग्य है, वश कान्तौ)। कहीं वशा वन्ध्या गौं को तथा सूतवशा उस गौ को भी कहा है जो एक बछड़ा जनने के बाद वन्ध्या हो जाती है, पर यह इसका सार्वत्रिक अर्थ नहीं है। द्रष्टव्य : 'वैदिक इण्डैक्स' में इन शब्दों का विवेचन।

उत्तर—देवों ने यज्ञ से उठ कर जिन वशाओं को उत्कृष्ट कल्पित किया था, उनमें से विलिप्ती को नारद (दान न करने पर) भयंकर अनुभव करता है, अर्थात् कम से कम विलिप्ती का तो दान करना ही चाहिये।

तुलनात्मक विचार

चारों वेदों के उपर्युक्त प्रश्नोत्तरों का विश्लेषण करने पर यजुर्वेद के प्रश्नोत्तरों में निम्न विशेषतायें दृष्टिगोचर होती हैं।

१. वे ऐसे अवसरों के लिए हैं जब कोई परीक्षा या दूसरे के ज्ञान की थाह लेने की दृष्टि से या गम्भीर ज्ञानचर्चा के लिए प्रश्न करता है। जब इस भावना से प्रश्न किया जाता है, तब स्वभावत: प्रश्न का रूप जटिल और पेचीदा होता है। या तो उसके कई उत्तर हो सकते हैं या उत्तर स्फुरित ही नहीं होता। वेद में इस शैली के प्रश्नोत्तर रखने का प्रयोजन ज्ञानवर्धन के साथ-साथ शिष्य या पाठक की बुद्धि का विकास करना है। इन प्रश्नों के अनुकरण पर हम व्यवहार में अन्य प्रश्न भी परस्पर कर सकते हैं। विद्वानों के पारस्परिक प्रश्नोत्तर जिस कोटि के होने चाहियें ये उनके अनुरूप हैं। एकाकी कौन विचरता है (यजु. २३.४५.), समुद्र के समान सरोवर कौनसा है, ऐसी कौनसी वस्तु है जो मापी तोली न जा सके (यजु. २३.४७) आदि प्रश्न छोटे होते हुए भी ऐसे हैं जिनका उतर देने के लिए मस्तिष्क को प्रेरित करना पड़ता है। उत्तर भी प्रश्नों के सर्वथा अनुरूप विद्वत्तापूर्ण तथा वेजोड़ बन पड़े हैं। जो मापी-तोली न जा सके ऐसी वस्तु हिमालय, सागर, सूर्य आदि न बतला कर गौ बतलायी गयी है, इसमें कितना स्वारस्य है। स्थूल दृष्टि से तो गौ की अपेक्षा हिमालय आदि अधिक अपरिमेय हैं, गौ को तो बड़ी आसानी से मापा भी और तोला भी जा सकता है, तो भी गौ उत्तर देने में ही चमत्कार है।

२. वे प्रहेलिकात्मक पुट को लिये हुए हैं। जैसे 'सबसे बड़ा पक्षी कौन है' इस प्रश्न का उत्तर दिया है 'घोड़ा सबसे बड़ा पक्षी है' (यजु.२३.५३,५४)। यह उत्तर अपने आप में एक पहेली है। ऐसा उत्तर देकर उत्तरदाता मानो प्रश्नकर्ता को चुनौती दे रहा है कि लो, और पूछो। देख लो बुद्धि में कौन अधिक है।

३. उनमें कुछ प्रश्न ऐसे हैं, जिनमें प्रश्न का रूप अपने आप में स्पष्ट नहीं है। उत्तरदाता को प्रश्न का स्वरूप समझना तथा उत्तर देना दोनों कार्य करने पड़ते हैं। यथा, 'पिशंगिला कौन है ? कुरुपिशंगिला कौन है ?' (यजु २३.५५) इन प्रश्नों में पिशंगिला तथा कुरुपिशंगिला शब्द अस्पष्ट हैं।

उत्तर देने वाला प्रथम इनके अर्थों का अनुसन्धान करने में अपनी बुद्धि लगायेगा, फिर उत्तर देने में।

४. उनके उत्तर अनेकार्थकता को लिये हुए हैं। उनमें स्थूल अर्थ के पीछे गम्भीर अर्थ अन्तर्निहित है। जैसे 'शश उछल-उछल कर चलता है, अहि रास्ते पर तेजी से सरकता है' (यजु २३.५६), यहां खरगोश तथा सर्प इन स्थूल अर्थों में ही परिसमाप्ति नहीं हो जाती, किन्तु पूर्व व्याख्यानुसार अन्य सूक्ष्म अर्थ भी ग्राह्य होते हैं, अन्यथा 'खरगोश उछल-उछल कर चलता है' यह उत्तर तो सामान्य मनुष्य भी दे सकता है, उसमें विद्वत्ता या कौशल क्या हुआ ?

इसकी तुलना में ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के प्रश्नोत्तर प्रायः सामान्य कोटि के हैं। उनमें दूसरे की विद्वत्ता की थाह लेने या दूसरे पर अपनी विद्वत्ता का सिक्का बैठाने की प्रवत्ति कार्य नहीं कर रही है। किसी प्रसंग में कोई जिज्ञासा उठी है तो उसके सामाधानार्थ प्रश्न कर दिया गया है। जैसे, "सोमरस के मद में आकर इन्द्र क्या करता है ? (ऋग् १.१६४.१), पुरुष का ध्यान करते समय देवजनों ने उसके मुखादि की क्या कल्पना की ? (ऋग् १०.९०.११), कुमार अनुदेयी कैसे हुआ या उसका जन्म कैसे हुआ ?" (ऋग् १०.१३५.५), ये ऋग्वेद के तथा "यह भूमि किसने रची है ? (अथर्व १०.२.२४), ब्रह्म जाया को लाया तो घराती, वराती व ज्येष्ठ वर कौन थे ? (अथर्व ११.८.१), शरीर के अंगों को किस ऋषि ने जोड़ा है ?" (अथर्व ११.८.१४) आदि अथर्ववेद के प्रश्न हैं। जिज्ञासा इन प्रश्नों की जननी वनी है तथा जिज्ञासा-शान्ति की दृष्टि से ही उत्तर दिया गया है।

विषय की दृष्टि से अवलोकन करें तो यजुर्वेद के प्रश्नोत्तर यज्ञ तथा प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाले, ऋग्वेद के प्रश्नोत्तर इन्द्र, अग्नि, पुरुष आदि देवों से सम्बन्ध रखने वाले तथा अथर्ववेद के प्रश्न ब्रह्म द्वारा सृष्ट्युत्पत्ति तथा गौ के विषय में हैं। सामवेद में, जैसा हम अभी कह आये हैं, विशेप प्रश्नोत्तर नहीं हैं। जो एक प्रश्नोत्तर दर्शाया गया है उसके प्रश्नपरक तथा उत्तरपरक दोनों मन्त्र ऋग्वेद में भी आये हैं, परन्तु वहां दोनों पृथक् सूक्तों (क्रमशः ८.६४.७ तथा ८.६.२८) में हैं तथा प्रश्नोत्तर का रूप धारण नहीं करते। तो भी सामवेद में अव्यवहित पठित हैं तथा वहां प्रश्नोत्तर का सौन्दर्य निखर उठा है।

इस प्रकार वेदों के प्रश्नोत्तर-प्रकरणों का विवेचन करने से यह स्पष्ट है कि विषय-प्रतिपादन के लिए प्रश्नोत्तर-शैली भी वेद की एक प्रिय शैली है।

षष्ठ अध्याय

प्रेरणात्मक, आश्वासनात्मक तथा आशीर्वादात्मक शैली

१ प्रेरणात्मक शैली

प्रेरणात्मक शैली वह होती है जिसमें किसी को किसी कार्य के लिए साक्षात् रूप से प्रेरणा की जाती है। यह दो प्रकार की है, विध्यात्मक तथा निषेधात्मक। विध्यात्मक में किसी कार्य को करने की प्रेरणा होती है तथा निषेधात्मक में किसी कार्य से पृथक् रहने की प्रेरणा। इसमें सामान्यत: लोट् या विधिलिङ् की क्रिया रहती है अथवा तव्यत् आदि कृत्य प्रत्यय का प्रयोग होता है।

वेदों में यह शैली मध्य-मध्य में विविध स्थलों में उपलब्ध होती है। इस शैली द्वारा वेद मनुष्य को कर्तव्य-पथ पर चलने की एवं निम्न अवस्था से ऊपर उठकर महान् बनने की प्रेरणा करते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, राजा, सेनापति, सैनिक, बृहस्पति, आचार्य, शिष्य, स्त्री, पुरुष, भिषग्, आतुर आदियों को उन-उन के कर्तव्य उपदिष्ट किये गये हैं, तथा उद्‌बोधन दिया गया है। केवल मनुष्य के लिये ही नहीं, किन्तु चेतनत्व का आरोप कर नदी, पर्वत आदि अचेतनों के प्रति भी यह शैली वेदों में व्यवहृत हुई है। नीचे हम इस शैली के पर्याप्त उदाहरण प्रदर्शित करेंगे। कुछ मन्त्रों के देवता यद्यपि इन्द्र, अग्नि, सूर्य आदि हैं तो भी उनका आत्मापरक अर्थ लेकर मनुष्य पक्ष में योजना की गयी है। प्रथम प्रेरणा के विध्यात्मक रूप को लेते हैं।

(क) विध्यात्मक रूप

उद्‌बोधन

प्राणियों में मनुष्य सर्व-श्रेष्ठ है। उसके अन्दर मन, बुद्धि आदि की शक्ति अद्‌भुत है। किन्तु साधारणत: वह अपनी शक्ति को विस्मृत किये रखता है। वह अपनी शक्ति को पहचाने, एतदर्थ उसे उद्‌बोधन की आवश्यकता है। अत एव अनेक वेदमन्त्र उद्‌बोधन-परक हैं, जो भाषा और भाव दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त सजीव तथा स्फूर्तिदायक हैं। कुछ उदाहरण निम्न हैं।

उदीर्ध्वं जीवो असुर्न आगादपप्रागाद् तम आ ज्योतिरेति।
आरैक् पन्थां यातवे सूर्यायागन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः ॥ ऋग्.१.११३.१६

अश्मन्वती रीयते संरभध्वमुत्तिष्ठत प्रतरता सखायाः।
अत्रा जहाम मे असन्नशेवाः शिवान् वयमुत्तरेमाभि वाजान्॥ ऋग् १०.५३.८
उद्बुध्यध्वं समनसः सखायः समग्निमिन्ध्वं बहवः सनीडाः।
दधिक्रामग्निमुषसं च देवीमिन्द्रावतोऽवसे निह्वये वः॥ ऋग् १०.१०१.१

"उठो, जागो, हे भाइयो जीवन और प्राण हमें प्राप्त हुआ है, अन्धकार दूर हो गया है, ज्योति ने पदार्पण किया है, आत्मसूर्य की ऊर्ध्वयात्रा के लिए उसने मार्ग खोल दिया है। हम उस अवस्था में पहुंच गये हैं, जहां आयु ही आयु है। मित्रो, उठो, पथरीली नदी बड़े वेग से वह रही है, मिल कर उद्यम करो, पार हो जाओ। जो अशिव वस्तुएं हैं, उन्हें हम यहीं छोड़ देवें, शिव ऐश्वर्यों को पाने के लिए पार उतर जायें। उठो, साथियो, मनोबल से अनुप्राणित होवो, एक नीड के वासी तुम सब अपने अन्दर 'अग्नि' को प्रदीप्त करो। इन्द्र की अधीनता में रहने वाले तुम सबकी रक्षार्थ मैं उस अग्नि का आह्वान करता हूं, जिसे धारण करते ही मनुष्य क्रियाशील हो जाता है, उस उषा का आह्वान करता हूं, जिससे जीवन ज्योतिर्मय हो जाते हैं।

स्ववृजं हि त्वामहमिन्द्र शुश्रवानानुदं वृषभ रध्रचोदनम्।
प्र मुञ्चस्व परिकुत्सादिहागहि किमु त्वावान् मुष्कयोर्बद्ध आसते॥
ऋग् १०.३८.५

तन्तुं तन्वन् रजसो भानुमन्विहि ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान्।
अनुल्बणं वयत जोगुवामपो मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्॥ ऋग् १०.५३.६

इदं त एकं पर ऊ त एकं तृतीयेन ज्योतिषा सं विशस्व।
संवेशने तन्वश्चारुरेधि प्रियो देवानां परमे जनित्रे॥ ऋग् १०.५६.१

इति चिद्धि त्वा धना जयन्तं मदे मदे अनुमदन्ति विप्राः।
ओजीयो धृष्णो स्थिरमा तनुष्व मा त्वा दभन् यातुधाना दुरेवाः॥
ऋग् १०.१२०.४

"हे वीर, मैंने सुना है कि तू स्वयं अपने को बन्धनों से मुक्त कर सकने वाला है, पराजित न होने वाला है, सफलता पाने वाला है। घातक के हाथ से अपने आपको छुड़ा ले, कूद कर यहां आ जा। क्या तुझ जैसा वीर पाशबद्ध रह सकता है। अपने जीवन का तार फैलाता हुआ तू 'भानु' तक पहुंच जा। ज्ञान से उत्पादित ज्योतिष्मान् पथों की रक्षा कर। इकसार उन कर्म-पटों को बुनता चल, जिन्हें प्रभु के स्तोता बुनते हैं। तू मननशील बन, दैव्य जन को उत्पन्न कर। हे नर, तेरा एक यह भौतिक रूप है, एक परम दिव्य रूप है। भौतिक रूप को ही सर्वस्व मत समझ। तृतीय ज्योति के साथ संगति कर।

इस संगति में स्वरूप से सुन्दर हो, परम जन्म को प्राप्त कर, देवों का प्रिय बन। हे वीर, जब तू वीरता के हर्ष से हर्षित हो ऐश्वर्यों को जीतता है, तब विप्रजन तेरे स्तुतिगीत गाते हैं। हे विजेता, अपने ओजंपूर्ण बल का विस्तार कर। सावधान, दुश्चरित्र यातुधान तुझे तिरस्कृत न कर सकें।"

सं सीदस्व महाँ असि शोचस्व देववीतमः।
वि धूममग्ने अरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतम्॥ यजु ११. ३७
सुपर्णोऽसि गरुत्मान् पृष्ठे पृथिव्याः सीद।
भासान्तरिक्षमापृण ज्योतिषा दिवमुत्तभान तेजसा दिश उद्दृंह॥
यजु १७. ७२

"हे अग्रणी, उत्तम स्थिति लाभ कर, तू महान् है, देवों की प्राप्ति में अद्वितीय है। हे पूजास्पद, हे प्रशस्त, तू अपने प्रताप रूपी दर्शनीय धूम को उत्पन्न कर। तू उत्तम पंखों वाला है, ऊँची उड़ानें लेने वाला है, गुरु आत्मा वाला है। पृथिवी के सिंहासन पर अधिष्ठित हो, अपनी कान्ति से अन्तरिक्ष को परिपूर्ण कर दे, अपनी ज्योति से द्युलोक को थाम ले, अपने तेज से दिशाओं को दृढ़ कर दे।

दूष्या दूषिरसि हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम॥
सूरिरसि वर्चोधा असि तनूपानोऽसि। आप्नुहि०॥
शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि। आप्नुहि०॥ अथर्व २.११.१,४,५
समुद्र ईशे स्रवतामग्निः पृथिव्या वशी।
चन्द्रमा नक्षत्राणामीशे त्वमेकवृषो भव॥
सम्राडस्यसुराणां ककुम्मनुष्याणाम्
देवानामर्धभागसि त्वमेकवृषो भव॥ अथर्व ६. ८६. २, ३

"हे नर, जो शक्ति तुझे दूषित करने आती है, उल्टा उसी को तू दूषित कर देने वाला है। शस्त्र का तू शस्त्र है, वज्र का तू वज्र है। अपने आपको पहचान, श्रेष्ठों तक पहुंच, बराबर वालों से आगे बढ़। हे नर, तू विद्वान् है, वर्चस्वी है, शरीर-रक्षक है। अपने आपको पहचान, श्रेष्ठों तक पहुंच, बराबर वालों से आगे बढ़। हे नर, तू शुद्ध है, भ्राजमान है, आनन्दमय है, ज्योतिष्मान् है। अपने आपको पहचान, श्रेष्ठों तक पहुंच, बराबर वालों से आगे बढ़। हे नर, जैसे समुद्र नदियों का राजा है, अग्नि पृथिवी का राजा है, चन्द्रमा नक्षत्रों का राजा है, वैसे ही तू भी सबका राजा हो जा, सर्वश्रेष्ठ बन जा। तू असुरों पर शासन करने वाला है, मनुष्यों में सर्वोपरि है, देवों का आधा आसन पाने वाला है। तू सबका राजा हो जा, सर्वश्रेष्ठ बन जा।"

वि जिहीष्व लोकं कृणु बन्धान्मुञ्चासि बद्धकम् ।
योन्या इव प्रच्युतो गर्भः पथः सर्वां अनु क्षिय ॥
अथर्व ६.१२१.४

उत्क्रामातः पुरुष माव पत्था मृत्योः पड्वीशमव मुञ्चमानः ।
मा च्छित्था अस्माल्लोकादग्नेः सूर्यस्य संदृशः ॥
उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि ।
आ हि रोहेममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वदासि ॥
अथर्व ८.१.४,६

दिवं च रोह पृथिवीं च रोह राष्ट्रं च रोह द्रविणं च रोह ।
प्रजां च रोहामृतं च रोह रोहितेन तन्वं सं स्पृशस्व ॥
अथर्व १३.१.३४

हरिः सुपर्णो दिवमारुहोऽर्चिषा ये त्वा दिप्सन्ति दिवमुत्पतन्तम् ।
अव तां जहि हरसा जातवेदोऽबिभ्यदुग्रोऽर्चिषा दिवमारोह सूर्य ॥
अथर्व १९.६५.१

"हे मनुष्य, हाथ-पैर मार, संसार में अपना स्थान बना, जो बद्ध हैं, उन्हें बन्धन से मुक्त कर । गर्भाशय से बाहर आये हुए गर्भ के समान तू बन्धन से मुक्त होकर स्वतन्त्रतापूर्वक सब मार्गों में विचर, सब दिशाओं में उन्नति कर। हे पुरुष, इस वर्तमान अवस्था से उन्नति कर, अवनत मत हो, मृत्यु की बेड़ी को काट दे । इस लोक से वियुक्त मत हो, अग्नि एवं सूर्य के संदर्शन से अपने को वंचित मत कर । देख, तेरी उन्नति होनी चाहिए, अधोगति नहीं, तेरे अन्दर मैं जीवन तथा बल को फूंकता हूं । इस अमृतमय सुखगामी 'रथ' पर आरोहण कर तथा चिरंजीव होता हुआ ज्ञानवाणी बोलता रह । तू आकाश में सर्वोपरि हो जा, पृथिवी पर सर्वोपरि हो जा, राष्ट्र में सर्वोपरि हो जा, ऐश्वर्य में सर्वोपरि हो जा, प्रजा में सर्वोपरि हो जा, अमृत-प्राप्ति में सर्वोपरि हो जा, इतना उन्नत हो जा कि सूर्य से शरीर को छूआ ले । हे नर, तू सूर्य है, तू संसार से कालुष्य को हरने वाला है, तू उत्तम पंखों वाला है । अपनी अनुपम दीप्ति के साथ उन्नति के आकाश में आरोहण कर । आकाश में आरोहण करते हुए तुझे जो विघ्नित करना चाहें उनका तू अपने तेज से संहार कर दे । भयभीत न होता हुआ उग्र प्रताप वाला तू अपनी ज्योति के साथ आरोहण करता रह ।"

कर्तव्य–प्रेरणा

वेदों में उद्बोधन की प्रेरणा देखने के उपरान्त अब राजा, सेनानी आदि के लिए तथा जन-साधारण के लिए जो कर्तव्य-प्रेरणायें दी गई हैं, उनका

अवलोकन करेंगे। यद्यपि वेदों की शैली स्मृति-ग्रन्थों के समान एक-एक प्रकरण को लेकर क्रमशः विस्तार से सीधे रूप में कर्तव्य प्रतिपादित करने की नहीं है, तो भी अनेक स्थलों में कर्तव्य-प्रेरणायें उपलब्ध होती हैं, जिनसे वेद की दृष्टि में मानव-आदर्श सूचित होता है।

राजा एवं सेनानी के प्रति

आ त्वा हार्षमन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद् राष्ट्रमधिभ्रशत्॥
इहैवैधि मापच्योष्ठा पर्वत इवाविचाचलिः।
इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय॥

ऋग् १०,१७३.१,२

उत्तरस्त्वमधरे ते सपत्ना ये के च राजन् प्रतिशत्रवस्ते।
एकवृष इन्द्रसखा जिगीवाँ छत्रूयतामा भरा भोजनानि॥
सिंहप्रतीको विशो अद्धि सर्वा व्याघ्रप्रतीकोऽव बाधस्व शत्रून्।
एकवृष इन्द्रसखा जिगीवाँ छत्रूयतामाखिदा भोजनानि॥

अथर्व ४.२२.६,७

ध्रुवोऽच्युतः प्र मृणीहि शत्रून् छत्रूयतोऽधरान् पादयस्व।
सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीर्ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह॥
विसर्माणं कृणुहि वित्तमेषां ये भुञ्जते अपृणन्तो न उक्थैः।
अपव्रतान् प्रसवे वावृधानान् ब्रह्मद्विषः सूर्याद् यावयस्व॥ ऋग् ५.४२.९

"मैंने तुझे राजा चुना है, तू प्रजाओं के मध्य में वास कर, ध्रुव बना रह, अविचल हो। सब प्रजाएं तुझे चाहती रहें, तुझसे राष्ट्र छिने नहीं। इसी पद पर बना रह, सिंहासन से च्युत मत हो, पर्वत के समान असंचलित रह। इन्द्र के सदृश ध्रुव हो, राजगद्दी पर बैठा हुआ राष्ट्र का धारण करता रह। हे राजन्, तू उच्च हो, जो तेरे प्रतिद्वन्द्वी रिपु हैं, वे नीचे हो जायें। सिंह होकर सब वैरियों को हड़प जा, व्याघ्र होकर शत्रुओं को परे खदेड़ दे। सर्व-श्रेष्ठ हो, इन्द्र का सखा बन, विजयी हो, शत्रुता करने वालों का भोजन छीन ले। ध्रुव तथा अच्युत होता हुआ तू शत्रुओं का संहार कर, वैर करने वालों को ठोकर के प्रहार से गिरा दे। सब दिशाएं तेरे साथ अनुकूल मन वाली तथा सहयोग करने वाली हों। राजपरिषद् तेरे साथ सहयोग करने वाली हो। जो लोग दान न करते हुए केवल स्वयं उपभोग करते हैं, उनके धन को तू विसरणशील कर दे। दुष्कर्म करते हुए भी संसार में वृद्धि प्राप्त करने वाले ब्रह्मद्वेषियों को सूर्यदर्शन से वंचित कर दे।"

प्रेह्यभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो नियंसते ।
इन्द्र नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्रं जया अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥
ऋग् १.८०.३

पदा पणीँरराधसो नि बाधस्व महाँ असि ।
नहि त्वा कश्चन प्रति ॥ ऋग् ८.६४.२

बृहस्पते परि दीया रथेन रक्षोहामित्राँ अपबाधमानः ।
प्रभञ्जन्त्सेनाः प्रमृणो युधा जयन्नस्माकमेध्यविता रथानाम् ॥
ऋग् १०.१०३,४

अव स्म दुर्हणायतो मर्तस्य तनुहि स्थिरम् ।
अधस्पदं तमीं कृधि यो अस्माँ आदिदेशति,
देवी जनित्र्यजीजनद् भद्रा जनित्र्यजीजनत् ॥ ऋग् १०.१३४.२

वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज ।
वि मन्युमिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्याभिदासतः ॥ ऋग् १०.१५२.३

उत् तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह ।
भञ्जन्नमित्राणां सेना भोगेभिः परिवारय ॥
उद्वेपय सं विजन्तां भियामित्रान् सं सज ।
उरुग्राहै र्बाह्वङ्कै र्विध्यामित्रान् न्यर्बुदे ॥
अथर्व ११.९.५,१२

"आगे बढ़, आक्रमण कर, परास्त कर, तेरा वज्र झुके नहीं। हे वीर, तेरा बल बड़े से बड़े शत्रु को झुका देने वाला है, वृत्र का संहार कर, धाराओं को जीत ले, स्वराज्य का आराधक बन। पाद-प्रहार से विनाशकारी लुटेरों को नीचे गिरा दे। हे वीर, तू महान् है, कोई तेरी बराबरी नहीं कर सकता। हे विशाल सेना के सेनानी, राक्षसों का संहर्ता, अमित्रों को दूर भगा देने वाला तू रथारूढ़ हो चारों ओर घूम। शत्रुसेनाओं का भंजन करता हुआ, हिंसकों को युद्ध द्वारा जीतता हुआ हमारे रथों का रक्षक बन। बुरी तरह मार काट करने वाले मनुष्य के बल को नीचा दिखा दे। जो हम पर शासन करना चाहता है, उसे पैरों से रौंद दे। स्मरण रख, तुझे दिव्य जननी ने जन्म दिया है, तुझे भद्र जननी ने जन्म दिया है। राक्षस को विनष्ट कर दे, संहारक को कुचल दे, शत्रु की दाढ़ें तोड़ दें। हे दस करोड़ सैन्य के अधिपति, हे देवजन, अपनी सेना के साथ उठ खड़ा हो, शत्रु की सेना को परास्त कर नागपाशों से घेर ले। हे सौ करोड़ सेना के नायक, रिपुओं को प्रकम्पित कर दे, वे विचलित हो उठें, उन्हें भय से संयुक्त कर दे। विशाल पकड़ वाले बाहुसदृश काँटों से शत्रु-दल को विद्ध कर दे।"

वीर सैनिकों के प्रति

मरुतो यद्ध वो बलं जनाँ अचुच्यवीतन ।
गिरीँ रचुच्यवीतन ।। ऋग् १. ३७. १२

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीडू उत प्रतिष्कभे ।
युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः ।। ऋग् १.३९,२

परा ह यत् स्थिरं हथ नरो वर्तयथा गुरु ।
वि याथन वनिनः पृथिव्या व्याशाः पर्वतानाम् ।। ऋग् १. ३९. २, ३

वाशीमन्त ऋष्टिमन्तो मनीषिणः सुधन्वान इषुमन्तो निषङ्गिणः ।
स्वश्वाः स्थ सुरथाः पृश्निमातरः स्वायुधा मरुतो याथना शुभम् ।।
ऋग् ५. ५७. २

परा वीरास एतन मर्यासो भद्रजानयः । अग्नितपो यथासथ ।।
ऋग् ५. ६१. ४

वि तिष्ठध्वं मरुतो विक्ष्विच्छत गृभायत रक्षसः सं पिनष्टन ।
वयो ये भूत्वी पतयन्ति नक्तभिर्ये वा रिपो दधिरे देवे अध्वरे ।।
ऋग् ७. १०४. १८

संक्रन्दनेनानिमिषेण जिष्णुना युत्कारेण दुश्च्यवनेन धृष्णुना ।
तदिन्द्रेण जयत तत् सहध्वं युधो नर इषुहस्तेन वृष्णा ।।
ऋग् १०. १०३. २

प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु ।
उग्रा वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथासथ ।। ऋग् १०. १०३. १३

"हे वीरों जो तुम्हारे अन्दर बल है, उससे रिपुजनों को हिला दो, पर्वतों को गिरा दो । शत्रु को पलायन करा देने के लिए तुम्हारे हथियार सुदृढ़ हों, शत्रु के वार को रोकने के लिए सुदृढ़ हों, तुम्हारी सेना प्रशंसा योग्य हो, मायावी शत्रु की ऐसी न हो । तुम स्थिर से स्थिर वस्तु को भी गिरा देने वाले हो, भारी से भारी वस्तु को हिला देने वाले हो । पृथिवी के वनयुक्त प्रदेशों को चीरते चले जाओ, पर्वतों के शिखरों को चीरते चले जाओ । कन्धे पर परशु है, हाथों में भाले हैं, मनीषी हो, धनुष, वाण, तरकस धारण करने वाले हो, उत्तम घोड़े, उत्तम रथ तुम्हारे पास हैं । हे वीरो, हथियार उठाओ और शुभ उद्देश्य की पूर्ति के लिए बढ़े चलो । हे भद्र जन्म वाले मर्त्य वीरो, युद्धक्षेत्र में आगे-आगे जाओ, जिससे अग्नि से तप कर खरे उतरो । हे सैनिको, दृढ़ स्थिति के साथ प्रजाओं में स्थित होवो, महत्वाकांक्षा रखो, उन राक्षसों को पकड़ लो, पीस डालो, जो पक्षी होकर रात्रि में उड़ते

हैं तथा जो दिव्य राष्ट्रयज्ञ को दूषित करते हैं। हे योद्धा नरो, सिंहनाद करने वाले, निर्निमेष, विजयशील, रणसमर्थ, दुश्च्यवन, घृष्णु, इषुहस्त, अस्त्रवर्षी सेनानी के साथ तुम विजयलाभ करो, वैरी को परास्त कर दो। आगे बढ़ो, विजयलाभ करो, इन्द्र तुम्हें सफलता दे। तुम्हारी बाहुएं उग्र हों, जिससे तुम अनाधृष्य बने रहो।"

असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना।
तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात्॥

अथर्व ३. २, ६

अतिधावतातिसरा इन्द्रस्य वचसा हत।
अवि वृक इव मथ्नीत स वो जीवन् मा मोचि प्राणमस्यापि नह्यत॥

अथर्व ५. ८. ४

उत् तिष्ठत सं नह्यध्वमुदाराः केतुभिः सह।
सर्पा इतरजना रक्षांस्यमित्राननु धावत॥ अथर्व ११.१०.१

"हे वीरो, वह जो शत्रुओं की सेना ओज से स्पर्धा करती हुई हमारी ओर आ रही है, उसे सब कर्मों को रोक देने वाले मोहान्धकार से विद्ध कर दो, जिससे वे आपस में एक-दूसरे को भी न पहचान सकें। दौड़ पड़ो, हे अग्रगामी वीरो, अपने नायक की आज्ञा पाते ही शत्रु पर जा टूटो। शत्रु को पकड़कर ऐसे झंझोर डालो, जैसे भेड़िया भेड़ को। देखो, वह जीवित बचकर न भागने पावे। इसके प्राणों को बांध लो। उठो, हे उदार वीरो, पताकाओं के साथ संनद्ध हो जाओ। जो सर्प हैं, इतर जन हैं, राक्षस हैं, अमित्र हैं, उन पर धावा बोल दो।

नारी के प्रति

अधः पश्यस्व मोपरि संतरां पादकौ हर।
मा ते कशप्लकौ दृशन् स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ॥ ऋग् ८.३३. १९

अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः।
वीरसूर्देवकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥ ऋग् १०.८५.४४

पूर्णं नारि प्रभर कुम्भमेतं घृतस्य धारामममृतेन संभृताम्।
इमां पातॄनमृतेना समङ्ग्धीष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम्॥ अथर्व ३.१२.८

शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा।
शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि॥ अथर्व ३.२८.२

आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम्।
पत्युरनुव्रता भूत्वा सं नह्यस्वामृताय कम्॥ अथर्व १४.१.४२

आरोह चर्मोपसीदाग्निमेष देवो हन्ति रक्षांसि सर्वा ॥
इह प्रजां जनय पत्ये अस्मै सुज्यैष्ठ्योऽभवत् पुत्रस्त एषः ॥
सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शंभूः ।
स्योना श्वश्र्वे प्र गृहान् विशेमान् ॥ अथर्व १४.२.२४,२६

"नीचे दृष्टि रख, ऊपर नहीं। चलते हुए पैरों को समस्वर रख। तेरे सिर के केश तथा कुच दिखाई न दें। तू स्त्री गृहस्थ-यज्ञ की ब्रह्मा है। अघोर-चक्षु हो, पति का दिल न दुखा, पशुओं के लिए शिव हो, सुमना तथा सुवर्चा हो। वीरप्रसवा, देवों की आराधना करने वाली तथा सुखकारिणी बन। द्विपात्, चतुष्पात् सबके लिए मंगलमयी हो। हे नारी, इस भरे हुए कुंभ को उठा ला, दुग्धामृत सहित घृत की धारा को ले आ। पीने वालों को अमृत से तृप्त कर। यज्ञ तथा परोपकार के कर्म तेरी रक्षा करते रहें। पुरुषों के लिए मंगलमयी हो, गौओं तथा अश्वों के लिए मंगलमयी हो, इस सारे क्षेत्र के लिए मंगलमयी हो, यहां हम सबके लिए भी मंगलमयी हो। सौमनस्य, प्रजा, सौभाग्य तथा ऐश्वर्य की आकांक्षा रखती हुई तू पति की अनुकूलकर्मा होकर अमृत-प्राप्ति के लिए संनद्ध रह। मृगचर्म पर बैठ, अग्निहोत्र कर, यह अग्निदेव सब राक्षसों को विनष्ट कर देता है। पति के लिए प्रजा उत्पन्न कर, तेरा पुत्र सुज्येष्ठ गुणों से परिपूर्ण हो। सुमंगली बन, गृहों को तराने वाली हो, पति के लिए सुखदात्री, श्वशुर के लिए सुखदात्री, श्वश्रू के लिए सुखदात्री होकर घर में प्रवेश कर।"

देवपूजा की प्रेरणा

य एक इद्धव्यश्चर्षणीनामिन्द्रं तं गीर्भिरभ्यर्च आभिः ।
यः पत्यते वृषभो वृष्ण्यावान् त्सत्यः सत्वा पुरुमायः सहस्वान् ॥
ऋग् ६. २२. १

सखायो ब्रह्मवाहसेऽर्चत प्र च गायत ।
स हि नः प्रमतिर्मही ॥ ऋग् ६.४५.४

प्र सम्राजं चर्षणीनामिन्द्रं स्तोता नव्यं गीर्भिः ।
नरं नृषाहं मंहिष्ठम् । ऋग् ८.१६.१

यो रायोऽवनिर्महान् त्सुपारः सुन्वतः सखा ।
तमिन्द्रमभि गायत ॥ ऋग् ८.३२.१३

अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत ।
अर्चन्तु पुत्रका उत पुरं न धृष्ण्वर्चत ॥
अव स्वराति गर्गरो गोधा परि सनिष्वणत् ।
पिङ्गा परि चनिष्कददिन्द्राय ब्रह्मोद्यतम् ॥ ऋग् ८.६९.८,९

इन्द्राय साम गायत बिप्राय बृहते बृहत् ।
धर्मंकृते विपश्चिते पनस्यवे ।। ऋग् ८. ९८. १

"जो एक है, मनुष्यों से आवाहन किये जाने योग्य है, सुखवर्षी है, वली है, सत्यस्वरूप है, पौरुषवान् है, वहुप्रज्ञ है, साहसी है तथा जो अपने स्तोताओं का सहायक होता है, उस इन्द्र की तुम स्तुतिवाणियों से अर्चना करो। हे मित्रो, स्तोम को वहन करने वाले इन्द्र की अर्चना करो, उसके स्तुतिगीत गाओ, क्योंकि वह हमें प्रकृष्ट मति को प्रदान करने वाला है। जो मनुष्यों का सम्राट् है, शत्रुओं को परास्त करने वाला है, सबसे वढ़कर दानी है, उस इन्द्र के स्तुतिगीत गाओ। जो ऐश्वर्यों का रक्षक है, महान् है, जीवन-नौका को पार लगाने वाला है, भक्त का सखा है, उस इन्द्र के गीत गाओ। अर्चना करो, पुनः पुनः अर्चना करो, हे प्रियमेधाओ, अर्चना करो। तुम्हारे पुत्र भी अर्चना करें। शत्रुओं के पराजेता, भक्तों के परिपूरक इन्द्र की अर्चना करो। गागर बजे, सारंगी वजे, पिंगियाँ वजें, इन्द्र के लिए भक्ति-गीत गाओ। जो विप्र है, महान् है, धर्मकृत् है, विपश्चित् है, स्तुति की जिसे चाह है, उस इन्द्र के लिए अधिकाधिक सामगान करो।"

उपस्तुहि प्रथमं रत्नधेयं बृहस्पतिं सनितारं धनानाम् ।
यः शंसते स्तुवते शं भविष्ठः पुरूवसुरागमज्जोहुवानम् ।। ऋग् ५.४२.७

"हे मनुष्यो, तू बृहस्पति की स्तुति कर, जो प्रथम है, रत्न प्रदान करने वाला है, धनों का प्रदाता है, जो कीर्तन-स्तवन करने वाले के लिए मंगलकारी होता है, जो आह्वान करने वाले के समीप प्रवृद्ध ऐश्वर्य लेकर पहुँचता है।"

प्र सम्राजे बृहदर्चा गभीरं ब्रह्म प्रियं वरुणाय श्रुताय ।
वि यो जघान शमितेव चर्मोपस्तिरे पृथिवीं सूर्याय ।।. ऋग् ५.८५.१

"तू उस सम्राट्, विश्रुत वरुण प्रभु के लिए गभीर, प्रिय स्त्रोत्र का बहुत-वहुत उच्चारण कर, जिसने सूर्य की परिक्रमा करने के लिए पृथिवी को बिछाया है, जैसे एक शान्त्युपासक मृगचर्म को फैलाता है।

इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे देवाय स्वधाव्ने ।
अषाढाय सहमानाय वेधसे तिग्मायुधाय भरता शृणोतु नः ।।
ऋग् ७.४६.१

"रुद्र देव के गीत गाओ, जो स्थिरधन्वा है, क्षिप्र इषुओं वाला है, आत्म-निर्भर है, अपराजेय है, पराजेता है, विधाता है, तीक्ष्ण आयुधों वाला है।"

प्र मंहिष्ठाय गायत ऋताव्ने बृहते शुक्रशोचिषे ।
उपस्तुतासो अग्नये ॥ ऋग् ८.१०३.८
प्राग्नये वाचमीरय वृषभाय क्षितीनाम् ।
स नः पर्षदति द्विषः ॥ ऋग् १०.१८७.१

"हे स्तोताओ, उस अग्नि प्रभु के गीत गाओ, जो अतिशय दानी है, सत्यमय है, महान् है, पवित्र ज्योति वाला है। उस अग्नि के प्रति स्तुतिवाणियों को प्रेरित करो, जो मनुष्यों पर सर्वविध ऐश्वर्यों की वर्षा करने वाला है।"

विपश्चिते पवमानाय गायत मही न धारात्यन्धो अर्षति ।
अहिर्न जूर्णामति सर्पति त्वचमत्यो न क्रीडन्नसरद्वृषा हरिः॥
सखाय आ निषीदत पुनानाय प्र गायत ।
शिशुं न यज्ञैः परिभूषत श्रिये ॥ ऋग् ९.१०४.१

"मेधावी पवमान सोम के गुणगान करो, जो रसमय प्रभु महती जलधारा के समान बहता हुआ हृदय में आता है, सर्प के समान अपने भक्त की पुरानी पाप-केंचुली को उतार फेंकता है, अश्व-शावक के समान हृत्प्रांगण में क्रीडा करता है, रसवर्षक है, चितचोर है। मित्रो, आओ, बैठो, पवित्रतादायक सोम का स्तुतिगान करो। जैसे शोभा के लिए शिशु को सजाया-संवारा जाता है, वैसे ही उस प्रभु को भक्तियज्ञों से अलंकृत करो।"

परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम् ।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य ॥ ऋग् १०.१४.१

"हे मनुष्य, उस यम राजा की भक्तिमय हवि द्वारा आराधना कर, जो उच्च से उच्च भूमिकाओं में पहुंचा हुआ है, बहुतों को मार्ग दर्शाने वाला है, विवस्वान् का पुत्र है तथा जनों को सचाई के लिए संगठित करने वाला है। यम राजा के लिए घृतयुक्त दूध की हवि दो।"

नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे महो देवाय तद् ऋतं सपर्यत ।
दूरेदृशे देवजाताय केतवे दिवस्पुत्राय सूर्याय शंसत ॥ ऋग् १०.३७.१

"भाइयो, उस सूर्य प्रभु को नमस्कार करो, जो मित्र तथा वरुण को प्रकाश देने वाला है, दूर दीखता है, देवजात है, केतुरूप है। उस सूर्य के महान् ऋत की आराधना करो।"

अग्निहोत्र की प्रेरणा

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् ।
आस्मिन् हव्या जुहोतन ॥ ऋग् ८.४४.१, यजु ३.१

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन ।
अग्नये जातवेदसे ।। ऋग् ५.५.१, यजु ३.२

अग्निर्देवेषु राजत्यग्निर्मर्तेष्वाविशन् ।
अग्निर्नो हव्यवाहनोऽग्निं धीभिः सपर्यत ।। ऋग् ५. २५. ४

आ जुहोता दुवस्यताऽग्निं प्रयत्यध्वरे ।
वृणीध्वं हव्यवाहनम् ।। ऋग् ५. २८. ६

"समिधा से अग्नि का सत्कार करो। अग्निरूप अतिथि को घृतों से उद्‌बुद्ध करो । इसमें हव्यों की आहुति दो । सुसमिद्ध, शोचिष्मान् जातवेदा अग्नि के लिए तीव्र घृत की आहुति दो । अग्नि ज्योतिर्मयों में ज्योतिष्मान् है, यज्ञकुण्ड में प्रविष्ट होता हुआ अग्नि मनुष्यों के मध्य चमकता है। अग्नि हमारे हव्य को वहन करने वाला है। अग्नि का वेदवाणियों से सत्कार करो । यज्ञ में अग्नि की परिचर्या करो, अग्नि में आहुति दो, हव्यवाड् अग्नि का वरण कर लो । उस अग्नि की तुम वेदमन्त्रों से स्तुति करो, जो घृताहुति पाकर विशेष रूप से प्रदीप्त होता है ।"

त्याग की प्रेरणा

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राधीयांसमनु पश्येत पन्थाम् ।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रा ऽन्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः ।।
ऋग् १०. ११७. ५

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत् किं च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ।। ऋग् ४०.१

शतहस्तसमाहर सहस्रहस्त सं किर ।
कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह ।। अथर्व ३. २४. ५

यां ते धेनुं निपृणामि यमु ते क्षीर ओदनम् ।
तेना जनस्यासो भर्ता यो ऽत्रासदजीवनः ।। अथर्व १८. २. ३०

"धनी को चाहिए कि वह याचना करने वाले को अवश्य दान करे, वह लम्बे मार्ग को देखे । सम्पत्तियां रथ-चक्र के समान घूमती रहती हैं, एक से दूसरे के समीप जाती रहती हैं । इस जगतीतल में जो कुछ भी कार्य में आने वाला धन है, वह सब ईश्वर द्वारा प्रदत्त है (उसी का है) । अतः त्यागभाव से उपभोग कर, लोभ मत कर, धन भला किसका है । हे मनुष्य, तू सौ हाथों से धन कमा, सहस्र हाथों से उसका दान कर । कमाये हुए तथा भविष्य में कमाये जाने वाले धन की वृद्धि कर। जो मैं तुझे धेनु देता हूँ, जो मैं तुझे

दूध-भात देता हूँ, उससे तू उस जन की सहायता कर जो जीवन-रहित सा हो गया है।

अतिथि-सत्कार की प्रेरणा

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो राज्ञोऽतिथिर्गृहानागच्छेत्॥
श्रेयांसमेनमात्मनो मानयेत् तथा क्षत्राय ना वृश्चते तथा राष्ट्राय ना वृश्चते॥ अथर्व १५.१०.१,२

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत्॥
स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयात् व्रात्य क्वाऽवात्सीर्व्रात्योदकं व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति॥

अथर्व १५.१०.१,२

"जिस राजा के घर में विद्वान् व्रात्य अथिति आये वह अपना अहोभाग्य माने। इस प्रकार वह क्षात्र की हानि नहीं करता, राष्ट्र की हानि नहीं करता। जिसके घर में विद्वान् व्रात्य अतिथि आये वह स्वयं उठ कर उसे कहे—हे व्रात्य, आप कहाँ रहे? हे व्रात्य, जल लीजिए। हे व्रात्य, ये वस्तुएं आपको तृप्त करें। हे व्रात्य, जैसा आपको प्रिय हो वैसा किया जाये। हे व्रात्य, जैसा आपका मनोरथ हो वैसा किया जाये। हे व्रात्य, जैसी आपकी उत्कृष्ट अभिलाषा हो वैसा किया जाये।"

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्य उद्धृतेष्वग्निष्वधिश्रितेऽग्निहोत्रेऽतिथि गृंहानागच्छेत्॥ स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्यातिसृज होष्यामीति॥ स चातिसृजेज्जुहुयान्न चातिसृजेन्न जुहुयात्॥ अथर्व १५.१२.१-३

अशितावत्यतिथावश्नीयाद् यज्ञस्य सात्मत्वाय
यज्ञस्याविच्छेदाय तद्व्रतम्॥ अथर्व ९.६.३८

"जिसके घर में विद्वान् व्रात्य अतिथि अग्नियों के आहुत हो जाने पर तथा अग्निहोत्र आरंभ हो जाने पर आये, वह स्वयं उठकर इसे कहे—हे व्रात्य, स्वीकृति दीजिए, मैं हवन करूंगा। वह स्वीकृति दे तो हवन करे, किसी कारण स्वीकृति न दे तो उस समय हवन न करे। गृहपति को चाहिए कि वह अतिथि के खा चुकने पर खाये, जिससे यज्ञ आत्मवान् रहे, यज्ञ अविच्छिन्न रहे, यह पवित्र कर्तव्य है।"

सांमनस्य की प्रेरणा

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ।।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ।। ऋग् १०.१९१.२-४

"एक मत होकर चलो, एक मत होकर बोलो, तुम्हारे मन एक हो जायें। जैसे देव परस्पर एक मत होकर अपने-अपने भाग का पालन करते हैं, वैसे ही तुम भी करो। तुम्हारा मन्त्र एक हो, समिति एक हो, मन एक हो, चित्त एक हो। समान मन्त्र से तुम्हें अभिमंत्रित करता हूँ, समान हवि से तुम्हें आहुत करता हूं। तुम्हारा संकल्प एक हो, तुम्हारे हृदय एक हों, तुम्हारा मन एक हो, जिससे तुम्हारे अन्दर पूर्ण एकता का भाव विद्यमान रहे।"

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ।।
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥
समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ।। अथर्व ३.३०.१,२,६

"सहृदयत्व, सांमनस्य तथा अविद्वेष तुम लोगों में उत्पन्न करता हूँ। तुम एक-दूसरे से प्रेम करो, जैसे नवजात बछड़े से गाय प्रेम करती है। पुत्र पिता का आज्ञाकारी हो, माता के साथ समान मन वाला हो। पत्नी पति के प्रति मधुर तथा शान्त वाणी बोले। तुम लोगों का समान पानागार हो, समान अन्नागार हो। रज्जु से मैं तुम्हें बांधता हूँ। साथ मिल कर अग्नि की परिचर्या करो, जैसे अरे रथनाभि के चारों ओर मिले रहते हैं।

अन्य प्रेरणाएँ

युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम् ।
गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत् सृण्यः पक्वमेयात् ।।
ऋग् १०.१०१.३

व्रजं कृणुध्वं स हि वो नृपाणो वर्म सीव्यध्वं बहुला पृथूनि ।
पुरः कृणुध्वमायसीरधृष्टा मा वः सुस्रोच्चमसो दृंहता तम् ।।
ऋग् १०१.८, अथर्व १९.५८.४

मृत्योः पदं योपयन्त एत द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ।
आसीना मृत्युं नुदता सधस्थेऽथ जीवासो विदथमा वदेम ।।
अथर्व १२.२.३०

"हल जोड़ो, जुए बैलों के कन्धों पर रखो, भूमि जुत जाने पर उसमें बीज वपन कर दो। हमारे कथनानुसार अन्न की बालियाँ खूब भरी हुई हों। फसल पक जाने पर दरातियाँ उसे काटें।"

"गौशालाएं बनाओ, उससे तुम्हारे मनुष्यों की रक्षा होगी। बहुत से विशाल कवच सी लो। लौह-पुरियों का निर्माण करो, जो धर्षित न हो सकें। तुम्हारा अन्नागार क्षीण होने वाला न हो, उसे दृढ़ करो।"

"मृत्यु के पैर को परे हटाते हुए, अतिशय दीर्घ आयु धारण करते हुए चलो। मिलकर रहने के स्थान राष्ट्र में बैठे हुए तुम मृत्यु को धक्का दे दो। तत्पश्चात् जीवित-जागृत होते हुए हम ज्ञानवाणी बोलते रहें।"

अदो यद् दारु प्लवते सिन्धोः पारे अपूरुषम्।
तदारभस्व दुर्हणो तेन गच्छ परस्तरम्॥ ऋग् १०.१५५.३

अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः।
प्रणीतीरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह॥ अथर्व ७.१०५.१

"यह जो सिन्धु के किनारे बिना किसी पुरुष से अधिष्ठित नौका तैर रही है, उसे हे अलक्ष्मी से पीड़ित, तू ग्रहण कर ले तथा उससे (अन्नादि लाने के लिए) परले पार चला जा।

"पौरुषेय दुर्वचन छोड़कर दिव्य वचन को स्वीकार करता हुआ तू सब मित्रों के साथ प्रणय का व्यवहार कर।

(ख) निषेधात्मक रूप

ऊपर हमने प्रेरणात्मक शैली के विध्यात्मक पार्श्व पर दृष्टिपात किया है। अब निषेधात्मक पार्श्व को देखेंगे।

ऋग्वेद में गोवध का निषेध करते हुए निम्न प्रेरणा दी गयी है—"गौ रुद्रों की माता है, वसुओं की दुहिता है, आदित्यों की स्वसा है, अमृत की नाभि है। मैंने विवेकशील जनों को कह दिया है कि तुम इस निरपराध गौ का वध मत करो। हमारी वाणी को समझने वाली, अपनी वाणी बोलने वाली, सब हितबुद्धियों के साथ हमारे समीप आने वाली, सर्वत्र पहुँचने वाली देवी गौ को अल्पचित्त मनुष्य काटे नहीं[1]।" मनुष्य को द्यूत से बचने की प्रेरणा

१. माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट॥
वचोविदं वाचमुदीरयन्तीं विश्वाभि र्धीभिरुपतिष्ठमानाम्।
देवीं देवेभ्यः पर्येयुषीं गामा मावृक्त मर्त्यो दभ्रचेताः॥
ऋग् ८. १०१. १५, १६

करते हुए कहा है, 'द्यूतक्रीडा मत कर[2]।' नारी को कर्तव्योपदेश करते हुए वेद कहता है, 'जहां शुभ हृदय वाले, शुभ कर्मों वाले जन अपने शरीर के रोगादि को छोड़कर आनन्द से रहते हैं, उस गृहस्थलोक को हे यमनियम-परायणा नारी, तू प्राप्त हुई है। वहां रहती हुई पुरुषों तथा पशुओं को कष्ट मत दे[3]। अथर्ववेद के प्रसिद्ध सांमनस्य सूक्त में कहा है, 'भाई भाई से द्वेष न करे, बहिन बहिन से द्वेष न करे[4]।'

राजन्य के लिए ब्राह्मण की गौ को न खाने (उसकी वाणी[5] की उपेक्षा न करने) का परामर्श देते हुए कहा है, हे राजन्, ब्राह्मण की गौ को तू मत खा, यह खाने योग्य नहीं है। देवों ने इसे तुझे खाने के लिए नहीं दिया है। जैसे अपने प्रिय शरीर की अग्नि की कोई हिंसा नहीं करना चाहता, वैसे ही ब्राह्मण की हिंसा नहीं करनी चाहिए[6]।' अतिथि से पूर्व भोजन न करने के लिए प्रेरित करते हुए कहा है, 'गृहपति को चाहिए कि वह श्रोत्रिय अतिथि के भोजन करने से पूर्व स्वयं भोजन न करे[7]। राजा को कहा है, 'तू सांप मत बन, अजगर मत बन[8]' जिसका अभिप्राय है कि राजा सर्प के समान कुटिलाचरण या प्रजा का हिंसन न करे, अजगर के समान प्रजा को भक्षणीय न समझे। इन सब उदाहरणों में किसी अनिष्टकर बात को न करने की प्रेरणा की गयी है। एवं यहां निषेधात्मक शैली है।

---

२. अक्षैर्मा दीव्यः ॥ ऋग् १०. ३४. १३

३. यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः ।
तं लोकं यमिन्यभिसंबभूव सा नो मा हिंसीत् पुरुषान् पशूंश्च ॥
अथर्व ३. २८. ५

४. मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ॥ अथर्व ३. ३०. ३

५. एक व्याख्यानुसार यहां गौ का अर्थ वाणी है। द्रष्टव्यः अभय विद्यालंकारः ब्राह्मण की गौ। प्रकाशन मन्दिर, गुरुकुल कांगड़ी।

६. नैतां ते देवा अददुस्तुभ्यं नृपते अत्तवे ।
मा ब्राह्मणस्य राजन्य गां जिघत्सो अनाद्याम् ॥
न ब्राह्मणो हिंसितव्योऽग्निः प्रियतनोरिव ।
सोमो ह्यस्य दायाद इन्द्रो अस्याभिशस्तिपाः ॥ अथर्व ५. १८. १, ६

७. एष वा अतिथिर्यच्छ्रोत्रियस्तस्मात् पूर्वो नाश्नीयात् ॥ अथर्व ९. ६. ३७

८. माहिर्भूर्मा पृदाकुः ॥ यजु. ८. २३

उक्त प्रेरणाओं पर एक दृष्टि

ऊपर हमने वेदों की कुछ प्रमुख प्रेरणाओं पर दृष्टिपात किया। सर्वप्रथम उद्बोधन को लिया है। उद्बोधन के मन्त्र ऐसे हैं, जिनमें सचमुच हृदय तरंगित होने लगता है, विघ्नों को पार कर संसार-समर में आगे बढ़ने की प्रेरणा मिलती है। वेद प्रायः अग्नि, सूर्य और उषा की वार्ता करते हैं। मन्त्रों में भी इनकी चर्चा आयी है। वेद की दृष्टि में मनुष्य को अग्निमय बनना है, अपने जीवन में उषा जैसा प्रकाश लाना है। वेदमन्त्र में सूर्य को सम्बोधन कर कहा है कि तू अन्धकार को विदीर्ण करता हुआ ऊपर द्युलोक में आरूढ़ हो जा। सूर्य को तो उद्बोधन की आवश्यकता ही नहीं है, वह स्वयं ही द्युलोक में आरोहण करेगा। वस्तुतः सूर्य, अग्नि आदि की अन्योक्तियों से वेद मनुष्य को ही ऊर्ध्वगामी होने की प्रेरणा करते हैं।

राजा, सेनानी तथा सैनिकों को जो प्रेरणाएं दी गयी हैं, उनमें एक प्रमुख प्रेरणा शत्रुसंहार करने तथा विजय पाने की है। राजा व्याघ्र बनकर शत्रुओं को निगीर्ण कर ले, वह अनिवार्य रूप से प्रत्येक प्रजाजन को सैनिक शिक्षा दे। जो समाज के हित के लिए अपने धन का दान नहीं करते, प्रत्युत एक मात्र स्वयं ही भोग करते हैं, तथा धन को अपने पास संग्रह किए रखते हैं, उनके धन को राजा विसरणशील कर दे, ऐसा कहा है, अर्थात् राजनियम से उनका धन प्रचलन में आ जाना चाहिए। इसके आगे नारी के लिए कुछ प्रेरणाएं हैं। उनसे उसके सदाचरण, गुरुजनों को सुख देना, एवं देवर, श्वशुर, श्वश्रू सबके प्रति मंगलमय होना आदि गुण प्रकट होते हैं।

देवपूजा की प्रेरणाओं में इन्द्र, बृहस्पति, वरुण, रुद्र, अग्नि, सोम, यम, सूर्य इन्हीं देवों की पूजा विषयक मन्त्र यहां दिये गये हैं। इनसे अतिरिक्त विष्णु, अश्विनौ आदि अन्य देवों की पूजा के प्रसंग भी वेदों में आते हैं। वेद स्वयं ही अनेक मन्त्रों में यह भी वर्णित करते हैं कि ये सब विभिन्न नाम एक ही ज्येष्ठ देव के हैं[१]।

आगे अग्निहोत्र, त्याग एवं अतिथिसत्कार की प्रेरणाएं हैं, जो वैदिक संस्कृति के प्रधान अंग है। अतिथि-सत्कार को इतना महत्त्व दिया गया है कि उसके लिए नैत्यिक कर्म अग्निहोत्रादि भी स्थगित किया जा सकता है।

---

१. द्रष्टव्यः ऋग् १. १६४. ४६; ऋग् १०. ११४. ५; ऋग् ३. २६. ७; ऋग् २. १. ३७; ऋग् १०. ८२. ३; अथर्व २. १; यजु ३२. १; अथर्व १३. ४।

तदनन्तर सांमनस्य की प्रेरणाओं में परस्पर ऐकमत्य, सौहार्द, अविद्वेष, प्रीतिभाव, एकचित्तता, समानता, माधुर्य आदि की झांकी मिलती है। इतर प्रेरणाओं में कृषि, दीर्घायुष्य, अलक्ष्मीनाशन आदि की प्रेरणाएं हैं, जो स्पष्ट रूप से मनुष्य को इसके लिए प्रवृत्त होने का उपदेश देती हैं। निषेधात्मक प्रेरणाओं में गोवध न करना, द्यूतक्रीडा न करना, ब्राह्मण का अनादर न करना आदि उपदेश हैं।

यहां प्रेरणात्मक शैली को दर्शाने के उद्देश्य से ही इन प्रेरणात्मक मन्त्रों को संगृहीत किया गया है। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि वेदों में कर्तव्यों का उपदेश केवल प्रेरणात्मक शैली से नहीं, किन्तु इतर शैलियों से भी दिया जाता है।

२. आश्वासनात्मक शैली

अब आश्वासनात्मक शैली को लेते हैं। वेद में कई प्रसंगों में दैवी या मानुषी विपत्ति तथा आधि-व्याधि आदि से पीड़ित व्यक्ति को आश्वासन दिया गया है। विशेषकर ऋग्वेद के दशम मण्डल में तथा अथर्ववेद में ऐसे प्रसंग अधिक आते हैं। इनकी शैली बड़ी सजीव, प्रभावोत्पादक तथा हृदय में विश्वास उत्पन्न कराने वाली है। यहां कुछ प्रसंग दिये जाते हैं।

सुबन्धु को आश्वासन

सुबन्धु[10] मरणासन्न पड़ा है। उसका मनोबल समाप्त हो चुका है, मन मानो शरीर में रहा ही नहीं है। वह अपने जीवन से निराश हो चुका है। ऐसी अवस्था में उसके साथी अथवा चिकित्सक नितान्त विश्वासजनक शब्दों में उसे कहते हैं—

---

१०. ऐतिहासिक व्याख्यानुसार बन्धु, सुबन्धु, श्रुतबन्धु और विप्रबन्धु ये चार असमाति नामक इक्ष्वाकुवंशी राजा के पुरोहित थे। पर राजा ने इन्हें छोड़ कर किन्हीं दो अन्य मायावी ऋषियों को पुरोहित वरण कर लिया। तब बन्धु आदियों ने क्रुद्ध हो राजा पर अभिचार किया। मायावी पुरोहितों को यह ज्ञात हुआ तो उन्होंने उनमें से एक सुबन्धु को प्राणों से वियुक्त कर दिया। तब मृत सुबन्धु के भाई उसके प्राणों तथा मन को लौटा लाने के लिए इन सूक्तों (ऋग् १०. ५७-६०) का जप करते हैं। द्रष्टव्यः इन सूक्तों पर सायणभाष्य। नैरुक्त प्रक्रिया के अनुसार सुबन्धु उत्तम बन्धु-बान्धवों से युक्त कोई भी व्यक्ति हो सकता है। उसके मरणासन्न या हतोत्साह हो जाने पर उसके सम्बन्धी-जन उसे आश्वासन दे रहे हैं।

यत् ते यमं वैवस्वतं मनो जगाम दूरकम् ।
तत् त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥
यत् ते दिवं यत् पृथिवीं मनो जगाम दूरकम् । तत्० ॥
यत् ते भूमिं चतुर्भृष्टिं मनो जगाम दूरकम् । तत्० ॥
यत् ते चतस्रः प्रदिशो मनो जगाम दूरकम् । तत्० ॥
यत् ते समुद्रमर्णवं मनो जगाम दूरकम् । तत्० ॥
यत् ते मरीचीः प्रवतो मनो जगाम दूरकम् । तत्० ॥
यत् ते अपो यदोषधी र्मनो जगाम दूरकम् । तत्० ॥
यत् ते सूर्यं यदुषसं मनो जगाम दूरकम् । तत्० ॥
यत् ते पर्वतान् बृहतो मनो जगाम दूरकम् । तत्० ॥
यत् ते विश्वमिदं जगन्मनो जगाम दूरकम् । तत्० ॥
यत् ते पराः परावतो मनो जगाम दूरकम् । तत्० ॥
यत् ते भूतं च भव्यं च मनो जगाम दूरकम् । तत्० ॥

ऋग् १०. ५८. १-१२

'जो तेरा मन बहुत दूर वैवस्वत यम के पास चला गया है. उसे हम इसी शरीर में निवास के लिए अभी लौटाये लाते हैं, जिससे तू चिरकाल तक जीवित रहेगा । जो तेरा मन बहुत दूर द्युलोक तथा भूलोक में चला गया है, उसे हम इसी शरीर में निवास के लिए अभी लौटाये लाते हैं, जिससे तू चिरकाल तक जीवित रहेगा । जो तेरा मन बहुत दूर गोलाकार भूमि की ओर चला गया है, उसे हम इसी शरीर में निवास के लिए अभी लौटाये लाते हैं, जिससे तू चिरकाल तक जीवित रहेगा । जो तेरा मन बहुत दूर जल के पारावार समुद्र तक चला गया है, उसे हम इसी शरीर में निवास के लिए अभी लौटाये लाते हैं, जिससे तू चिरकाल तक जीवित रहेगा । जो तेरा मन बहुत-बहुत दूर जलों में तथा ओषधियों में चला गया है, उसे हम इसी शरीर में निवास के लिए अभी लौटाये लाते हैं, जिससे तू चिरकाल तक जीवित रहेगा । जो तेरा मन बहुत दूर सूर्य में तथा उषा में चला गया है, उसे हम इसी शरीर में निवास के लिए अभी लौटाये लाते हैं, जिससे तू चिरकाल तक जीवित रहेगा । जो तेरा मन बहुत दूर विशाल पर्वतों में चला गया है, उसे हम इसी शरीर में निवास के लिए अभी लौटाये लाते हैं, जिससे तू चिरकाल तक जीवित रहेगा । जो तेरा मन बहुत दूर समस्त जगत् में चला गया है, उसे हम इसी शरीर में निवास के लिए अभी लौटाये लाते हैं, जिससे तू चिरकाल तक जीवित रहेगा । जो तेरा मन दूर, दूर, बहुत दूर तक के प्रदेशों में चला गया है, उसे हम इसी शरीर में निवास के लिए अभी लौटाये लाते हैं, जिससे तू चिरकाल तक

जीवित रहेगा। जो तेरा मन बहुत दूर भूत तथा भव्य में चला गया है, उसे हम इसी शरीर में निवास के लिए अभी लौटाये लाते हैं, जिससे तू चिरकाल तक जीवित रहेगा।"

अयं मातायं पिताऽयं जीवातुरागमत् ।
इदं तव प्रसर्पणं सुबन्धवेहि निरिहि ॥
यथा युगं वरत्रया नह्यन्ति धरुणाय कम् ।
एवा दाधार ते मनो जीवातवे न मृत्यवेऽथो अरिष्टतातये ॥
यथेयं पृथिवी मही दाधारेमान् वनस्पतीन् ।
एवा दाधार ते मनो जीवातवे न मृत्यवेऽथो अरिष्टतातये ॥
यमादहं वैवस्वतात् सुबन्धोर्मन आभरम् ।
जीवातवे न मृत्यवेऽथो अरिष्टतातये ॥
अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः ।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः ॥ ऋग् १०.६०.७-१०,१२

"यह संजीवन औषध तेरे लिए आ गया है, यह माता है, यह पिता है। यह देख तेरा प्रसर्पण आरंभ हो गया है। हे सुबन्धु, आने जाने की क्रियाएं कर। जैसे रथ की दृढ़ स्थिति के लिए जुए को रस्सी से कसकर बाँधते हैं, वैसे ही मैंने तेरे मन को इस शरीर में दिया है, जिससे तू जीवित रहेगा, मरेगा नहीं तथा नीरोग रहेगा। जैसे इस विशाल पृथिवी ने इन वनस्पतियों को दृढ़ता से थामा हुआ है, वैसे ही मैंने तेरे मन को दृढ़ता से थाम लिया है, जिससे तू जीवित रहेगा, मरेगा नहीं तथा नीरोग रहेगा। वैवस्वत यम के पास से मैं तुझ सुबन्धु के मन को लौटा लाया हूं, जिससे तू जीवित रहेगा, मरेगा नहीं तथा नीरोग रहेगा। यह मेरा हाथ बड़ा प्रभावशाली है, यह दूसरा हाथ उससे भी अधिक प्रभावशाली है। यह मेरा हाथ सब रोगों का भेषज है, यह मेरा दूसरा हाथ छूते ही कल्याण कर देने वाला है।"

व्याधिग्रस्त को आश्वासन

ऋग्वेद के ओषधी सूक्त में भी कुछ मन्त्र इसी शैली के हैं। वैद्य रोगी को सम्बोधन कर कहता है–

अश्वावतीं सोमावतीमूर्जयन्तीमुदोजसम् ।
आवित्सि सर्वा ओषधीरस्मा अरिष्टतातये ॥
उच्छुष्मा ओषधीनां गावो गोष्ठादिवेरते ।
धनं सनिष्यन्तीनामात्मानं तव पूरुष ॥

अति विश्वाः परिष्ठाः स्तेन इव व्रजमक्रमुः ।
ओषधीः प्राचुच्यवुर्यत् किं च तन्वो रपः ।।
यदिमा षाजयन्नहमोषधी र्हस्त आदधे ।
आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा ।। ऋग् १०. ९७. ७-११

"इस रोग को विनष्ट करने के लिए अश्वावती, सोमावती, ऊर्जयन्ती, उदोजस् सब ओषधियों का ज्ञान मुझे है। हे रुग्ण पुरुष, तेरे शरीर को अपना धन प्रदान करने की इच्छा वाली मेरी ओषधियों के बल एवं प्रभाव इनमें से ऐसे ही उत्कण्ठापूर्वक बाहर आना चाह रहे हैं, जैसे गौएं गोष्ठ से बाहर निकलती हैं। मेरे चारों ओर स्थित इन ओषधियों ने रोग पर ऐसे ही आक्रमण कर दिया है,जैसे चोर गौओं के व्रज पर आक्रमण करता है। इन्होंने शरीर का जो भी रोग है उसे प्रच्युत कर दिया है। जब मैं तुझे बल देता हुआ इन ओषधियों को हाथ में पकड़ता हूं, तब प्रयोग से पहले ही रोग के प्राण नष्ट हो जाते हैं, जैसे व्याध को देखकर पक्षियों के प्राण।"

चिकित्सक की जादू भरी वाणी

कोई व्यक्ति भयंकर रोग से पीड़ित है। निश्चयात्मक रूप से रोग का निदान नहीं हो पा रहा। कुछ लोग राजयक्ष्मा बताते हैं। रोगी भी समझ रहा है कि अब यह रोग मेरे प्राण लेकर ही छोड़ेगा। ऐसे समय सौभाग्य से एक कुशल चिकित्सक आता है और रोगी पर प्रभाव डालता हुआ कहता है—

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात् ।
ग्राहिर्जग्राह यदि वैतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम् ।।
यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव ।
तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्षमेनं शतशारदाय ।।
आहार्षं त्वाविदं त्वा पुनरागाः पुनर्णव ।
सर्वाङ्ग सर्वं ते चक्षुः सर्वमायुश्च तेऽविदम् ।। ऋग् १०. १६१. १, २, ५

"मैं अग्नि में ओषधियों की हवि डालकर उसकी धूनी द्वारा चिरकाल तक जीने के लिए तुझे इस अज्ञात रोग से मुक्त कर दूंगा, भले ही यह राजयक्ष्मा क्यों न हो। चाहे तेरी आयु क्षीण हो चुकी है, चाहे तू इस लोक से विदा ले चुका है, चाहे तू मृत्यु के अत्यन्त निकट पहुंच चुका है, तो भी मैं तुझे मृत्यु की गोद से खींच लाऊँगा। शत वर्ष जीने के लिए मैंने तुझे बल प्रदान कर दिया है। देख, मैं तुझे मृत्यु के पास से लौटा लाया हूँ, तुझे हमने पा लिया है, तू पुनः हम जीवितों में आ मिला है। हे पुनः नवीन, हे सर्वांग, तेरी पूर्ण चक्षु-शक्ति को तथा पूर्ण आयु को मैं ले आया हूँ।"

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि ।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते ।।

ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात् ।
यक्ष्मं दोषण्यमंसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते ।।
आन्त्रेभ्यते गुदाभ्यो वनिष्ठोहृदयादधि ।
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां यक्नः प्लाशिभ्यो वि वृहामि ते ।।
ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम् ।
यक्ष्मं श्रोणिभ्यां भासदाद भंससो वि वृहामि ते ।।
मेहनाद् वनंकरणाल्लोमभ्यस्ते नखेभ्यः ।
यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं वि वृहामि ते ।।

अङ्गादङ्गाल्लोम्नो लोम्नो जातं पर्वणि पर्वणि ।
यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं वि वृहामि ते ।।

ऋग् १०. १६३; अथर्व २. ३३

"तेरे नेत्रों से, नासिका से, कानों से, मस्तिष्क से, जिह्वा से, शिरोवर्ती यक्ष्म को मैं अभी बाहर निकाल दूंगा। तेरी ग्रीवा से, स्नायुओं से, अस्थियों से, पृष्ठवंश से, स्कन्धों से, भुजाओं से मध्यवर्ती यक्ष्म को मैं अभी बाहर निकाल दूंगा। तेरी छोटी आंतों से, गुदा-भागों से, बृहद् आन्त्र से, हृदय से, गुदों से, जिगर से, तिल्ली से यक्ष्म को मैं अभी बाहर निकाल दूंगा। तेरे ऊरुओं से, घुटनों से, एड़ियों से, पंजों से, जघन-स्थलों से, पायु से यक्ष्म को मैं अभी बाहर निकाल दूंगा। तेरी मूत्रेन्द्रिय से, लोमो से नखों से, सारे ही शरीर से यक्ष्म को मैं अभी बाहर निकाल दूंगा। अंग-अंग से, रोम-रोम से, पर्व-पर्व से, सारे शरीर से यक्ष्म को मैं अभी बाहर निकाल दूंगा।"

सर्पदष्ट को आश्वासन

अथर्ववेद में सर्पदंश का प्रसंग है। सर्प के विष से उतने व्यक्ति नहीं मरते, जितने सर्प काटे के भय से मरते हैं, क्योंकि अधिकांश सर्प निर्विष होते हैं। अतः चिकित्सक आश्वासनात्मक शैली का आश्रय ले एक सर्पदष्ट व्यक्ति को सान्त्वना दे रहा है—

दर्दिहि मह्यं वरुणो दिवः कविर्वचोभिरुग्रैर्निरिणामि ते विषम् ।
खातमखातमुत सक्तमग्रभमिरेव धन्वन् नि जजास ते विषम् ।।
यत् ते उपोदकं विषं तत् त एतास्वग्रभम् ।
गृह्णामि ते मध्यमुत्तमं रसमुतावमं भियसा नेशदादु ते ।।

वृषा मे रवो नभसा न तन्यतुरुग्रेण ते वचसा बाध आदु ते ।
अहं तमस्य नृभिरग्रभं रसं तमस इव ज्योतिरुदेतु सूर्यः ।।
अथर्व ५. १३. १-३

"दिव्य कवि वरुण ने मुझे ऐसी शक्ति दी है कि उग्र वचनों से ही मैं तेरे विष को निकाल दूंगा । अंग में सर्प का दांत गड़ा हो, न गड़ा हो, स्पर्शमात्र हुआ हो, कोई चिन्ता की बात नहीं है । तेरा विष ऐसे ही सूख जायेगा, जैसे मरुस्थल में पानी । जो तेरा तीव्र विष है, उसे मैंने इन वन्धनियों में बांध लिया है । मध्यम, उत्तम, अधम कैसा भी विष हो, मैंने उसे पकड़ लिया है । मेरी पकड़ में आकर वह भय से ही नष्ट हो जायेगा । देख, बड़ा तीव्र मेरा शब्द है, जैसे आकाश की विजली हो । उस उग्र शब्द मे मैं तेरा विष नष्ट कर रहा हूं ।"

अन्य प्रसंग

अन्यत्र चिकित्सक रोगी को सान्त्वना देता हुआ निम्न उद्गार प्रकट करता है–

यत् ते माता यत् ते पिता जामिर्भ्राता च सर्जतः ।
प्रत्यक् सेवस्व भेषजं जरदष्टिं कृणोमि त्वा ।।
इहैधि पुरुष सर्वेण मनसा सह ।
दूतौ यमस्य मानु गा अधि जीवपुरा इहि ।।
मा बिभेर्न मरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमि त्वा ।
निरवोचमहं यक्ष्मभङ्गेभ्यो अङ्गज्वरं तव ।। अथर्व ५. ३०. ५, ६, ८

"तेरे माता, पिता, बहिन या भाई ने जिस औषध को तैयार किया है, उसका तू सेवन कर । चिन्तित मत हो, मैं तुझे दीर्घजीवी कर दूंगा । हे पुरुष, अपने सम्पूर्ण मनोबल के साथ तू यहीं रह, यम के दूतों का अनुसरण मत कर, इस जीवपुरी में ही वास कर । भयभीत मत हो, तू मरेगा नहीं, तुझे मैं चिरंजीव कर रहा हूं । मैंने तेरे अंगों से यक्ष्म को तथा अंगज्वर को, समझ ले, बाहर निकाल ही दिया है ।"

जीवतां ज्योतिरभ्येह्यर्वाङा त्वा हरामि शतशारदाय ।
अवमुञ्चन् मृत्युपाशानशस्तिं द्राघीय आयुः प्रतरं दधामि ।।
कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति ।
वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतांश्चरतोऽप सेधामि सर्वान् ।।
सोऽरिष्ट न मरिष्यसि न मरिष्यसि मा बिभेः ।
न वै तत्र म्रियन्ते नो यन्त्यधमं तमः ।।

सर्वो वै तत्र जीवति गौरश्वः पुरुषः पशुः ।
यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिर्जीवनाय कम् ।। अथर्व ८.२.२,११,२४,२५

"हे पुरुष, तू जीवितों की ज्योति को प्राप्त कर । शत वर्ष जीने के लिए मैं तुझे मृत्यु के मुख से खींच लाया हूँ । मृत्युपाशों को तथा अप्रशस्त जीवन को दूर कर, मैं तुझे दीर्घायुष्य प्रदान कर रहा हूं । मैं तुझे प्राणापान, जरा-मृत्यु, दीर्घायु तथा स्वस्ति प्रदान कर रहा हूं । वैवस्वत से भेजे हुए, यहां विचरण करते हुए सब यमदूतों को मैं अभी दूर भगा दूंगा । तू अक्षय है, मरेगा नहीं, भय मत कर । जहां जीवन के लिए मेरे औषध को परिधि बना लिया जाता है, वहां कोई मरते नहीं, न दुर्गति को प्राप्त करते हैं, अपितु गौ, अश्व, पुरुष, पशु सब जीवित रहते हैं ।"

शीर्षक्तिं शीर्षामयं कर्णशूलं विलोहितम् ।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ।।
यः कृणोति प्रमोतमन्धं कृणोति पूरुषम् ।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निमन्त्रयामहे ।।
यस्य भीमः प्रतीकाश उद्वेपयति पूरुषम् ।
तक्मानं विश्वशारदं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ।। अथर्व ९.८.१,४,६

"शिरःकम्प, शिरोवेदना, कर्णशूल, रक्ताधिक्य आदि तेरे समस्त शीर्षण्य रोग को मैं अभी बाहर निकाल दूंगा । जो पुरुष को गूंगा कर देता है, अन्धा कर देता है, उस सब तेरे शीर्षण्य रोग को मैं सभी बाहर निकाल दूंगा । जिसका रूप बड़ा भयंकर है, जो पुरुष को प्रकम्पित कर देता है, उस वर्षव्यापी ज्वर को अभी मैं बाहर निकाल दूंगा ।"

यह शैली मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है । इसी शैली के आधार पर बिना औषध के मानसिक तथा शारीरिक रोगों की चिकित्सापद्धति का आविष्कार हुआ है ।

३. आशीर्वादात्मक शैली

अब इस अध्याय की तृतीय शैली पर आते हैं । यह आशीर्वादात्मक शैली है । इस शैली में किसी व्यक्ति के प्रति शुभकामना प्रकट की जाती है, अथवा उसे आशीर्वाद दिया जाता है । वेदों में इस शैली का भी प्रयोग हुआ है । जिसके प्रति शुभकामना या आशीर्वाद प्रयुक्त किये जाते हैं, वह व्यक्ति अथवा उसका कार्य समाज के लिए हितकर एवं वांछनीय है तथा वेद की दृष्टि में वह प्रशंसनीय है यह इससे सूचित होता है । वेदों में से चुन कर इस शैली के उदाहरण नीचे प्रस्तुत किए जा रहे हैं ।

दानी के प्रति

अभी प्रेरणात्मक शैली में हम देख चुके हैं कि वेद की दृष्टि में दान एवं त्याग का बहुत महत्त्व है। तदनुसार जो दान देता है उसके प्रति ग्रहीता के हृदय से आशीर्वाद प्रवृत्त होना स्वाभाविक है। निम्न प्रसंग में नाभा नेदिष्ठ सावर्णि मनु[11] से विपुल दान प्राप्त कर उसके प्रति शुभकामना तथा आशीर्वाद की धाराएं बहा रहा है–

प्र नूनं जायतामयं मनुस्तोक्मेव रोहतु।
यः सहस्रं शताश्वं सद्यो दानाय मंहते॥

सहस्रदा ग्रामणीर्मा रिषन्मनुः सूर्येणास्य यतमानैतु दक्षिणा।
सावर्णेर्देवाः प्रतिरन्त्वायुर्यस्मिन्नश्रान्ता असनाम वाजम्॥

ऋग् १०.६२.८, ११

"यह सावर्णि मनु बहुत-बहुत फूले-फले, दूर्वांकुरों के समान समृद्धि को प्राप्त हो, जिसने सहस्र गौएं तथा शत अश्व मुझे दान में दिए हैं। सहस्रों के दाता इस मनु को कोई हानि न पहुंचे। इसकी प्रवर्तमान दक्षिणा सूर्य के साथ तुलनीय होवे। देव इस सावर्णि की आयु को बढ़ायें, जिसकी शरण में जाकर अश्रान्त होते हुए हमने ऐश्वर्य-लाभ किया है।"

निम्न स्थल में वृषभ का दान करने वाले के प्रति शुभकामना प्रकट की गयी है–

गावः सन्तु प्रजाः सन्त्वथो अस्तु तनूबलम्।
तत् सर्वमनु मन्यतां देवा ऋषभदायिने॥ अथर्व ९.४.२०

"गौएं प्राप्त हों, सन्तान प्राप्त हों और शारीरिक बल प्राप्त हो। हे देव-जनो, ऋषभ का दान करने वाले को यह समस्त ऐश्वर्य अधिगत हो।"

अङ्गिरसों के प्रति

चतुर्थ अध्याय में सरमा-पणि-संवाद में हम देख चुके हैं कि अंगिरस पणियों द्वारा चुरायी गयी गौओं को पुनः प्राप्त करने में इन्द्र प्रधान सहायक होते हैं। उन्हीं अंगिरसों के प्रति अधोलिखित प्रसंग में शुभकामना की गयी है--

---

११. ऐतिहासिक पक्ष के अनुसार नाभा नेदिष्ठ और सावर्णि मनु ऐतिहासिक नाम हैं, किन्तु नैरुक्त पक्ष में ये यौगिक नाम होंगे।

ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानश ।
तेभ्यो भद्रमङ्गिरसो वो अस्तु प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधसः ।।
य उदाजन् पितरो गोमयं वस्वृतेनाभिन्दन् परिवत्सरे वलम् ।
दीर्घायुत्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधसः ।।
य ऋतेन सूर्यमारोहयन् दिव्यप्रथयन् पृथिवीं मातरं वि ।
सुप्रजास्त्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधसः ।।

ऋग् १०. ६२, १-३

"जिन्होंने यज्ञ किया है, दक्षिणा दी है, इन्द्र के सख्य को तथा अमृतत्व को प्राप्त किया है, ऐसे आप लोगों को हे अंगिरसो, कल्याण प्राप्त हो । जिन पितृजनों ने गौरूप धन प्राप्त कराया है, एक वर्ष में ऋत के द्वारा वलासुर का भेदन कर दिया है, ऐसे आप लोगों को हे अंगिरसो, दीर्घायुष्य प्राप्त हो । जिन्होंने ऋत के द्वारा सूर्य को द्युलोक में आरोहण कराया है, माता पृथिवी को विस्तीर्ण किया है, ऐसे आप लोगों को हे अंगिरसो, सुप्रजास्त्व प्राप्त हो । यह नाभा नेदिष्ठ आपके गृह पर आकर आपके लिए रमणीय शुभकामना कह रहा है, हे ऋषियो, उसे सुनो । हे अंगिरसो, प्रभु करे तुम्हें सुब्रह्मण्य प्राप्त हो ।

वर-वधू के प्रति

ऋग्वेद दशम मण्डल का सूक्त ८५ तथा अथर्ववेद का चतुर्दश काण्ड विवाह परक है । इनमें तथा क्वचित् अन्यत्र भी वर-वधू के प्रति आशीर्वाद एवं शुभकामना के कुछ मन्त्र आते हैं, जिनका भाव यहां दिया जाता है ।

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ ।।
शं ते हिरण्यं शमु सन्त्वापः शं मेथिर्भवतु शं युगस्य तर्द्म ।
शं त आपः शतपवित्रा भवन्तु शमु पत्या तन्वं सं स्पृशस्व ।।
यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा ।
एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य ।।
सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु ।
ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः ।।

अथर्व १४. १. २२, ४०, ४३, ४४

"प्रभु करे आप दोनों साथ-साथ रहें, परस्पर पृथक् न हों, पुत्र-पौत्रों के साथ खेलते हुए, अपने गृह में आमोद-प्रमोद करते हुए गृहस्थाश्रम के लिए नियत समस्त आयु व्यतीत करें । हे वधू, तेरे लिए हिरण्य सुखकारी हो,

यज्ञस्तम्भ सुखकारी हो, रथयुग का छिद्र सुखकारी हो। जैसे समुद्र ने नदियों को साम्राज्य दिया हुआ है, ऐसे ही तू भी पतिगृह में जाकर सम्राज्ञी बने। तू श्वसुर की दृष्टि में सम्राज्ञी होवे, सास की दृष्टि में सम्राज्ञी होवे, ननद की दृष्टि में सम्राज्ञी होवे, देवरों की दृष्टि में सम्राज्ञी होवे।"

या ओषधयो या नद्यो यानि क्षेत्राणि या वना।
तास्त्वा वधु प्रजावतीं पत्ये रक्षन्तु रक्षसः॥

स्योनाद् योनेरधिबुध्यमानौ हसामुदौ महसा मोदमानौ॥
सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तराथो जीवावुषसो विभातीः॥ अथर्व १४. २.७, ४३

"जो औषधियाँ हैं, जो नदियां हैं, जो खेत हैं जो वन हैं, वे सब हे वधू, राक्षसों से तेरी रक्षा करते रहें। सविता तुम दोनों की आयु को दीर्घ करें। आप दोनों सुखमय घर में जागरूक रहते हुए, हास्य-प्रमोद करते हुए, उत्सव से आनन्द लाभ करते हुए श्रेष्ठ गौएं, श्रेष्ठ पुत्र, श्रेष्ठ गृह प्राप्त करते हुए, जीवन से अनुप्राणित होते हुए जगमगाती उषाओं को व्यतीत करते रहें।"

अभि वर्धतां पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम्।
रय्या सहस्रवर्चसेमौ स्तामनुपक्षितौ॥
त्वष्टा जायामजनयत् त्वष्टास्यै त्वां पतिम्।
त्वष्टा सहस्रमायूंषि दीर्घमायुः कृणोतु वाम्॥ अथर्व ६.७८.२

"यह युगल दूध से बढ़े, राष्ट्र से बढ़े, सहस्रवर्चोयुक्त ऐश्वर्य के सहित ये दम्पती अनुपक्षीण रहें। त्वष्टा ने इसे तेरी जाया बनाया है, त्वष्टा ने ही तुझे इसका पति बनाया है। वही त्वष्टा प्रभु आप दोनों की आयु को दीर्घ करे, आपको सहस्र वर्ष की आयु प्रदान करे।"

जन-साधारण के प्रति

निम्नलिखित वैदिक आशीर्वाद प्रत्येक मनुष्य के लिए हो सकते हैं—

एह्यश्मानमातिष्ठाश्मा भवतु ते तनुः।
कृण्वन्तु विश्वे देवा आयुष्टे शरदः शतम्॥ अथर्व २. १३. ४

घृतह्रदा मधुकूलाः सुरोदकाः क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना।
एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमानाः॥
उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ता॥ अथर्व ४.३४.६.

त्रयः पोषास्त्रिवृति श्रयन्तामनक्तु पूषा पयसा घृतेन।
अन्नस्य भूमा पुरुषस्य भूमा भूमा पशूनां त इह श्रयन्ताम्॥ अथर्व ५.२८.३
शिवे ते स्तां द्यावापृथिवी असंतापे अभिश्रियौ।

शं ते सूर्य आ तपतु शं वातो वातु ते हृदे ।
शिवा अभिक्षरन्तु त्वापो दिव्याः पयस्वतीः ॥

"आ, इस प्रस्तर पर बैठ, प्रस्तर के समान तेरा शरीर सुदृढ हो जाये । समस्त देव तेरी आयु शत वर्ष की करें[१२] । घृत के सरोवरों वाली, मधुमय कूलों वाली, स्वच्छ जल वाली, दूध से पूर्ण, दधिरस से पूर्ण ये सब धारायें गृहस्थ-स्वर्ग में तुझे प्राप्त हों । पुष्कर-पत्रों से अलंकृत सरसियां तेरे चारों ओर शोभित हों[१३] । तुझे शारीरिक, मानसिक, आत्मिक त्रिविध पुष्टि प्राप्त हो, पूषा देव तुझे दूध तथा घृत से युक्त करे । अन्न की समृद्धि, पशुओं की समृद्धि तुझे प्राप्त हो[१४] । तेरे लिये द्यावापृथिवी शिव, सन्तापरहित तथा श्रीयुक्त हों । सूर्य तेरे लिए सुखकर होता हुआ ताप दे, वायु तेरे हृदय के लिए सुखकर होता हुआ वहे, दूध जैसे निर्मल वर्षा-जल तेरे लिए सुखकर होते हुए प्रवाहित हों[१५] ।

दिवंगत आत्मा के प्रति

ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के निम्न प्रसंग से दिवंगत व्यक्ति की आत्मा के लिए शुभकामना प्रकट की गयी है कि वह इन श्रेष्ठ कुलों में से ही किसी में जन्म ले–

सोम एकेभ्यः पवते घृतमेक उपासते
येभ्यो मधु प्रधावति तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥
तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः ।
तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥

---

१२. विनियोगकार के अनुसार इस मन्त्र से गोदान संस्कार में ब्रह्मचारी का दक्षिण चरण पत्थर पर रखवाया जाता है । द्रष्टव्य: सायणभाष्य में उद्धृत कौशिकसूत्र (५४. ८) का विनियोग ।

१३. इस सूक्त के मन्त्रों का विनियोग ओदनसव में चारों दिशाओं में ह्रद तथा कुल्याएं रचने, उन्हें रस से भरने आदि में किया गया है । कौ. सू. ६६. ६

१४. इसका विनियोग हिरण्यमणिबन्धन, उपनयन आदि में किया गया है । द्रष्टव्य: सा. भा. ।

१५. इसका विनियोग उपनयन, आयुष्यकर्म, नामकरण आदि में किया गया है । द्रष्टव्य: सा० भा०

ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः ।
ये वा सहस्रदक्षिणास्ताँश्चिदेवापि गच्छतात् ॥
ये चित् पूर्व ऋतसाप ऋतावान ऋतावृधः ।
पितॄन् तपस्वतो यम ताँश्चिदेवापि गच्छतात् ॥
सहस्रणीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम् ।
ऋषीन् तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् ॥ ऋग् १०.१५४.१-५

"कुछ के लिए सोम प्रवाहित होता है, कुछ घृत को प्राप्त करते हैं, कुछ के लिए मधु प्रवाहित होता है। हे दिवंगत आत्मन्, उन्हीं लोगों को तू पुनर्जन्म में प्राप्त होवे। जो तप से अनाधृष्य बने हुए हैं, जिन्होंने तप से स्वः को अधिगत किया हुआ है, जो महान् तप का अनुष्ठान करने वाले हैं, उन्हीं लोगों को हे दिवंगत आत्मन्, तू पुनर्जन्म में प्राप्त होवे। जो संग्रामों में युद्ध करते हैं, जो शरीर का बलिदान कर देने वाले शूर हैं, जो सहस्र दक्षिणाएं देने वाले हैं, उन्हीं को हे दिवंगत आत्मन्, तू पुनर्जन्म में प्राप्त होवे। जो सत्यस्पर्शी, सत्यमय एवं सत्यप्रचारक श्रेष्ठ पुरुष हैं, उन्हीं तपस्वी पितृजनों को हे दिवंगत आत्मन्, तू पुनर्जन्म में प्राप्त होवे। जो सहस्र मार्ग दर्शाने वाले कविजन हैं, जो सूर्य के रक्षक हैं, उन तपस्वी, तपःख्यात ऋषियों को हे दिवंगत आत्मन्, तू पुनर्जन्म में प्राप्त होवे।

यजुर्वेद के पितृमेधाध्याय में निम्न आशीर्वाद मिलता है—

शं वातः शं हि ते घृणिः शं ते भवन्त्विष्टकाः ।
शं ते भवन्त्वग्नयः पार्थिवासो मा त्वाभिशूशुचन् ॥
कल्पन्तां ते दिशस्तुभ्यमापः शिवतमास्तुभ्यं भवन्तु सिन्धवः ।
अन्तरिक्षं शिवं तुभ्यं कल्पन्तां ते दिशः सर्वाः ॥ यजु ३५. ८, ९

"तेरे लिए वायु सुखकारी हो, तेरे लिए सूर्यकिरण सुखकारी हों, यज्ञवेदि की इष्टकाएं तेरे लिए सुखकारी हों, पार्थिव अग्नियां तेरे लिए सुखकारी हों, वे सब तुझे शोकाकुल न करें। दिशाएं तेरे लिए मंगलकारी हों, सलिल तेरे लिए मंगलकारी हों, नदियां तेरे लिए मंगलकारी हों, अन्तरिक्ष तेरे लिए मंगलकारी हो। सब दिशाएं तेरे ऊपर मंगलवर्षा करती रहें[१६]।"

१६. पितृमेधाध्याय की कर्मकाण्डपरक व्याख्या के अनुसार इन मन्त्रों को यहां दिवंगत आत्मा के प्रति दर्शाया गया है। वैसे यह सुरम्य आशीर्वाद किसी भी व्यक्ति को दिया जा सकता है। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की दीक्षान्तविधि में ये मन्त्र नवस्नातकों को जनता द्वारा आशीर्वाद देने में विनियुक्त किये गये हैं।

इस अध्याय में प्रेरणात्मक, आश्वासनात्मक तथा आशीर्वादात्मक शैलियों पर विचार किया गया है। यद्यपि इन शैलियों को विशद करने के लिए दिये गये उदाहरण विषय की दृष्टि से भी पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हैं, तो भी यहां विशेषतः शैली की दृष्टि से ही उनका मूल्यांकन करना अभिप्रेत है। जब वेद प्रेरणात्मक शैली में कोई बात कहते हैं तो वहां यह निस्सन्देह ज्ञात हो जाता है कि मनुष्य के लिए वेदों का यह आदेश है। किन्तु आश्वासनात्मक एवं आशीर्वादात्मक शैलियों द्वारा कथन होने पर यह प्रतीति नहीं होती कि वेद का कुछ आदेश है। पर वस्तुतः उसमें भी एक आदेश या विधि अन्तर्निहित होती है। वेद ने यह कल्पित किया कि कोई सुबन्धु मानसिक रोग से रुग्ण हो गया है, पश्चात् चिकित्सक द्वारा उसे आश्वासन प्रदत्त करवाया गया। इससे यह विधि ध्वनित होती है कि ऐसे अवसरों पर चिकित्सक द्वारा आश्वासन दिया जाना चाहिए। रोगी के लिए यह विधि सूचित होती है कि उसे कष्ट से व्याकुल न हो धैर्य धारण करना चाहिए। इसी प्रकार जब वेद दानी के प्रति किसी के द्वारा आशीर्वाद दिलवाता है तब मनुष्य को दान करना चाहिए यह विधि ही व्यक्त होती है। ग्रहीता के सम्बन्ध में यह सूचित होता है कि उसे दानी के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए। यदि हम इन शैलियों पर ध्यान नहीं देते तो ऐसा कोई वृत्त घटित हुआ था कि अमुक ने अमुक को आश्वासन या आशीर्वाद दिया था, इतना मात्र हम वेद का आशय समझ पाते हैं। एवं इन शैलियों का विचार आवश्यक है।

सप्तम अध्याय

अर्थवादात्मक, अभिशापात्मक तथा भर्त्सनात्मक शैली

१. अर्थवादात्मक शैली

दर्शनशास्त्र में अर्थवाद के अनेक भेद हैं, जिनमें स्तुति, निन्दा, परकृति तथा पुराकल्प प्रमुख हैं[1]। इनमें भी सार्वत्रिक प्रयोग पाये जाने से स्तुति एवं निन्दा विशेष प्रसिद्ध हैं। हम भी यहां अर्थवादात्मक शैली में केवल स्तुति तथा निन्दा को ही गृहीत करेंगे। किसी सत्कार्य में प्रवृत करने के उद्देश्य से उसकी अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा करना स्तुति कहलाता है। इसमें उस कार्य का ऐसा फल वर्णित किया जाता है जो सामान्यतः उस कार्य को करने से उपलब्ध होता नहीं। यथा, तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा है कि पूर्णाहुति से सब मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं[2], परन्तु देखने में यह आता है कि पूर्णाहुति देने के पश्चात् भी मनोरथ पूर्ण नहीं होते। ताण्ड्य महाब्राह्मण में गर्गत्रिरात्र-विधि की स्तुति करते हुए कहा है कि जो इसे जान लेता है उसका मुख शोभित हो जाता है[3]; किन्तु देखा यह गया है कि उक्त विधि का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी किसी असुन्दर मुख वाले का मुख शोभित नहीं हुआ। वस्तुतः फल-कथन में यह अतिशयोक्ति इस हेतु से की जाती है कि इस महान् फल को सुनकर मनुष्य उस कार्य में तत्पर हों। इसी प्रकार किसी कार्य से निवृत्त करने के लिए उसका अतिशयोक्तिपूर्ण अपवाद निन्दा कहलाती है। यथा, ताण्ड्यब्राह्मण में कहा है कि जो ज्योतिष्टोम यज्ञ न कर अन्य यज्ञ करता है वह गर्त में गिर कर मृत्यु को

---

१. स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः। न्यायदर्शन २. १. ६४। विधेः फलवादलक्षणा या प्रशंसा सा स्तुतिः, सम्प्रत्ययार्था, स्तूयमानं श्रद्दधीतेति, प्रवर्तिका च, फलश्रवणात् प्रवर्तते। ...अनिष्ट-फलवादो निन्दा, वर्जनार्था, निन्दितं न समाचरेदिति। ...अन्यकर्तृकस्य व्याहतस्य विधेर्वादः परकृतिः। ... ऐतिह्यसमाचरितो विधिः पुराकल्प इति (वात्स्यायन-भाष्य)।

२. पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति। तै. ब्रा. ३.८.१०.५

३. शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद। ता. ब्रा. २०. १६. ६

प्राप्त होता है[४]। परन्तु देखते यह हैं कि ज्योतिष्टोम से भिन्न यज्ञ करने वाले भी सुरक्षित रहते हैं, उनका गर्त में पतन नहीं होता। यहाँ अन्य यज्ञों की तुलना में ज्योतिष्टोम की महत्ता बताने के लिए ही ऐसा कहा गया है। निरुक्त में एक वचन उद्धृत किया गया है, जिसका भाव यह है कि यजमान यज्ञस्तम्भ को भूमि में गाड़ते समय इस बात का ध्यान रखे कि उसका अनछिला अचिक्कण भाग पूरा भूमि के अन्दर चला जाये, ऊपर दिखाई न दे, यदि दिखाई देगा तो यजमान मृत्यु को प्राप्त कर श्मशान में शयन करेगा[५]। परन्तु अनछिला भाग ऊपर दीखने पर भी कोई यजमान श्मशान में स्थित नहीं होता। यह निन्दा इस अशुभ कार्य से यजमान को निवृत्त करने के हेतु से ही की गयी है।

इस अतिशयोक्तिपूर्ण फलश्रुति को देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि ये वाक्य असत्य या अप्रामाणिक हैं। इसीलिए पूर्वमीमांसा में बड़े प्रयत्न से इन अर्थवादों का प्रामाण्य सिद्ध किया गया है[६]। ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि के समान वेदों में भी ऐसी प्रशंसाएं तथा निन्दाएं प्रचुर परिमाण में पायी जाती हैं, जिन्हें हम प्रदर्शित करेंगे।

क. प्रशसात्मक अर्थवाद

वेदों में यज्ञ, दान आदि सत्कर्म मनुष्य-जीवन के आदर्श स्वीकार किये गये हैं। अत एव मनुष्य को उनमें प्रवृत्त करने के लिए उनकी अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा की गयी है। नीचे इस प्रकार के बहुत से प्रसंग उपस्थित किये जा रहे हैं।

यज्ञ एवं अग्निहोत्र की प्रशंसा

अग्निस्तुविश्रवस्तमं तुविब्रह्माणमुत्तमम्।
अतूर्तं श्रावयत्पतिं पुत्रं ददाति दाशुषे॥
अग्निर्ददाति सत्पतिं सासाह यो युधा नृभिः।
अग्निरत्यं रघुष्यदं जेतारमपराजितम्॥ ऋग् ५.२५.५.६

---

४. एष (ज्योतिष्टोमः) वाव प्रथमो यज्ञानां, य एतेनानिष्ट्वा अथान्येन यजते गर्तपत्मेव तज्जीयते वा प्र वा मीयते। ता. ब्रा. १६. १. २।

५. नोपरस्याविष्कुर्याद् यदुपरस्याविष्कुर्याद् गर्तेष्ठाः स्यात् प्रमायुको यजमानः इत्यपि निगमो भवति। निरु. ३. ५

६. द्रष्टव्यः पू. मी. १. २. १-१८

"अग्नि हविर्दाता यजमान को प्रभूतकीर्तिसम्पन्न, प्रचुर ज्ञानवान्, शत्रुओं से अहिंस्य तथा माता-पिता के यश को प्रख्यापित करने वाला पुत्र प्रदान करता है। अग्नि ऐसा पुत्र देता है जो श्रेष्ठ जनों का पालक हो तथा युद्ध में अपने सैनिकों द्वारा शत्रु को परास्त कर सके। अग्नि ऐसा अश्व देता है जो फुर्तीले वेग वाला, तथा अपराजित होता है।"

यस्ते यज्ञेन समिधा य उक्थैरर्केभिः सूनो सहसो ददाशत् ।
स मर्त्येष्वमृत प्रचेता राया द्युम्नेन श्रवसा विभाति ।। ऋग् ६.५.५

"हे बल के सूनु अमर अग्नि, जो यज्ञ, समिधा, उक्थ एवं स्तोत्रों के साथ तुझे हवि प्रदान करता है, वह मनुष्यों में प्रचेता होकर धन, अन्न तथा यश से भासमान होता है।"

इन्द्रो यज्वने पृणते च शिक्षत्युपेद् ददाति न स्वं मुषायति ।
भूयो भूयो रयिमिदस्य वर्धयन्नभिन्ने खिल्ये निदधाति देवयुम् ।।
न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति ।
देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित् ताभिः सचते गोपतिः सह ।।
न ता अर्वा रेणुककाटो अश्नुते न संस्कृतत्रमुप यन्ति ता अभि ।
उरुगायमभयं तस्य ता अनु गावो मर्तस्य वि चरन्ति यज्वनः ।।
ऋग् ६.२८.२-४

"यज्वा एवं हविर्दाता यजमान को इन्द्र निश्चय ही गौएं देता है, उसके गोधन को अपहरण नहीं करता। पुनः पुनः उसके ऐश्वर्य को बढ़ाता हुआ उस देवपूजाभिलाषी को अच्छिन्न, सुरक्षित निवासस्थान प्रदान करता है। जिन गौओं से गोपति यजमान देव-यज्ञ करता है तथा जिनके घी-दूध आदि का दान करता है, उनके साथ वह चिरकाल तक संयुक्त रहता है। उसकी वे गौएं न नष्ट होती हैं, न चोर उन्हें चुराता है, न शत्रु का व्यथादायक शस्त्र उन पर आक्रमण कर पाता है। न काट-काट कर टुकड़े करने वाले हिंस्र जन्तु के हाथ वे पड़ती हैं, न कसाई-खाने में जाने पाती हैं। अपितु उस यज्वा की वे गौएं खुले चरागाहों में निर्भयतापूर्वक विचरती हैं।"

यः समिधा य आहुती यो वेदेन ददाश मर्तो अग्नये ।
यो नमसा स्वध्वरः ।।
तस्येदर्वन्तो रंहयन्त आशवस्तस्य द्युम्नितमं यशः ।
न तमंहो देवकृतं कुतश्चन न मर्त्यकृतं नशत् ।। ऋग् ८.१९.५,६
यो अस्मै हव्यदातिभिराहुतिं मर्तोऽविधत् ।
भूरि पोषं स धत्ते वीरवद् यशः ।। ऋग् ८.२३.२१

"श्रेष्ठ यज्ञ का सम्पादन करने वाला जो मनुष्य समिधा, आहुति, वेदपाठ तथा नमस्कार पूर्वक अग्नि को हवि प्रदान करता है, उसे फुर्तीले घोड़े वेग के साथ वहन करते हैं, उसका यज्ञ अतिशय दीप्तिमान् होता है। न देवकृत दुर्गति उसके समीप आती है, न मनुष्यकृत।"

जो मनुष्य ऋत्विजों द्वारा अग्नि को आहुति प्रदान करता है, वह भूरि-भूरि पुष्टि को तथा वीर पुत्रों एवं कीर्ति को प्राप्त करता है।"

यो यजाति यजात इत् सुनवच्च पचाति च। ब्रह्मेदिन्द्रस्त चाकनत् ॥
पुरोडाशं यो अस्मै सोमं ररत आशिरम्। पादित् तं शक्रो अंहसः ॥
तस्य द्युमाँ असद् रथो देवजूतः स शूशुवत्। विश्वा वन्वन्नमित्रिया ॥
अस्य प्रजावती गृहेऽसश्चन्ती दिवे दिवे। इडा धेनुमती दुहे ॥
या दम्पती समनसा सुनुत आ च धावतः। देवासो नित्ययाशिरा ॥
प्रति प्राशव्याँ इतः सम्यञ्चा बर्हिराशाते। न ता वाजेषु वायतः ॥
न देवानामपि ह्नुतः सुमतिं न जुगुक्षतः। श्रवो बृहद् विवासतः ॥
पुत्रिणा ता कुमारिणा विश्वमायुर्व्यश्नुतः। उभा हिरण्यपेशसा ॥

ऋग् ८.३१.१-८

"जो यज्ञ करता है; सोम-सवन करता है, हवि पकाता है, इन्द्र के स्तुति-मन्त्रों की पुनः पुनः स्पृहा करता है, इन्द्र के लिए पुरोडाश तथा गोदुग्ध मिश्रित सोम अर्पित करता है, उसे इन्द्र निश्चय ही पाप से बचाता है। उसका रथ दीप्तिमान् रहता है, देवों से प्रेरित होकर वह शत्रुकृत सब बाधाओं को विनष्ट करता हुआ वृद्धि को प्राप्त करता है। इसके घर में प्रतिदिन बछड़े बछियों वाली दुधारू गौ बेरोक-टोक दूध देती है। जो दम्पती समान मन वाले होकर सोम अभिषुत करते हैं, भक्षणयोग्य हविर्भूत अन्नों को प्राप्त करते हैं तथा दोनों मिलकर यज्ञ में बैठते हैं, उन्हें अन्न, धन, बलादि की कमी नहीं रहती। जो दम्पती हवि अर्पित करने में दुराव-छिपाव नहीं करते, स्तुति करने में दुराव-छिपाव नहीं करते, वे महान् यश तथा अन्न को प्राप्त करते हैं। वे पुत्रवान् तथा कुमारवान् होते हुए पूर्ण आयु पाते हैं तथा दोनों ही हिरण्यालंकारों से जगमगाते रहते हैं।

यो अस्मा अन्नं तृष्वादधात्याज्यैर्घृतैर्जुहोति पुष्यति।
तस्मै सहस्रमक्षभिर्वि चक्षेऽग्ने विश्वतः प्रत्यङ्ङसि त्वम् ॥

ऋग् १०.७९.५

अग्निः सप्तिं वाजंभरं ददात्यग्निर्वीरं श्रुत्यं कर्मनिःष्ठाम्।
अग्नी रोदसी विचरत् समञ्जन्नग्निर्नारीं वीरकुक्षिं पुरंधिम् ॥

ऋग् १०.८०.१

"हे अग्नि, जो तुझे शीघ्र अन्न प्रदान करता है, पिघले हुए घृतों की आहुति देता है, तथा परिपुष्ट करता है, उस पर तू सहस्र नेत्रों से अपना अनुग्रहदृष्टि डालता है तथा सर्वत्र तू उसकी रक्षार्थ उसके समीप पहुंचता है।"

"अग्नि बलवान् अश्व प्रदान करता है, अग्नि विश्रुत तथा कर्मनिष्ठ वीर पुत्र प्रदान करता है, अग्नि द्यावापृथिवी को प्रकाशित करता हुआ विचरता है, अग्नि नारी को वीरप्रसवा तथा गृहकार्यदक्ष बनाता है।"

त्वामग्ने यजमाना अनु द्यून् विश्वा वसु दधिरे वीर्याणि।
त्वया सह द्रविणमिच्छमानां व्रजं गोमन्तमुशिजो विवव्रुः ॥ यजु १२.२८
स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी।
यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे ॥ अथर्व ४.१४.४

"जो विद्वज्जन विश्वतोधार यज्ञ को फैलाते हैं, उन्हें स्वर्ग-प्राप्ति के लिए किसी अन्य उपाय की अपेक्षा नहीं होती, वे पृथिवी और अन्तरिक्ष को पार कर द्युलोक में आरोहण कर जाते हैं।"

"हे अग्नि, तेरे यजमान सर्वदा समस्त वरणीय धनों को प्राप्त कर लेते हैं, तेरे साथ स्थित वे मेधावी यज्ञफल को चाहते हुए आदित्यमण्डल को भेद कर स्वर्लोक को प्राप्त कर लेते हैं।"

दान-दक्षिणा की प्रशंसा

उपक्षरन्ति सिन्धवो मयोभुव ईजानं च यक्ष्यमाणं च धेनवः।
पृणन्तं च पपुरिं च श्रवस्यवो घृतस्य धारा उपयन्ति विश्वतः ॥
नाकस्य पृष्ठे अधि तिष्ठति श्रितो यः पृणाति स ह देवेषु गच्छति।
तस्मा आपो घृतमर्षन्ति सिन्धवस्तस्मा इयं दक्षिणा पिन्वते सदा ॥
दक्षिणावतामिदिमानि चित्रा दक्षिणावतां दिवि सूर्यासः।
दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते दक्षिणावन्तः प्रतिरन्त आयुः ॥
ऋग् १.१२५.४-६

"जो दान कर रहा है तथा जिसने भविष्य में भी दान करने का संकल्प कर लिया है, उसे सुखदायिनी दुधार गौएं प्रचुर दूध देती हैं। जो दान करता है एवं अन्यों का पालन करता है उसे सब ओर से कीर्तिदायक घृत की धाराएं प्राप्त होती हैं। दानी मनुष्य स्वर्ग के पृष्ठ पर आसीन हो जाता है, देव-पुरुषों में जा मिलता है। सिन्धु-सदृश ऊधस् वाली गौएं उसे घृत प्रदान करती हैं। यह दी हुई दक्षिणा सदा सींचती रहती है। दक्षिणा देने वालों के लिए ही वे चित्र-विचित्र ऐश्वर्य हैं। दक्षिणा देने वालों के लिए ही आकाश में सूर्य

अवस्थित हैं। दक्षिणा देने वाले अमृतत्व पा लेते हैं, दक्षिणा देने वाले आयु को बढ़ा लेते हैं।"

तवोतिभिः सचमाना अरिष्टा बृहस्पते मघवानः सुवीराः ।
ये अश्वदा उत वा सन्ति गोदा ये वस्त्रदाः सुभगास्तेषु राया ।।
ऋग् ५. ४२. ८

"हे बृहस्पति, प्रभु, तेरी रक्षाओं से समन्वित होते हुए जो अक्षत, धनी, सुवीर जन अश्व-दान करते हैं या गो-दान करते हैं अथवा वस्त्र-दान करते हैं, उन्हें सुभग ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं।"

उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुर्ये अश्वदाः सह ते सूर्येण ।
हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते वासोदाः सोम प्र तिरन्त आयुः ।।
दक्षिणावान् प्रथमो हूत एति दक्षिणावान् ग्रामणीरग्रमेति ।
तमेव मन्ये नृपतिं जनानां यः प्रथमो दक्षिणामाविवाय ।।
तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुर्यज्ञन्यं सामगामुक्थशासम् ।
स शुक्रस्य तन्वो वेद तिस्रो यः प्रथमो दक्षिणया रराध ।।
दक्षिणाश्वं दक्षिणा गां ददाति दक्षिणा चन्द्रमुत यद्धिरण्यम् ।
दक्षिणान्नं वनुते यो न आत्मा दक्षिणां वर्म कृणुते विजानन् ।।
न भोजा मम्रुर्न न्यर्थमीयुर्न रिष्यन्ति न व्यथन्ते ह भोजाः ।
इदं यद्विश्वं भुवनं स्वश्चैतत् सर्वं दक्षिणैभ्यो ददाति ।।
भोजा जिग्युः सुरभिं योनिमग्रे भोजा जिग्युर्वध्वं या सुवासाः ।
भोजा जिग्युरन्तःपेयं सुराया भोजा जिग्युर्ये अहूताः प्रयन्ति ।।
भोजायाश्वं सं मृजन्त्याशुं भोजायास्ते कन्या शुम्भमाना ।
भोजस्येदं पुष्करिणीव वेश्म परिष्कृतं देवमानेव चित्रम् ।।
ऋग् १०. १०७. २, ५-१०

"दक्षिणा देने वाले उच्च स्थिति पाते हैं। जो अश्व का दान करते हैं वे सूर्य के साथ आसीन होते हैं। हिरण्य दान करने वाले अमृतत्व पाते हैं, वस्त्रदान करने वाले आयु को बढ़ा लेते हैं। दक्षिणा देने वाला श्रेष्ठ माना जाता है, वह सबके द्वारा निमन्त्रित होकर उनके यहां पहुंचता है, दक्षिणा देने वाला ग्राम का नेता बनकर आगे-आगे चलता है। मैं उसे ही नृपति समझता हूं, जो श्रेष्ठ मनुष्य सत्पात्र जनों को दक्षिणा देता है। उसे ही ऋषि कहते हैं, उसे ही ब्रह्मा, अध्वर्यु, उद्गाता तथा होता कहते हैं, वही अग्नि के तीनों रूपों को जानता है, जो श्रेष्ठ मनुष्य दक्षिणा द्वारा यज्ञसिद्धि करता है। दक्षिणा दाताओं को अश्व देती है, दक्षिणा गौ देती है, दक्षिणा रजत तथा

हिरण्य देती है, दक्षिणा अन्न देती है, जो हम सबका आत्मा है। समझदार मनुष्य दक्षिणा को अपना कवच बना लेता है। दानी मनुष्य न मरते हैं, न निर्धन होते हैं, न हिंसित होते हैं, न व्यथा पाते हैं। यह जो विश्व है तथा जो इसका सुख है उसे सबको दक्षिणा इन्हें प्रदान कर देती है। दानी लोग सबसे आगे होकर सुरक्षित गृह को पाते हैं, दानी लोग सुन्दर वस्त्रों से अलंकृत वधू को पाते हैं। दानी लोगों को मधुर रस पीने को मिलते हैं,दानी लोगों को अन्य अनेक पदार्थ मिलते हैं, जो उनके समीप बिना बुलाये ही दौड़े चले आते हैं। दानी के लिए लोग शीघ्रगामी घोड़े को सजाते हैं, दानी के लिए सुन्दरी कन्या विराजमान रहती है। दानी का घर पुष्करपत्रों से अलंकृत सरसी के समान परिष्कृत तथा देवनिर्मित के समान मनोहर होता है।"

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य वस्तुओं के दान की भी प्रशंसा वेदों में की गयी हैं, जो नीचे दी जा रही है।

शितिपाद् अवि का दान—"संकल्पों को पूर्ण करने वाली,श्वेत पैरों वाली अवि (भेड़) दान की हुई क्षति को प्राप्त नहीं होती। वह व्याप्त होकर, फलदान में समर्थ होकर सब कामनाओं को पूर्ण करती है। लोक से संमित, श्वेत पैरों वाली अवि का जो दान करता है वह सुख प्राप्त करता है, जहां निर्बल को बलवान् के प्रति कर नहीं देना पड़ता। पृथिव्यादि लोक के बराबर, पांच अपूपों सहित, श्वेत पैरों वाली अवि का प्रदाता पालकजनों के लोक में अक्षित फल का भोग करता है[7]।"

ऋषभ का दान—"जो ब्राह्मण को ऋषभ का दान करता है वह शत यज्ञ करने में समर्थ होता है, उसे अग्नियाँ पीड़ित नहीं करतीं,सब देव उसे तृप्ति प्रदान करते हैं। जो ब्राह्मणों को ऋषभ का दान कर अपने मन को विशाल बनाता है, वह अपनी गोशाला में गौओं की पुष्टि को देखता है[8]।"

अज का दान—"अज अग्नि है, अज को ज्योति कहते हैं। जीवित मनुष्य द्वारा ब्राह्मण को अज का दान करना कर्तव्य बताते हैं। इस लोक में श्रद्धालु द्वारा दान किया हुआ अज अन्धकारों को दूर कर देता है। अज दाता को

---

७. अथर्व ३. २९. २-४

८. शतयाजं स यजते नैनं दुन्वन्त्यग्नयः ।
जिन्वन्ति विश्वे तं देवा यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति ।।
ब्राह्मणेभ्यः ऋषभं दत्त्वा वरीयः कृणुते मनः ।
पुष्टिं सो अघ्न्यानां स्वे गोष्ठेऽव पश्यते ।। अथर्व ९. ४. १८, १९

सुखी के पृष्ठ पर पहुंचा देता है। ब्राह्मणों को दान किया जाता हुआ पंचोदन अज दाता के लिए कामधेनु बन जाता है। जो मनुष्य अज के साथ घर-बुना वस्त्र देता है, हिरण्य और दक्षिणा देता है, वह दिव्य तथा पार्थिव लोकों को प्राप्त कर लेता है। जो दक्षिणा से दमकते हुए पंचौदन अज का दान करता है, उसके लिए पांच स्वर्ण ज्योति का काम करते हैं, शरीर के लिए उसे कवच तथा वस्त्र प्राप्त होते हैं, वह सुखी लोक को प्राप्त करता है[९]।

शतौदना तथा वशा गौ का दान —जो अपूपों सहित शतौदना गौ का दान करता है वह आरोहण कर उस उन्नत स्थिति पर पहुंच जाता है, जहां आत्म-लोक का तृतीय स्तर है। जो हिरण्य से दमकती हुई शतौदना गौ का दान करता है वह उन लोकों को प्राप्त कर लेता है[१०] जो दिव्य तथा पार्थिव हैं। जो शतौदना गौ का दान करता है वह अन्तरिक्ष, द्यौ, भूमि, आदित्य, मरुद्, दिशा, लोक सबको प्राप्त कर लेता है। जो विद्वान् को वशा गौ का दान करते हैं वे सुख प्राप्त करते हैं। ब्राह्मण को वशा गौ का दान कर मनुष्य सब लोकों को जीत लेता है। इस गौ में ऋत, ब्रह्म तथा तप अर्पित हैं[११]।

सोम-सवन की प्रशंसा

जो मनुष्य नेता, नरहितकारी, नरों में नृतम इन्द्र के लिए 'मैं सोमाभिषव करूंगा' ऐसा कहता है, उसे 'भारत अग्नि' मंगल प्रदान करता है, वह चिरकाल तक उदित होते हुए सूर्य के दर्शन करता है। न बहुत से, न थोड़े शत्रुजन उसका वध कर पाते हैं। देवमाता अदिति उसे प्रभूत सुख प्रदान करती है[१२]।

---

९. अथर्व ९. ५. ७, १०, १४, २२, २५, २६। श्री सातवलेकर की व्याख्यानुसार इस सूक्त में अज का अर्थ जीवात्मा है। यह पांच प्रकार का अन्न खाता है, इसलिए इसको पंचौदन कहा है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पांच विषय इसके पांच भोजन हैं। जीवित मनुष्य को उचित है कि वह अपने आत्मा (अज) का समर्पण परब्रह्म के लिए करे। द्रष्टव्य: इन सूक्तों पर अथर्वभाष्य, स्वाध्याय मण्डल।

१०. अथर्व १०.९.५,६,१०। 'सैकड़ों मनुष्यों को अन्न देने वाली गौ शतौदना कहलाती है", सातवलेकर।

११. अथर्व १०.१०.३२,३३ "वशा गौ वह है जो सुख से दोही जाती है। वशा गौ सबमें उत्तम है, क्योंकि वह न मारती है, न लातें लगाती है और हर समय दूध देती है" — सातवलेकर।

१२. ऋग् ४.२५.४,५

जो मनुष्य दिन में या रात्रि में इन्द्र के लिए सोम अभिषुत करता है. वह प्रकाशवान् हो जाता है[13]। जैसे सत्पात्र को स्पन्दनशील गवाश्वादि धन प्रदान किया जाता है, वैसे ही जो हविष्मान् इन्द्र के लिए तीव्र सोमों को अभिषुत करता है, उसके लिए इन्द्र पूर्वाह्ण में पुत्र-पौत्रों-सहित, आयुधों से सुसज्जित शत्रुओं को दूर कर देता है। प्रचुर धाराओं वाले, बहुत परिमाण वाले तीव्र सोमरस जिसके उदर में पहुँच जाते हैं वह मघवा इन्द्र अभिषोता को भूरि-भूरि धन प्रदान करता है, उसके लिए अपने दान को रोकता नहीं[14]।

अतिथि-यज्ञ की प्रशंसा

अतिथिपूजक गृहपति, जो अतिथियों का दर्शन करता है, मानों देवयजन का दर्शन करता है। जो अतिथियों से संभाषण करता है, मानों यज्ञदीक्षा का ग्रहण करता है। जो उनसे जल लेने की प्रार्थना करता है. वह मानों यज्ञिय जल का आहरण करता है। जो तर्पणार्थ मधुपर्क आदि लाता है, मानो सदो-हविर्धान कल्पित करता है। जो चटाई बिछाता है, मानो यज्ञिय कुशासन बिछाता है। जो बिछाने की चादर लाता है, उससे मानो स्वर्ग लोक को अपने लिए सुरक्षित कर लेता है। जो ओढ़ने की चादर तथा तकिया लाता है, वह मानो यज्ञ की परिधि हैं। जो अंजन तथा अभ्यंजन लाता है, वह मानो यज्ञिय घृत है। जो भोजन से पूर्व लघ्वाहार लाता है, वह मानों यज्ञिय पुरोडाश है। जो अतिथि का भोजन बनाने के लिए पाचक को बुलाता है, वह मानो हविष्कृत को बुलाता है। जो व्रीहि तथा यव लाये जाते हैं, वे मानो सोमलता के खण्ड हैं। जो छड़ने के लिए ऊखल-मूसल लाता है, वे मानो यज्ञिय सिलबट्टे हैं।...... जो अतिथिपूजक आतिथ्य के लिए आहार्य वस्तुओं को देखता है कि यह अधिक हो या यह अधिक हो आदि, उसका यह कार्य मानो यजमान द्वारा ब्राह्मण ऋत्विजों के प्रति किया जाने वाला पूजा-कर्म होता है। जो कहता है 'और लीजिए' उससे प्राण को अधिक-अधिक समृद्ध करता है। जो सत्कारार्थ वस्तुएं उसके समीप लाता है, मानो हवियां लाता है। जो प्रिय या अप्रिय अतिथि हैं, वे ऋत्विज् हैं, जो स्वर्गलोक को प्राप्त कराते हैं। अतिथि जिसका अन्न खा लेते हैं, उसके पाप जग्ध हो जाते हैं। जो अतिथि-सत्कार के माहात्म्य को जानता हुआ अतिथि के लिए दूध पात्र में डाल कर लाता है, उसे अग्निष्टोम यज्ञ का फल प्राप्त होता है।

---

१३. ऋग् ५.३४.३

१४. ऋग् १०.४२.५,८

जो घृत लाता है, उससे अतिरात्र यज्ञ के फल को प्राप्त कर लेता है। जो उदक लाता है, उससे प्रजाओं के प्रजनन में समर्थ हो जाता है, प्रतिष्ठा प्राप्त करता है, प्रजाओं का प्रिय हो जाता है[१५]।

"गृहपति जो व्रात्य अतिथि से प्रश्न करता है कि आप कहां के निवासी हैं, उससे यह अपने लिए देवयान मार्गों को सुरक्षित कर लेता है। जो कहता है कि 'हे ब्राह्मण, मेरी ये वस्तुएं आपको तृप्त करें, उससे प्राण को समृद्ध कर लेता है। जो कहता है कि 'हे ब्राह्मण, जैसा आपको प्रिय हो, वैसा किया जाये' उससे अपने लिये प्रिय को सुरक्षित कर लेता है। उसे प्रिय प्राप्त होता है। वह प्रियों का प्रिय हो जाता है, जो इस महिमा को जानता है। जो कहता है, हे व्रात्य, जैसी आपकी कामना हो, वैसा ही किया जाये, उससे अपनी कामना पूर्ति को सुरक्षित कर लेता है। उसके मनोरथ पूर्ण होते हैं। वह आप्त-कामों में आप्तकाम हो जाता है, जो इस महिमा को जानता है। जो अतिथि से कहता है, जैसी आपकी बड़ी से बड़ी इच्छा हो, वैसा किया जाये,' उससे अपनी बड़ी से बड़ी इच्छा को पूर्ण कर लेता है। जिसके घर में विद्वान् व्रात्य अतिथि एक रात्रि वास करता है वह उससे पृथिवी पर जो पुण्य लोक हैं, उन्हें अधिगत कर लेता है। जिसके घर में विद्वान् व्रात्य अतिथि द्वितीय रात्रि भी वास करता है वह उससे अन्तरिक्ष में जो पुण्यलोक हैं, उन्हें अधिगत कर लेता है। जिसके घर में विद्वान् व्रात्य अतिथि तृतीय रात्रि भी वास करता है, उससे द्यौ में जो पुण्य लोक हैं, उन्हें अधिगत कर लेता है। जिसके घर में विद्वान् व्रात्य अतिथि चतुर्थ रात्रि भी वास करता है, उससे जो पुण्यों में पुण्य लोक हैं, उन्हें अधिगत कर लेता है। जिसके घर में विद्वान् अतिथि अपरिमित रात्रि वास करता है, उससे जो अपरिमित पुण्य लोक हैं, उन्हें अधिगत कर लेता है।[१६]

आदित्यों के रक्षण की प्रशंसा

हे ख्याति प्राप्त आदित्यो, जिसे तुम सुख प्रदान करने लगते हो, उसे शत्रु का तीक्ष्ण से तीक्ष्ण आयुध, भारी से भारी दुःख हिंसित करने में समर्थ नहीं होता। तुम्हारी रक्षाएं निष्पाप हैं, तुम्हारी रक्षाएं सच्ची रक्षाएं हैं[१७]। हे आदित्यो, जिसे तुम सब दुरितों से पार करा कल्याण के लिए सुनीतियों से ले चलते हो, वह मनुष्य अक्षत रहता हुआ वृद्धि को प्राप्त करता है, प्रजाओं

१५. अथर्व ९. ६
१६. अथर्व १५.११.१३
१७. ऋग् ८.४७.७

से प्रख्यात होता है, धर्म में निपुण हो जाता है[18]। उस मनुष्य को न पाप प्राप्त होता है, न दुर्गति, जिसे परस्पर संगत मित्र, वरुण तथा अर्यमा द्वेपियों से आगे ले जाते हैं[19]। न उसे घर में, न रोकटोक वाले मार्गों में पाप-प्रशंसक रिपु सता पाता है, जिस मनुष्य को अदिति के पुत्र प्रकृष्ट जीवन के लिए ज्योति प्रदान करते हैं[20]।

ब्रह्मणस्पति के सख्य की प्रशंसा

इन्धानो अग्निं वनवद् वनुष्यतः कृतब्रह्मा शूशुवद् रातहव्य इत् ।
जातेन जातमति स प्रसर्सृते यं यं युजं कृणुते ब्रह्मणस्पतिः ।।
वीरेभिर्वीरान् वनवद् वनुष्यतो गोभी रयिं पप्रथद् बोधति त्मना ।
तोकं च तस्य तनयं च वर्धते यं यं युजं कृणुते ब्रह्मणस्पतिः ।।
सिन्धुर्न क्षोदः शिमीवाँ ऋघायतो वृषेव वध्रीरँभि वष्ट्योजसा ।
अग्नेरिव प्रसितिर्नाह वर्तवे यं यं युजं कृणुते ब्रह्मणस्पतिः ।।
तस्मा अर्षन्ति दिव्या असश्चतः स सत्वभिः प्रथमो गोषु गच्छति ।
अनिभृष्टतविषिर्हन्त्योजसा यं यं युजं कृणुते ब्रह्मणस्पतिः ।।
तस्मा इद् विश्वे धुनयन्त सिन्धवोऽच्छिद्रा शर्म दधिरे पुरूणि ।
देवानां सुम्ने सुभगः स एधते यं यं युजं कृणुते ब्रह्मणस्पतिः ।। ऋग्. २. २५

"अग्नि को प्रदीप्त करता हुआ हिंसकों को विनष्ट कर देता है, मन्त्रपाठ करता हुआ तथा हवि प्रदान करता हुआ वृद्धि को प्राप्त करता है, जिस-जिस को ब्रह्मणस्पति प्रभु अपना सखा बना लेता है। अपने वीरों द्वारा शत्रुपक्षीय हिंसक वीरों का वध कर देता है, गौओं से ऐश्वर्य का विस्तार करता है, स्वयं उद्बुद्ध रहता है, उसके पुत्र-पौत्र भी उन्नति की राह पर चलते हैं, जिस-जिस को ब्रह्मणस्पति अपना सखा बना लेता है। तटादि को चूर्ण करने वाली नदी के समान कर्मशूर हो जाता है, उपद्रवी शत्रुओं को अपने ओज से परास्त कर देता है, जैसे वृषभ बधिया बैलों को, अग्नि की ज्वाला के समान उसका कोई निवारण नहीं कर सकता, जिस-जिस को ब्रह्मणस्पति अपना सखा बना लेता है। उसे बेरोकटोक दिव्य धाराएं प्राप्त होती हैं, वह प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ होकर भूमियों पर विचरता है। अपराजित बल वाला होकर अपने ओज से शत्रुओं को नष्ट कर देता है, जिस-जिस को ब्रह्मणस्पति अपना सखा बना लेता है।

---

१८. ऋग् १०.६३.१३

१९. ऋग् १०.१२६.१

२०. ऋग् १०.१८५.२,३

उसके लिए सब नदियां प्रवाहित होती हैं, जो उसे न्यूनतारहित अनेक सुख प्रदान करती हैं. सौभाग्यशाली वह देवप्रदत्त आनन्दों का भोग करता हुआ समृद्धि पाता है, जिस-जिस को ब्रह्मणस्पति अपना सखा बना लेता है ।"

सत्य की प्रशंसा

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्ऋतस्य धीतिर्वृजनानि हन्ति ।
ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द कर्णा बुधानः शुचमान आयोः ।।
ऋतस्य दृढा धरुणानि सन्ति पुरूणि चन्द्रा वपुषे वपूंषि ।
ऋतेन दीर्घमिषणन्त पृक्ष ऋतेन गाव ऋतमा विवेशुः ।।
ऋतं येमान ऋतमिद् वनोत्यृतस्य शुष्मस्तुरया उ गव्युः ।
ऋताय पृथ्वी बहुले गभीरे ऋताय धेनू परमे दुहाते ।।

ऋग् ४. २३. ८-१०

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः ।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधि श्रितः ।। ऋग् १०. ८५. १

"सत्य की शोकनिवारक शक्तियां बड़ी श्रेष्ठ हैं, सत्य का धारण पापों को नष्ट करता है । सत्य का श्लोक मनुष्य के बहरे कानों को भी खोल देता है, वह बोध प्रदान करने वाला तथा तेजस्वी बनाने वाला होता है । सत्य के स्तम्भ बहुत दृढ़ हैं, उसके विविध रूप देहधारी के लिए अति रमणीय हैं । सत्य द्वारा ही दीर्घ वृष्टि प्राप्त होती है, सत्य द्वारा ही सूर्यरश्मियां मेघ-जल में प्रवेश करती हैं । जिसे सत्य को प्राप्त करने की लगन है, वह अवश्य उसे प्राप्त कर लेता है । सत्य का बल बड़ा तीक्ष्ण तथा प्रकाश का अन्वेषक होता है । सत्य के अनुसार ही विस्तीर्ण एवं गम्भीर द्यावापृथिवी स्थित हैं, सत्य के अनुसार ही वे उच्च प्रीणयित्री द्यावापृथिवी रूप गौएं अपना-अपना दूध देती हैं । सत्य से ही भूमि टिकी है, सत्य से ही सूर्य सहित द्युलोक टिका है । सत्य से ही देवों की स्थिति है, सत्य से ही आकाश में चन्द्रमा अधिश्रित है ।''

पावमानी ऋचाओं के अध्ययन की प्रशंसा

"जो ऋषियों द्वारा संभृत रसरूप पावमानी (पवमान सोम देवता वाली) ऋचाओं का अध्ययन करता है, उसे मातरिश्वा द्वारा स्वादुकृत परिपूत भोज्य पदार्थों का भक्षण करना मिलता है । जो ऋषियों द्वारा संभृत रसरूप पावमानी ऋचाओं का अध्ययत करता है, उसे सरस्वती दुग्ध, घृत, मधु तथा रस प्रदान करती है । पावमानी ऋचाएं स्वस्ति प्रदान करने वाली हैं, प्रचुर दूध देने वाली हैं, घृत बहाने वाली हैं । वे ऋषियों द्वारा संभृत रसरूप हैं, वे ब्राह्मणों में निहित अमृत हैं । पावमानी ऋचाएं स्वस्ति प्रदान करने वाली हैं, उनसे

मनुष्य परमानन्द की अवस्था को प्राप्त करता है, पुण्य भोगों को भोगता है, अमृतत्व को प्राप्त करता है[२२]।

मणि-धारण की प्रशंसा

अथर्ववेद में हिरण्य, शंख, दर्भ, औदुम्बर आदि कुछ मणियों के सूक्त आते हैं। इन्हें शरीर पर बांधने तथा औषध रूप में इनका सेवन करने के विशेष लाभ मन्त्रों में वर्णित किये गये हैं। परन्तु अन्तर यह है कि हिरण्य, प्रतिसर तथा शतवार इन मणियों के धारण की तो प्रशंसा की गयी है कि इनसे यह फल मिलता है, तथा शेष मणियों से प्रार्थना रूप में कहा गया है कि तुम हमें अमुक-अमुक फल प्रदान करो। अतः प्रशंसात्मक अर्थवाद की श्रेणी में उक्त तीन मणियाँ ही आ सकती हैं, शेष मणियाँ प्रार्थनात्मक शैली के अन्तर्गत होंगी। हिरण्यमणि स्वर्णालंकार है। शरीर पर इनके धारण से विशेष प्रकार की विद्युत्-धाराएं प्रवाहित होती हैं, जिससे रोगनिवारण, दीर्घायुष्य आदि की प्राप्ति होती है। भस्म आदि के रूप में भी हिरण्य का सेवन अति हितकर होता है। प्रतिसर मणि विनियोगकार के अनुसार तिलक-वृक्षजन्य मणि है। शतवार शतावरी ओषधी है, जिसकी मूलें वीर्यवर्धक होती हैं। यद्यपि इन मणियों के उपयोग से लाभ होता है, तो भी अक्षरशः वैसा फल संभव नहीं है, जैसा वर्णित हुआ है। फल-कथन में अतिशयोक्ति है, अतः यहां अर्थवादात्मक प्रशंसा ही समझनी चाहिए।

हिरण्य—हिरण्य देवों का प्रथमोत्पन्न ओज है, न इसे राक्षस, न पिशाच पराजित कर सकते हैं। जो बल के पुत्र हिरण्य को धारण करता है, वह जीवों में दीर्घ आयु पाता है[२३]।

प्रतिसर—वह व्याघ्र हो जाता है, सिंह हो जाता है, वृषभ हो जाता है, तथा सपत्नों का कर्षण करने वाला बन जाता है, जो प्रतिसर मणि को धारण करता है। न इसे अप्सराएं हानि पहुँचाती हैं, न गन्धर्व, न मनुष्य; वह सब दिशाओं में शोभित होता है, जो प्रतिसर मणि को धारण करता है[२४]।

शतवार—शतवार मणि अपने तेज से रोगों को तथा राक्षसों को नष्ट कर देती है, अपने वर्चस् के साथ शरीर पर आरोहण करती हुई यह दुर्नामा रोगों को समूल विच्छिन्न कर देती है। सींगों से राक्षस को दूर करती है, मूल

२२. साम उ० १०. ७, १–३, ६

२३. अथर्व १. ३५. २

२४. अथर्व ८. ५. १२, १३

से यातुधानियों को, मध्य से रोग को बाधित करती है, इसे पाप पराजित नहीं कर सकता। जो छोटे-छोटे रोग हैं, तथा जो रुलाने वाले बड़े रोग हैं, उन सबको यह मणि नष्ट कर देती है। यह सौ वीरों को जन्म देती है, सौ रोगों का निवारण करती है, सब दुर्नामा रोगों को मार कर राक्षसों को कंपा देती है[२५]।

विविध ज्ञानों की प्रशंसा

"ब्राह्मण, राजा, धेनु, अनड्वान् ब्रीहि, यव तथा सातवां शहद ये कशा के सात मधु हैं। जो कशा के इन सात मधुओं को जान लेता है, वह मधुमान् हो जाता है। जो इसे जानना है, वह मधुमय हो जाता है, उसकी आहार्य वस्तुएं मधुमय होती हैं, तथा वह मधुमय लोकों को जीत लेता है[२६]।"

"जो गौ का रूप है वह विश्वरूप है, सर्वरूप है, जो ऐसा जानता है उसे विश्वरूप, सर्वरूप पशु प्राप्त हो जाते हैं[२७]।"

"जो अमृत से आवृत ब्रह्म की पुरी को जानता है उसे ब्रह्म तथा ब्रह्मजनित पदार्थ चक्षु, प्राण एवं प्रजा प्रदान करते हैं। जो ब्रह्म की पुरी को जानता है, जिसका अधिष्ठाता पुरुष है, उसे चक्षु तथा प्राण जरावस्था से पूर्व नहीं छोड़ते[२८]।"

"जो सलिल में स्थित हिरण्यय वेतस को जानता है वह गुह्य प्रजापति के तुल्य हो जाता है, उसका तमस् नष्ट हो जाता है, वह पाप से व्यावृत्त हो

---

२५. अथर्व १९. ३६. १-४

२६. अथर्व ९. १ २२, २३। मधुकशा=मधु की चाबुक। इसका परिचय इसी सूक्त में इस प्रकार किया है—पृथिवी इसकी डण्डी है, अन्तरिक्ष मध्य भाग है, द्यौ अग्रभाग है (मन्त्र २१)। एवं पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ यह त्रिलोकी मिल कर मधुकशा होती है। इससे उत्पन्न सात मधु उक्त ब्राह्मणादि हैं।

२७. एतद् वै विश्वरूपं सर्वरूपं गौरूपम्॥
उपैनं विश्वरूपाः सर्वरूपाः पशवस्तिष्ठन्ति य एवं वेद॥ अथर्व ९.७.२५,२६

२८. यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः॥
न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते॥ अथर्व १०. २. २९, ३०

जाता है, प्रजापति के अन्दर जो तीन ज्योतियां हैं वे सब उसे प्राप्त हो जाती हैं[२९]।"

"यह ओदन (भोग्य जगत्) सर्वांग है, सब परुओं से युक्त है, पूर्ण शरीर वाला है। जो ऐसा जानता है वह भी सर्वांग, सब परुओं से युक्त तथा पूर्ण शरीर वाला हो जाता है। यह जो ओदन है वह आदित्य का लोक है, आदित्य लोक वाला हो जाता है, आदित्य के लोक में श्रित हो जाता है, जो ऐसा जानता है[३०]।"

"हे प्राण, जो तेरी महिमा को जानता है तथा जिसमें तू प्रतिष्ठित हो जाता है, उसके प्रति उस उत्तम लोक में सब बलि लाते हैं। हे प्राण, जिस प्रकार तेरे लिए ये सब प्रजाएं बलि आहरण करती हैं उसी प्रकार हे सुकीर्ति-सम्पन्न, जो तेरी महिमा को श्रवण करता है उसके प्रति भी बलि लाती हैं[३१]।"

"जो इस एकवृत् सविता देव को जानता है, उसे ब्रह्म, तप, कीर्ति, यश, अम्भस्, नभस्, ब्राह्मणवर्चस्, अन्न तथा अन्नाद्य प्राप्त होता है। जो इस एकवृत् सविता देव को जानता है, उसे भूत, भव्य, श्रद्धा, रुचि, स्वर्ग और स्वधः प्राप्त होते हैं[३२]।"

---

२९. अप तस्य हतं तमो व्यावृत्तः स पाप्मना।
सर्वाणि तस्मिन् ज्योतींषि यानि त्रीणि प्रजापतौ॥
यो वेतसं हिरण्ययं तिष्ठन्तं सलिले वेद।
स वै गुह्यः प्रजापतिः॥ अथर्व १०. ७. ४०,४१
सलिल में स्थित हिरण्यय वेतस् = मेघजल में स्थित विद्युल्लता, अथवा प्रकृति के अन्दर बीजरूप में अवस्थित विराड् ब्रह्माण्ड।

३०. एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥
एतद् वै ब्रध्नस्य विष्टपं यदोदनः॥
ब्रध्नलोको भवति ब्रध्नस्य विष्टपि श्रयते य एवं वेद।।अथर्व ११.३. ४९-५१

३१ यस्ते प्राणेदं वेद यस्मिंश्चासि प्रतिष्ठितः।
सर्वे तस्मै बलिं हरानमुष्मिंल्लोक उत्तमे॥
यथा प्राण बलिहृतस्तुभ्यं सर्वाः प्रजा इमाः।
एवा तस्मै बलिं हरान् यस्त्वा शृणवत् सुश्रवः॥ अथर्व ११. ४. १८,१९.

३२. ब्रह्म च तपश्च कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च।
ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च य एतं देवमेकवृतं वेद॥
भूतं च भव्यं च श्रद्धा च रुचिश्च स्वर्गश्च स्वधा च॥
य एतं देवमेकवृतं वेद॥ अथर्व १३. ४. २२-२४

उक्त प्रशंसाओं पर एक दृष्टि

ऊपर वेदों से संकलित कर कुछ अर्थवादात्मक प्रशंसाएं दर्शायी गयी हैं। यज्ञ वैदिक संस्कृति का एक मुख्य अंग है। उद्धृत प्रसंग यह बताते हैं कि यज्ञ करने से मनुष्य को गुणवान् पुत्र, धन, अन्न, कीर्ति, गौ, अश्व, बल, दीर्घायुष्य, स्वर्ग आदि की प्राप्ति होती है। प्रदर्शित दान-स्तुतियों से ज्ञात होता है कि दानी को गो-दुग्ध की धारायें, अमृतत्व, रजत, हिरण्य, गौ, अश्व, सुरभित गृह, अलंकृत वधू, द्रुतगामी रथ आदि अक्षय चित्र-विचित्र ऐश्वर्यों एवं पुण्य लोकों की प्राप्ति होती है। सोम-सवन करने वाला मंगल, दीर्घायु एवं धन पाता है, तथा शत्रुओं से अवध्य हो जाता है। अतिथि-सत्कार की भूरि-भूरि प्रशंसा कर यज्ञ से उसकी तुलना की गयी है, और कहा है कि अतिथि जिसका अन्न खाते हैं उसके पाप नष्ट हो जाते हैं। गृहपति के घर अतिथि के एक-दो-तीन या अधिक रात्रि निवास करने का अपूर्व फल कथित हुआ है। आदित्यों की रक्षा का भी महाफल वर्णित किया गया है। आदित्य शब्द वेद में सूर्य के लिए भी आता है तथा अदिति के पुत्र मित्र, वरुण अर्यमा प्रभृति देवों के लिए भी। यहां द्वितीय अर्थ में प्रयुक्त है। ब्रह्मणस्पति के सख्य का अतीव मनोमोहक फल कथित हुआ है। इसी प्रकार सत्य, पवमान-देवता की ऋचाओं के अध्ययन एवं मणि-बन्धन की भी गौरवपूर्ण प्रशंसा की गई है। अन्त में मधुकशा, ब्रह्मपुरी, हिरण्यय वेतस आदि विविध वस्तुओं के ज्ञानमात्र का महान् फल बताया गया है।

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यज्ञादि के कर्ताओं को उपयुक्त फल मिलते दिखाई नहीं देते, तो क्या इन वेदवचनों को असत्य या उन्मत्तप्रलापवत् परित्याज्य ठहराया जाये।

ख. निन्दात्मक अर्थवाद

अब अर्थवादात्मक शैली के दूसरे पक्ष अर्थात् निन्दात्मक अर्थवाद पर आते हैं। वेदों में अदान, अयज्ञ, द्यूत आदि की तीव्र निन्दा उपलब्ध होती है, जिससे सर्वसाधारण इन कार्यों में प्रवृत्त न हों। इन प्रसंगों को संगृहीत कर यहां दिया जा रहा है।

अदान-निन्दा

य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन् रफितायोपजग्मुषे।
स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित स मर्डितारं न विन्दते॥

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य ।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी।। ऋग् १०.११७.२,६

"जो अन्नवान् होता हुआ भी दुर्बल, अन्न की कामना वाले, दारिद्र्योपहत अत एव अपनी शरण में आये हुए मनुष्य के संमुख मन को कठोर करके दान नहीं करता, प्रत्युत उसके सामने ही भोग करता रहता है, वह कभी सुख देने वाले को प्राप्त नहीं करता। अप्रचेता मनुष्य व्यर्थ ही अन्न प्राप्त करता है, सच कहता हूं वह उसका वध ही होता है। जो अपने धन से न अर्यमा आदि देवों को पुष्ट करता है, न अपने सखा को, ऐसा अकेला खाने वाला केवल पाप का ही भागी होता है।"

अज्ञान-निन्दा

उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ।।

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषुः ।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ।।

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति ।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम् ।।

इमे ये नार्वाङ् न परश्चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः ।
त एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः ।।

"एक व्यक्ति वेदवाणी को देता हुआ भी नहीं देखता, दूसरा सुनता हुआ भी नहीं सुनता। जो फल-पुष्प[33] - रहित वाणी को सुनने वाला है, वह दूध न देने वाली, घास-फूस की बनी हुई मायारूपिणी गौ के साथ विचरता है। जिसने साथ निवाहने वाले वेदार्थ रूपी सखा को त्याग दिया है, उसकी अधीत वाणी में कोई सार नहीं होता। जो कुछ वेदमन्त्रादि वह सुनता है व्यर्थ ही सुनता है, क्योंकि उससे वह सुकृत के मार्ग को नहीं जान सकता। ये जो वेदार्थ से अनभिज्ञ लोग न इहलोक की चिन्ता करते हैं, न परलोक की चिन्ता करते हैं, न ब्रह्मज्ञानी बनते हैं, न यज्ञ-तत्पर होते हैं, वे वेद को पढ़ कर भी नौसिखिये जुलाहे के समान उल्टे-सीधे अपने जीवन रूप वस्त्र को फैलाते रहते हैं।"

---

३३. अर्थं वाचः पुष्पफलमाह, याज्ञदैवते पुष्पफले, देवताध्यात्मे वा। निरु.१.१८

द्यूत-निन्दा

"जुआरी की सास उससे द्वेष करने लगती है, पत्नी उसे अपने से दूर रखती है। प्रार्थना करने पर भी वह किसी सुख देने वाले को प्राप्त नहीं करता। जिसके धन पर बलवान् जुआ ललचा जाता है, उसकी पत्नी का अन्य लोग स्पर्श करते हैं। पिता-माता, भाई-बन्धु इसके विषय में कहते हैं कि हम इसे नहीं जानते, चाहे इसे हथकड़ी डाल कर ले जाओ। जुए के पासे अंकुश चुभाने वाले हैं, व्यथा पहुँचाने वाले हैं, काटने वाले हैं, स्वभाव से संताप-दायक हैं, बुरी मार देने वाले हैं, जीतने वाले को भी पुनः हराने वाले हैं, ऊपर से मधु-सम्पृक्त (आकर्षक) होते हुए भी वस्तुतः जुआरी का सर्व-नाश कर देने वाले हैं। जुआरी की पत्नी हीन दशा को प्राप्त हुई दुःख पाती है, इधर-उधर भटकने वाले जुआरी पुत्र की माता भी दुःख पाती है। वह ऋणी होकर डरता-डरता चोरी के लिए अन्यों के घर पहुंचता है[३४]।"

ब्राह्मण के तिरस्कार की निन्दा

"जिस राष्ट्र में नासमझी से ब्राह्मण की जाया को पकड़कर रोक लिया जाता है, उस राष्ट्र की शत-शत सुखों को देने वाली कल्याणी पत्नियों को शय्या पर सुख की नींद नहीं आती। जिस राष्ट्र में नासमझी से ब्राह्मण की जाया को पकड़ कर रोक लिया जाता है, उस राष्ट्र के गृहों में बहुश्रुत, पृथु मस्तिष्क वाले पुत्र उत्पन्न नहीं होते। जिस राष्ट्र में नासमझी से ब्राह्मण की जाया को पकड़ कर रोक लिया जाता है, उस राष्ट्र के दानी गले में स्वर्णहार पहन अन्नादि से भरी टोकरियों के आगे-आगे नहीं चलते[३५]। जिस राष्ट्र में

---

३४. ऋग् १०. ३४. ३, ४, ७, १०

३५. "तस्य क्षत्ता निष्कग्रीवः सूनानामेत्यग्रतः", इसके अर्थ के विषय में पर्याप्त मतभेद है। हमने अर्थ ह्विटने के अनुसार किया है – "A distributer with necklaced neck goes not at the head of his crates of food."—Whitney. क्षत्ता का दानी अर्थ ऋग् ६. १३. २ में सायण ने भी किया है – "क्षत्ता असि। क्षदतिरत्र दानकर्मा। दाता भवसि"–सायण। क्षत्ता का अर्थ वर्षाजल का दानी मेघ तथा सूना का अर्थ उत्पादक भूमि (धातु उत्पत्त्यर्थक षु या षू) लें तो अभिप्राय यह होगा कि जिस राष्ट्र में ब्राह्मण का अनादर होता है वहां दानी मेघ भूमियों के संमुख नहीं आते अर्थात् वहां वर्षा नहीं होती। ह्विटने ने अपने भाष्य की टिप्पणी में मूर तथा लुड्विग के अर्थों का भी संकेत किया है :— "The meaning is not undisputed.

नासमझी से ब्राह्मण की जाया को पकड़ कर रोक लिया जाता है, वहां कृष्ण कान वाला श्वेत घोड़ा धुरे में नियुक्त हो महिमा नहीं पाता। जिस राष्ट्र में नासमझी से ब्राह्मण की जाया को पकड़ कर रोक लिया जाता है, उस राष्ट्र के क्षेत्र में न कमलपत्रों से अलंकृत सरसियां होती हैं, न कमलगट्टे तथा कमल-नाल उत्पन्न होते हैं। जिस राष्ट्र में नासमझी से ब्राह्मण की जाया को पकड़ कर रोक लिया जाता है, उसमें दुहने में दक्ष ग्वाले गौओं को दुहने से मना कर देते हैं"।"

"जो ब्राह्मण को अन्न ही समझ बैठता है, वह मानों हालाहल विष का पान करता है। उसका यह कार्य क्षात्रशक्ति को थोथा कर देना है, वर्चस् को नष्ट कर देता है, सुलगी हुई अग्नि के समान सर्वस्व दग्ध कर देता है। जो देवघाती राजा धन-लोलुप होकर नासमझी से ब्राह्मण को मृदु मानकर सताता है, उसके हृदय में इन्द्र अग्नि जला देता है, विचरण करते हुए इसके साथ भूमि-आकाश दोनों वैर ठान लेते हैं। ब्राह्मणघाती राजा मनुष्यों के बीच में विष पिये हुए के समान घूमता है, वह सूखकर अस्थिपंजर मात्र रह जाता है,

---

Muir renders "charioteer" and "hosts" (emending to Sena) Ludwig, "Kshattar" and "slaughter-bench". ग्रिफिथ निम्न अर्थ करते हैं:—"No steward, golden-necklaced goes before the meat-trays of the man परन्तु प्रकरण को देखते हुए पशुवध या मांसभक्षण परक अर्थ सर्वथा असंगत प्रतीत होता है। श्री सातवलेकर क्षत्ता का अर्थ वीर तथा सूना का अर्थ लड़की करते हैं:—"जिस राष्ट्र में अज्ञान से ब्राह्मण की स्त्री प्रतिबन्ध में पड़ती हैं, उस राष्ट्र का वीर सुवर्णालंकार गले में धारण करके लड़कियों के संमुख नहीं जाता है"।

३६. नास्य जाया शतदाही कल्याणी तल्पमा शये।
यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या॥
न विकर्णः पृथुशिरास्तस्मिन् वेश्मनि जायते। यस्मिन्०॥
नास्य क्षत्ता निष्कग्रीवः सूनानामेत्यग्रतः। यस्मिन्०॥
नास्य श्वेतः कृष्णकर्णो धुरि युक्तो महीयते। यस्मिन्०॥
नास्य क्षेत्रे पुष्करिणी नाण्डीकं जायते बिसम्। यस्मिन्०॥
नास्मै पृश्निं वि दुहन्ति येऽस्या दोहमुपासते। यस्मिन्०॥

अथर्व ५. १७. १२-१७

जो देवबन्धु ब्राह्मण को कष्ट देता है, वह पितृयाण लोक को भी प्राप्त नहीं करता[३७]।"

जो ब्राह्मण का तिरस्कार करते हैं अथवा जो इस पर किसी प्रकार का शुल्क लगाते हैं, वे रक्त की धारा के मध्य केशों को खाते हुए पड़े रहते हैं। सतायी जाती हुई ब्राह्मण की गौ ज्यों-ज्यों छटपटाती है त्यों-त्यों वह राष्ट्र के तेज को नष्ट करती चलती है, उस राष्ट्र में बलवान् पुत्र उत्पन्न नहीं होते। ब्राह्मण की गौ का वध करना बड़ा क्रूर कार्य है, इसका मांस खाना बड़ा कटु कार्य है, क्षत्रिय द्वारा इसका दूध पिया जाना पितृजनों के प्रति महान् अपराध है। वह राजा बड़ा क्रूर होता है, जो अभिमान में आकर ब्राह्मण को हड़प जाना चाहता है। जहां ब्राह्मण का पराजय होता है वह राष्ट्र खोखला हो जाता है। सतायी जाती हुई ब्राह्मण की गौ आठ पैरों वाली, चार आँखों वाली, चार कानों वाली, चार जबड़ों वाली, दो मुखों वाली, दो जिह्वाओं वाली होकर ब्राह्मणघाती राजा के राष्ट्र को प्रकम्पित कर देती है। ब्रह्म-हत्या का कार्य राष्ट्र को चलनी-चलनी कर देता है, जैसे टूटी नौका को पानी। जहां ब्राह्मण की हिंसा होती है, वह राष्ट्र दुर्गति का शिकार हो जाता है। जो ब्राह्मण के सात्त्विक धन को हथियाना चाहता है उसे वृक्ष मना कर देते हैं कि तू हमारी छाया में मत आ। ब्रह्मघाती राजा के राज्य में मित्र-वरुण से होने वाली वर्षा नहीं बरसती, न उसकी राष्ट्रसभा सामर्थ्यवान् होती है, न वह मित्रराष्ट्रों को वश में रख पाता है[३८]।"

"जो क्षत्रिय ब्राह्मण की गौ को छीनता है एवं ब्राह्मण को कष्ट देता है, उसके पास से सूनृता, वीर्य, पुण्य लक्ष्मी सब भाग जाते हैं। जो क्षत्रिय ब्राह्मण की गौ को छीनता है, एवं ब्राह्मण को कष्ट देता है, उसके पास से ओज, तेज, साहस, बल, वाणी, इन्द्रिय-शक्ति, श्री, धर्म, ब्रह्म, क्षात्र, राष्ट्र, विट्, दीप्ति,

---

३७. निर्वै क्षत्रं नयति हन्ति वर्चोऽग्निरिवारब्धो वि दुनोति सर्वम्।
यो ब्राह्मणं मन्यते अन्नमेव स विषस्य पिबति तैमातस्य॥
य एनं हन्ति मृदुं मन्यमानो देवपीयुर्धनकामो न चित्तात्।
सं तस्येन्द्रो हृदयेऽग्निमिन्ध उभे एनं द्विष्टो नभसी चरन्तम्॥
देवपीयुश्चरति मर्त्येषु गरगीर्णो भवत्यस्थिभूयान्।
यो ब्राह्मणं देवबन्धुं हिनस्ति न स पितृयाणमप्येति लोकम्॥
अथर्व ५. १८. ४, ५, १३

३८. अथर्व ५. १९. ३-९, १५

यश, वर्चस्, द्रविण, आयु, रूप, नाम, कीर्त्ति, प्राणापान, चक्षु, श्रोत्र, दूध, रस, अन्न, भोग-सामर्थ्य, ऋत, सत्य, इष्ट, पूर्त, प्रजा, पशु ये सब भाग जाते हैं[३९]।"

गौ के पीडन की निन्दा

"जो गौ के कान ऐंठता है वह देवों के प्रति अपराध करता है। यदि कानों को तप्त शलाका से दाग कर चिन्हित करने का विचार करता है, तो अपने धन को न्यून कर लेता है। यदि किसी भोग के लिए इसके बाल काटता है, तो उसके किशोरों की मृत्यु होने लगती है, तथा बच्चों को भेड़िया खा जाता है। यदि गोस्वामी के अधीन रहती हुई इसके लोम को कौआ नोचता है, तो कुमार मरने लगते हैं, तथा सहज ही यक्ष्मा घर कर लेता है। यदि इसकी दासी गौ के चारे एवं गोबर को मिला देती है, तो उस अपराध से मुक्त न होकर वह विरूप हो जाता है। जो इसे वन्ध्या मानकर घर में पकाता है, उसके पुत्र तथा पौत्रों तक से बृहस्पति भीख मंगवाता है[४०]।"

---

३९. तामाददानस्य ब्रह्मगवीं जिनतो ब्राह्मण क्षत्रियस्य ।
अप क्रामति सूनृता वीर्यं पुण्या लक्ष्मीः ॥
ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक् चेन्द्रिय च श्रीश्च धर्मश्च ।
ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च
त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च ॥
आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्र च ॥
पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं चर्तं च सत्यं चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च पशवश्च
तानि सर्वाण्यप क्रामन्ति ब्रह्मगवीमाददानस्य जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य ॥
अथर्व १२. ५. ५-११

४०. यो अस्याः कर्णावास्कुनोत्या स देवेषु वृश्चते ।
लक्ष्म कुर्व इति मन्यते कनीयः कृणुते स्वम् ॥
यदस्याः कस्मै चिद् भोगाय बालान् कश्चित् प्रकृन्तति ।
ततः किशोरा म्रियन्ते वत्सांश्च घातुको वृकः ॥
यदस्याः गोपतौ सत्या लोम ध्वाङ्क्षो अजीहिडत् ।
ततः कुमारा म्रियन्ते यक्ष्मो विन्दत्यनामनात् ॥
यदस्याः पल्पूलनं शकृद् दासी समस्यति ।
ततोऽपरूपं जायते तस्मादव्येष्यदेनसः ॥
यो वेहतं मन्यमानोऽमा च पचते वशाम् ।
अप्यस्य पुत्रान् पौत्रांश्च याचयते बृहस्पतिः ॥ अथर्व १२.४.६-६,३८

अतिथि के प्रति उपेक्षा-भाव की निन्दा

"जो अतिथि से पूर्व खाता है, वह गृहों के इष्ट तथा पूर्त को खाता है। जो अतिथि से पूर्व खाता है, वह गृहों के दूध तथा रस को खाता है। जो अतिथि से पूर्व खाता है, वह गृहों की अन्न तथा वृद्धि को खाता है। जो अतिथि से पूर्व खाता है, वह गृहों के प्रजा तथा पशुओं को खाता है। जो अतिथि से पूर्व खाता है, वह गृहों की कीर्ति तथा यश को खाता है। जो अतिथि से पूर्व खाता है, वह गृहों की श्री तथा संवित् को खाता है[41]।"

"हवन का समय हो और विद्वान् व्रात्य अतिथि घर में आ जाए तो उससे स्वीकृति लिये बिना जो हवन करने बैठ जाता है, वह न पितृयाण मार्ग को जानता है, न देवयान मार्ग को, वह देवों के प्रति अपराध करता है, उसका हवन नहीं होता, इस लोक में उसका आयतन अवशिष्ट नहीं रहता[42]।

व्रात्य के अपमान की निन्दा

"विद्वान् व्रात्य की जो निन्दा करता है वह बृहत्, रथन्तर, आदित्य तथा विश्वे देवाः के प्रति अपराध करता है। विद्वान् व्रात्य की जो निन्दा करता है, वह यज्ञायज्ञिय, वामदेव्य, यज्ञ, यजमान तथा पशुओं के प्रति अपराध करता है। विद्वान् व्रात्य की जो निन्दा करता है, वह वैरूप साम, आपः तथा वरुण राजा के प्रति अपराध करता है। विद्वान् व्रात्व की जो निन्दा करता है, वह श्यैत, नौधस, सप्तर्षिगण तथा सोम राजा के प्रति अपराध करता है[43]।

---

४१. इष्टं च वा एष पूतं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ।।
पयश्च वा एष रसं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ।।
ऊर्जां च वा एष स्फातिं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ।।
प्रजां च वा एष पशूंश्च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ।।
कीर्तिं च वा एष यशश्च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ।।
श्रियं च वा एष संविदं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ।।
अथर्व ९. ६.३१-३६

४२. अथर्व १५. १२. ८-११

४३. अथर्व १५.२. ३, ११, १९, २७। व्रात्य शब्द संहितोत्तरकालीन साहित्य में प्रायः निन्दित अर्थों में आया है, जिसके जातकर्मादि संस्कार नहीं होते, ऐसा असंस्कृत निन्दित मनुष्य। परन्तु वेद में यह अच्छे अर्थों में प्रयुक्त है, व्रतपति, व्रतनिष्ठ या जनसमाज (व्रात) का हितकारी।

ओदन के दुरुपभोग की निन्दा

"यदि तू उससे भिन्न सिर से ओदन (भोग्य जगत्) का भोग करेगा जिससे पूर्व ऋषि करते रहे हैं, तो तेरी ज्येष्ठ सन्तान मर जायेगी। यदि तू उससे भिन्न श्रोत्रों से भोग करेगा, जिनसे पूर्व ऋषि करते रहे हैं, तो बहरा हो जायेगा। यदि तू उससे भिन्न मुख से भोग करेगा, जिससे पूर्व ऋषि करते रहे हैं, तो तेरी मुख्य प्रजा मर जायेगी। यदि तू उससे भिन्न जिह्वा से भोग करेगा, जिससे पूर्व ऋषि करते रहे हैं, तो तेरी जिह्वा बेकार हो जायेगी। यदि तू उनसे भिन्न दांतों से भोग करेगा, जिनसे पूर्व ऋषि करते रहे हैं, तो तेरे दांत टूट जायेंगे। यदि तू उनसे भिन्न प्राणापानों से भोग करेगा, जिनसे पूर्व ऋषि करते रहे हैं, तो प्राणापान तुझे छोड़ जायेंगे। यदि तू उससे भिन्न व्यान से भोग करेगा, जिससे पूर्व ऋषि करते रहे हैं तो राजक्ष्मा तुझे मार डालेगा। यदि तू उससे भिन्न पृष्ठ से भोग करेगा, जिससे पूर्व ऋषि करते रहे हैं, तो विद्युत् तुझे मार डालेगी। यदि तू उससे भिन्न उरस् से भोग करेगा, जिससे पूर्व ऋषि करते रहे हैं, तो कृषि से समृद्ध नहीं होगा। यदि तू उससे भिन्न उदर से भोग करेगा जिससे, पूर्व ऋषि करते रहे हैं, तो उदर-कष्ट तुझे मार डालेगा। यदि तू उससे भिन्न वस्ति से भोग, करेगा जिससे पूर्व ऋषि करते रहे हैं, तो पानी में तेरी मृत्यु होगी। यदि तू उनसे भिन्न ऊरुओं से भोग करेगा, जिनसे पूर्व ऋषि करते रहे हैं, तो तेरे ऊरु बेकार हो जायेंगे। यदि तू उनसे भिन्न घुटनों से भोग करेगा, जिनसे पूर्व ऋषि करते रहे हैं, तो तू लंगड़ा हो जायेगा। यदि तू उनसे भिन्न पैरों से भोग करेगा, जिनसे पूर्व ऋषि करते रहे हैं, तो सूर्य तुझे मार डालेगा। यदि तू उनसे भिन्न हाथों से भोग करेगा, जिनसे पूर्व ऋषि करते रहे हैं, तो तू ब्राह्मण को मार डालेगा। यदि तू उनसे भिन्न तलवों से भोग करेगा, जिनसे पूर्व ऋषि करते रहे हैं, तो तू निराधार तथा आयतन-रहित होकर मरेगा।[४४]"

इतर निन्दाएं

"जो धर्म-कर्म से रहित हो, शरीर की सजधज में संलग्न रहता है तथा जो कुत्सित लोगों से मैत्री करता है, उसे मघवा इन्द्र विनष्ट कर देता है, निश्चय ही विनष्ट कर देता है[४५]।"

---

४४. अथर्व ११. ३. ३२–४९

४५. ऋग् ५.३४.३

"हे इन्द्र और अग्नि, जो यज्ञ में मन्त्रों का स्पष्ट उच्चारण न कर मुख के अन्दर ही अन्दर बोलने वाला है, उसकी आहुति का तुम भक्षण नहीं करते[४६]।"

"सोम न पापी को बढ़ाता है, न दोहरी चाल चलने वाले क्षत्रिय को। वह राक्षस को मार देता है, असत्य बोलने वाले को मार देता है, वे दोनों इन्द्र के पाश में जकड़े जाते हैं[४७]।

"देवों के नियम का उल्लंघन कर मनुष्य सौ वर्ष जीवित नहीं रहता, तथा अपने साथी से वियुक्त हो जाता है[४८]।"

"जो केवल असंभूति की उपासना करते हैं, वे गाढ़ अन्धकार में प्रवेश करते हैं। उससे भी अधिक गाढ़ अन्धकार में वे प्रवेश करते हैं, जो केवल संभूति में रत रहते हैं। जो केवल अविद्या की उपासना करते हैं, वे गाढ़ अन्धकार में प्रवेश करते हैं। उससे भी अधिक गाढ़ अन्धकार में वे प्रवेश करतेहैं, जो केवल विद्या में रत रहते हैं[४९]।"

उक्त निन्दाओं पर एक दृष्टि

ऊपर वेदों के निन्दात्मक शैली के कुछ प्रसंग प्रदर्शित किये गये हैं। प्रथम अदान-निन्दा के कुछ मन्त्र हैं। जो व्यक्ति समाज में रहता हुआ एकाकी धन का उपभोग करता है, वह वेद की दृष्टि में पाप का ही भोग कर रहा होता है।[५०] कृपण का धन धन नहीं, अपितु उसके लिए वधरूप होता है, ऐसा कहा है। पर हम तो देखते हैं कि बहुधा अदानी व्यक्तियों का जीवन भी बड़ा सुख-

---

४६. ऋग् ६.५९.४

४७. ऋग् ७.१०४.१३

४८. ऋग् १०.३३.९

४९. यजु ४०.११-१४। असंभूति=विनाश, अनित्यता। संभूति=नित्यता। न उनका कल्याण होता है जो सब वस्तुओं को अनित्य समझ जीवन यापन करते हैं, न उनका जो सबको नित्य समझते हैं। कल्याण उनका होता है जो दोनों की एक साथ उपासना करते हैं, अर्थात् देह, जगत् आदि अनित्यों को अनित्य एवं आत्मा, परमात्मा को नित्य समझ धर्म-पूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं। अविद्या=विद्या से भिन्न कर्म। विद्या=ज्ञान। केवल कर्म या केवल ज्ञान की उपासना से नहीं, अपितु दोनों की समन्वयपूर्वक यथायोग्य उपासना से ही सत्फल प्राप्त होता है।

५०. केवलाघो भवति केवलादी। ऋग् १०. ११७. ६
तुलनीय भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्। गीता ३.१३

मय होता है। एवं वेद-वचन असत्य प्रतीत होकर अपनी अर्थवादात्मकता को प्रकट करते हैं। आगे अर्थरहित वाणी को सुनने-पढ़ने की निन्दा है। यद्यपि सर्वथा अध्ययन न करना तथा अर्थरहित अध्ययन करना इन दोनों की तुलना में अर्थसहित अध्ययन अधिक प्रशस्य है, अतः- वह निन्दनीय नहीं ठहरता, तो भी अर्थ सहित वाणी के अध्ययन में प्रवृत्त करने के निमित्त से अर्थरहित अध्ययन की निन्दा की गयी है।

आगे द्यूत की निन्दा इस रूप में की गई है, मानो द्यूत से मनुष्य सदा दुर्दशा को ही प्राप्त करता हो। यद्यपि इसके विपरीत हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि अनेक वार द्यूतक्रीडा करने वाले वड़े आनन्द का जीवन व्यतीत करते हैं। तो भी सामान्यतः समाज के लिए यह दुर्व्यसन अवांछनीय होने से लोगों को इसमें प्रवृत्ति को रोकने के लिए ऐसी निन्दा की है।

इसी प्रकार गौ के पीडन की निन्दा करते हुए जो गौ के वाल काटने पर किशोरों की मृत्यु होने लगती है आदि कहा गया है, वह भी अर्थवाद ही है। अतिथि से पूर्व भोजन करने से घर का इष्ट, पूर्त, रस, अन्न, वृद्धि, प्रजा, पशु, कीर्ति, श्री, संवित् सव कुछ नष्ट हो जाता है, यह भी अर्थवाद ही है, जिससे लोग अतिथि से पूर्व भोजन न करें। यही वात अन्य निन्दाओं के विषय में घटित होती है। एवं अर्थवादात्मक शैली पर ध्यान देने से वेद के ये वर्णन जो असंगत से प्रतीत होते हैं, सर्वथा संगतिपूर्ण लगने लगते हैं। काव्य में जैसे रूपक, अतिशयोक्ति, अपह्नुति आदि में अरम्यता नहीं, प्रत्युत अलंकार की प्रतीति होती है, वैसे ही ये अर्थवाद भी दोषावह नहीं, प्रत्युत अलंकार हैं। एवं इस शैली का विचार विशेष उपयोगी है। अर्थवादात्मक शैली के उदाहरण कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय एवं मैत्रायणी संहिताओं में प्रचुर मात्रा में मिलते हैं, यद्यपि अपने निवन्ध का क्षेत्र सीमित रखने के कारण हमने उन्हें यहां उद्धृत नहीं किया है।

२. अभिशापात्मक शैली

अर्थवादात्मक शैली पर विचार करने के उपरान्त अभिशापात्मक शैली को लेते हैं। पर उससे पूर्व दो शब्द शपथात्मक शैली के विषय में कह देना उचित होगा। अपने विषय में वलपूर्वक यह स्थापना करना कि मैं अमुक दोष का दोषी नहीं हूँ, यदि होऊं तो मेरा अमुक अनिष्ट हो, इस शैली के वर्णन शपथात्मक कहलाते हैं। वेदों में इस शैली का क्वचित् ही प्रयोग हुआ है[५१]। यहां एक प्रसंग दर्शाया जाता है जो यास्क ने भी उद्धृत किया है।

५१. वेदों में इस शैली के विशेष उदाहरण उपलब्ध न होने के कारण हमने इसे पृथक् स्थान नहीं दिया है। द्रष्टव्य : वैदिक इण्डैक्स में शपथ शब्द।

अद्या मुरीय यदि यातुधा नो अस्मि यदि वायुस्ततप पूरुषस्य ।
ऋग् ७. १०४. १५

स्तोता जातवेदा अग्नि से शपथपूर्वक कहता है कि यदि मैं यातुधान हूँ, अथवा यदि मैंने किसी निर्दोष पुरुष की आयु को सन्तप्त किया है, तो मैं आज ही मर जाऊं। यह ऋचा का पूर्वार्ध है। इसके साथ उत्तरार्ध में अभिशाप संलग्न है—

अधा स वीरैर्दशभिर्वियूया यो मा मोघं यातुधानेत्याह ॥

और, यातुधान न होते हुए भी जो मुझे व्यर्थ ही यातुधान कहता है, वह अपने दसों वीरों से वियुक्त हो जाये। एवं यह ऋचा शपथ तथा अभिशाप दोनों की मिश्रित शैली का उदाहरण होती है।

अब विशुद्ध अभिशाप के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं—

यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने यो अश्वानां यो गवां यस्तनूनाम् ।
रिपुः स्तेनः स्तेयकृद् दभ्रमेतु निष हीयतां तन्वा तना च ॥

परः सो अस्तु तन्वा तना च तिस्रः पृथिवीरधो अस्तु विश्वाः ।
प्रति शुष्यतु यशो अस्य देवा यो नो दिवा दिप्सति यश्च नक्तम् ॥

यो मायातुं यातुधानेत्याह यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह ।
इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेन विश्वस्य जन्तोरधमस्पदीष्ट ॥

ऋग् ७. १०४. १०,११, १६; अथर्व ८. ४. १०,११,१६

"जो हमारे अन्न का रस हरना चाहता है, जो हमारे अश्वों, गौओं तथा शरीरों का रस हरना चाहता है, वह चोर, लुटेरा शत्रु मर जाये, वह शरीर से तथा दल-बल से हीन हो जाये। जो दिन में या रात्रि में हमारी हिंसा करना चाहता है वह शरीर तथा दल-बल के साथ हमसे परे हो जाये, तीनों पृथिवियों से नीचे रसातल में चला जाये, उसका यश सूख जाये। जो राक्षस मुझे यातुधान न होते हुए भी यातुधान कहता है तथा अपने आपको मैं शुचि हूँ, ऐसा कहता है, इन्द्र उसका अपने महान् वज्र से वध कर दे। वह सब जन्तुओं, से अधम होकर नीचे गिर जाये।

अबुध्यमानाः पणयः ससन्तु ऋग् १. १२४. १०
नेहं भद्रं रक्षस्विने नावयै नोपया उत ॥ ऋग् ८. ४७.१२
शत्रूयन्तो अभि ये नस्ततस्रे महि व्राधन्त ओगणास इन्द्र ।
अन्धेनामित्रास्तमसा सचन्तां सुज्योतिषो अक्तवस्ताँ अभि ष्युः
ऋग् १०. ८९. १५

"कृपण लोग सदा की नींद सो जायें; राक्षस का, हिंसक का, बुरे इरादे के साथ समीप आने वाले का संसार में भला न हो; शत्रुता करने वाले, बाधा पहुँचाने वाले जो दलबद्ध रिपु हमारी हिंसा करते हैं वे घोर अन्धकार में जा पड़ें, दिन-रात्रियां उन्हें अभिभूत करें।"

विलपन्तु यातुधाना अत्त्रिणो ये किमीदिनः ।। अथर्व १. ७. ३
वेणोरद्गा इवाभितोऽसमृद्धा अघायवः ।। अथर्व १. २७. ३
या शशाप शपनेन याघं मूरमादधे ।
मा रसस्य हरणाय जातमारेभे तोकमत्तु सा ।।
पुत्रमत्तु यातुधानीः स्वसारमुत नप्त्यम् ।
अधा मिथो विकेश्यो विघ्नता यातुधान्यो वितृह्यन्तापराय्यः ।।
अथर्व १. २८. ३. ४

पापमार्छत्वपकामस्य कर्ता । ब्रह्मद्विषं द्यौरभिसंतपाति अथर्व । २.१२.५,६
तान्त्सत्यौजाः प्र दहत्वग्निर्वैश्वानरो वृषा ।
यो नो दुरीयाद् दिप्साच्चाथो यो नो अरातियात् । अथर्व ४.३६. १
यो नस्तायद् दिप्सति यो न आविः स्वो विद्वानरणो वा नो अग्ने ।
प्रतीच्येत्वरणी दत्वती तान् मैषामग्ने वास्तु भून्मो अपत्यम् ।।
अथर्व ७. १०८. १

यस्त्वा जघान वध्यः सो अस्तु मा सो अन्यद् विदत भागधेयम् ।।
अथर्व १८. २. ३१

"जो भक्षक किमीदी यातुधान हैं, उन्हें रोना-धोना नसीब हो। पापेच्छु शत्रु बांस की शाखाओं के समान कभी समृद्ध न हों। जो राक्षसी हमें शाप देती है, जो हिंसा को उद्देश्य बनाती है, जो खून चूसने के लिए हमारी सन्तान को पकड़ती है, वह अपने बच्चों को खाये। यातुधानी अपने पुत्र को खाये, बहिन को खाये, नातिन को खाये। बाल बिखराये हुए वे एक दूसरे को मारती-काटती हुई मर मिटें। बुरी कामनाएं करने वाला दुर्गति को पाये। ब्रह्मद्वेषी को द्यौ सन्तप्त कर डाले। जो हमारे प्रति दुष्टता करें, हमारा वध करना चाहें और हमसे शत्रुता करें उन्हें सत्योजा अग्नि भस्म कर दे। जो कोई अपना या पराया व्यक्ति छिप कर अथवा प्रकट रूप में मारना चाहता है, उसे सांप काट ले, उसका घर-द्वार नष्ट हो जाये, उसकी सन्तानें न हों। जिसने तुझे मारा है उसका वध हो जाये, उसका भाग्य खोटा हो जाये।

इस अभिशाप में भी मनुष्य पापी या अपराधी के प्रति अपनी प्रबल विरोध-भावना ही व्यक्त करता है। आवश्यक रूप से यह अभिप्राय नहीं होता

कि अक्षरशः ऐसा ही घटित हो जाये। एवं इसमें अर्थवाद का पुट भी सम्मिलित समझा जा सकता है।

३. भर्त्सनात्मक शैली

अभिशाप से मिलती-जुलती ही भर्त्सनात्मक शैली है। इस शैली में मनुष्य नितान्त आत्मविश्वास के साथ अवांछनीय तत्त्वों की भर्त्सना करता है। जिसकी भर्त्सना की जाती है वह मानव शत्रु, राक्षस, पिशाच, सिंह, व्याघ्र, आदि शरीरधारी भी हो सकता है तथा पाप, रोग, दुर्विचार, दुःस्वप्न आदि अशरीर भी। उससे भर्त्सना करने वाले की उस शत्रु आदि को न सह सकने की उत्कट भावना द्योतित होती है। नीचे कुछ दृष्टान्त प्रस्तुत हैं।

परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात्।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजां रीरिषो मोत वीरान्॥
ऋग् १०. १८. १

"ओ मृत्यु, उस दूर के मार्ग पर चली जा, जो तेरा देवयान से भिन्न मार्ग है। तुझ आंखों वाली और कानों वाली मे मैं कहे देता हूँ, हमारी प्रजा को मत मार, न ही हमारे वीरों को मार"।

अरायि काणे विकटे गिरिं गच्छ सदान्वे।
शिरिम्बिठस्य सत्त्वभिस्तेभिष्ट्वा चातयामसि॥ ऋग् १०. १५५. १

"ओ काणी, विकटा, रुलाने वाली अलक्ष्मी, पर्वत से जाकर टकरा। मेघ के जलों से हम तुझे विनष्ट कर देंगे।"

अपेहि मनसस्पतेऽप क्राम परश्चर।
परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व बहुधा जीवतो मनः॥ ऋग् १०. १६४. १

"दूर हो जा, ओ मन पर आधिपत्य करने वाले दुःस्वप्न, कदम बढ़ा जा, परे भटकता फिर। अपनी माता निर्ऋति से जाकर कह दे कि मुझ जीवित का मन तो अनेकों कार्यों में संलग्न है।"

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा॥ अथर्व १. १६. ४

"सावधान, यदि तू हमारी गाय को मारेगा, यदि घोड़े को मारेगा, यदि पुरुषों को मारेगा, तो हम तुझे सीसे की गोली से वेध देंगे, जिससे तू वीरों की हत्या नहीं कर सकेगा।"

परोऽपेह्यसमृद्धे वि ते हेतिं नयामसि।
वेद त्वाहं निमीवन्तीं नितुदन्तीमराते॥ अथर्व ५. ७. ७

"परे भाग जा, ओ असमृद्धि, तेरे शस्त्र को मैं विफल कर दूंगा। मैंने जान लिया है कि तू कृश करने वाली तथा कष्ट देने वाली है।"

चक्षुषा ते चक्षुर्हन्मि विषेण हन्मि ते विषम्।
अहे म्रियस्व मा जीवीः प्रत्यगभ्येतु त्वा विषम्॥ अथर्व ५. १३. ४

"चक्षु से तेरी चक्षु को मार दूंगा, विष से तेरे विष को मार दूंगा। ओ सर्प, मर जा, जीवित मत रह! काटे का विष उल्टा तुझ में ही चला जाये।"

अयं यो विश्वान् हरितान् कृणोष्युच्छोचयन्नग्निरिवाभिदुन्वन्।
अधा हि तक्मन्नरसो हि भूया अधा न्यङ्ङधराङ् वा परेहि॥
अथर्व ५. २२. २

"हे ज्वर, जो तू अग्नि के समान तपाता हुआ, सताता हुआ सबको पीला कर देता है, वह तू निर्वीर्य हो जा, पराजित हो जा, नीचे पाताल लोक को चला जा।"

निर्बलासेतः प्रपताशुङ्गः शिशुको यथा।
अथो इट इव हायनोप द्राह्यवीरहा॥ अथर्व ६. १४. ३

"ओ, बल को क्षीण करने वाले श्लेष्मरोग, यहां से दूर भाग जा, जैसे कुदकड़ी भरता हुआ हिरनौटा भागता है या जैसे एक वर्ष का बछड़ा भागता है। तू हमारे वीरों का विनाश मत कर।"

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।
परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः॥
अथर्व ६. ४५. १

मरीचीर्धूमान् प्र विशानु पाप्मन्नुदारान् गच्छोत वा नीहारान्।
नदीनां फेनां अनु तान् विनश्य भ्रूणघ्नि पूषन् दुरितानि मृक्ष्व॥
अथर्व ६.११३.२

"परे हो जा, ओ मन के पाप। क्यों अप्रशस्त सलाहें दे रहा है? चल, लम्बा बन यहां से, मुझे तेरी चाह नहीं है। वृक्षों पर जंगलों में भटकता फिर, मेरा मन तो गृहकार्यों तथा गौओं में संलग्न है। हे पाप, तू सूर्य-मरीचियों में जाकर जल जा, धुएं में घुट जा, दूर मेघों में चला जा, तुषार के शीत में चला जा, नदियों के फेनों के साथ विनष्ट हो जा।"

तर्द है पतङ्ग है जभ्य हा उपक्वस।
ब्रह्मेवासंस्थितं हविरनदन्त इमान् यवानहिंसन्तो अपोदित॥
अथर्व ६.५०.२

"हे चूहो, टिड्डी-दलो, कृषि को कुतरने वाले कीड़ो, हे कृषि को चिपट जाने वाले कृमियो, जैसे ब्रह्म असंस्कृत हवियों को छोड़ देता है, वैसे ही इन यवों को हानि न पहुँचाते हुए दूर हो जाओ।"

यथा मनो मनस्केतैः परापतत्याशुमत्।
एवा त्वं कासे प्र पत मनसोऽनु प्रवाय्यम्॥
यथा बाणः सुसंशितः परापतत्याशुमत्।
एवा त्वं कासे प्र पत पृथिव्या अनु संवतम्॥
यथा सूर्यस्य रश्मयः परापतन्त्याशुमत्।
एवा त्वं कासे प्र पत समुद्रस्यानु विक्षरम्॥ अथर्व ६.१०५.१-३।

"जैसे मन मनोवृत्तियों के साथ सत्वर दूर-दूर जाता है, वैसे ही हे खांसी, मनोवेग का अनुसरण करती हुई तू दूर चली जा। जैसे सुतीक्ष्ण बाण सत्वर दूर पहुंच जाता है, वैसे ही हे खाँसी, तू दूर पृथिवी के छोर तक चली जा। जैसे सूर्य की रश्मियां सत्वर दूर-दूर चली जाती हैं, वैसे ही हे खांसी, तू दूर समुद्र के प्रवाह तक चली जा।"

न ते बाह्वोर्बलमस्ति न शीर्षे नोत मध्यतः।
अथ किं पापयामुया पुच्छे बिभर्ष्यर्भकम्॥
य उभाभ्यां प्रहरसि पुच्छेन चास्येन च।
आस्ये न ते विषं किमु ते पुच्छधावसत्॥ अथर्व ७.५६.६,८

"ओ विच्छू, न तेरी भुजाओं में बल है, न सिर में, न मध्य में। तो फिर पूंछड़ी में थोड़ा सा विष क्या रखे फिरता है! तू पुच्छ तथा मुख दोनों से प्रहार करता है, पर जब तेरे मुख में विष नहीं, तो फिर पूंछड़ी में क्या रहेगा?"

प्र पतेतः पापि लक्ष्मि नश्येतः प्रामुतः पत।
अयस्मयेनाङ्केन द्विषते त्वा सजामसि॥ अथर्व ७.११५.१

"हे पाप लक्ष्मी, यहां से भाग जा, यहां से लुप्त हो जा, वहां से भी छूमन्तर हो जा, नहीं तो लोहे के कांटे में फंसा कर हम तुझे शत्रु के पास (यमलोक) पहुंचा देंगे।"

स्वायसा असयः सन्ति नो गृहे विद्मा ते कृत्ये यतिधा परूंषि।
उत्तिष्ठैव परेहीतोऽज्ञाते किमिहेच्छसि॥
ग्रीवास्ते कृत्ये पादौ चापि कर्त्स्यामि निर्द्रव।
इन्द्राग्नी अस्मान् रक्षतां यौ प्रजानां प्रजावती॥ अथर्व १०.१.२०,२१

"उत्तम लोहे की तलवारें हमारे घर में विद्यमान हैं। हे कृत्या, तेरे शरीर में जितने जोड़ हैं, सबको हम जानते हैं, एक-एक जोड़ को काट डालेंगे। उठ खड़ी हो, भाग जा यहां से, ओ अपरिचिते, यहाँ तेरा क्या काम है? तेरी गर्दन काट डालूँगा, तेरे पैर काट डालूंगा, नहीं तो रफूचक्कर हो यहां से।"

ऊपर जो उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं उनमें मृत्यु, अलक्ष्मी, दुःस्वप्न, असमृद्धि, पाप, ज्वर आदि में चेतनत्व का आरोप कर उनकी जिन प्रबल शब्दों में भर्त्सना की गयी है, उनसे वक्ता की इन वस्तुओं को दूर करने की अतिशय तीव्र भावना द्योतित हो रही है। इस शैली का प्रयोग न कर सीधे शब्दों में भी यह कहा जा सकता था कि मृत्यु, अलक्ष्मी आदि को दूर करना चाहिए। परन्तु इस शैली के कथन के संमुख वह कथन निष्प्राण सा प्रतीत होता। इस शैली के उद्गारों में जागृति का परिस्पन्दन है, वक्ता के हृदय की तरङ्ग और भावना व्यक्त हो रही है। इन्हें पढ़ने तथा सुनने से पाठक एवं श्रोता का हृदय भी चमत्कृत होता है, तथा उसमें इस प्रकार के अवांछनीय तत्त्वों से संघर्ष करने का अदम्य उत्साह उत्पन्न हो जाता है। अत एव वैदिक शैलियों के विचार में हमने इस शैली को भी लिया है।

अष्टम अध्याय

स्तुत्यात्मक, प्रार्थनात्मक तथा आशंसात्मक शैली

इस अध्याय में स्तुत्यात्मक, प्रार्थनात्मक तथा आशंसात्मक शैलियों पर विचार किया जायेगा। इन शैलियों का वेदों में पर्याप्त प्रयोग मिलता है, यहां तक कि कुछ लोगों की धारणा ही यह है कि वेद केवल स्तुतियों, प्रार्थनाओं तथा आशंसाओं का संग्रह हैं। स्तुति एवं प्रार्थना मनुष्य के हृदय की स्वाभाविक पुकार है। जब मनुष्य किसी विलक्षण वस्तु का साक्षात् करता है, तब स्वभावतः उसके अन्तस्तल से उस वस्तु के प्रति स्तुति के उद्‌गार निसृत होते हैं। उस वस्तु में जो अद्‌भुत गुण होते हैं, उन्हें वह स्वयं भी प्राप्त करना चाहता है, अतः प्रार्थना का भाव उसके अन्दर से उद्‌भूत होता है। जब किसी अलौकिक शक्ति में मनुष्य की श्रद्धा होती है, तब ये स्तुति एवं प्रार्थनाएं उसके प्रति भी प्रवृत्त होती हैं, जिन से वह आन्तरिक बल अर्जित करता है। मानव-हृदय की इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए वेदों में स्तुति एवं प्रार्थनाएं प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होती हैं। सामान्यतः किसी वस्तु के गुण-कर्मादि के वर्णन का नाम स्तुति है, किसी से कुछ याचना करने को प्रार्थना कहते हैं, तथा हमें यह प्राप्त हो आदि इच्छा प्रकट करने को आशंसा कहते हैं।

पूर्व आचार्यों का विचार

इन शैलियों पर पूर्व आचार्यों ने भी विचार किया है। प्राचीनों ने इन शैलियों को क्रमशः स्तुति, याच्ञा तथा आशीः नाम दिया है। किन्हीं ने आशीः में ही प्रार्थना एवं आशंसा दोनों का अन्तर्भाव कर लिया है।

यास्क

यास्क ने याच्ञा का पृथक् उल्लेख नहीं किया, स्तुति तथा आशीः शब्द ही प्रयुक्त किये हैं, आशीः में ही याच्ञा का भी समावेश अभीष्ट प्रतीत होता है। वे निरुक्त में इन शैलियों का निम्न शब्दों में परिचय देते हैं--

अथापि स्तुतिरेव भवति नाशीर्वादः। "इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्" इति यथैतस्मिन् सूक्ते। अथाप्याशीरेव न स्तुतिः। "सुचक्षा अहमक्षीभ्यां सुवर्चा मुखेन सुश्रुत् कर्णाभ्यां भूयासम्" इति। तदेतद् बहुलमाध्वर्यवे याज्ञेषु च मन्त्रेषु (निरु. ७.३)।

अर्थात् कहीं केवल स्तुति होती है, आशीः नहीं। जैसे, 'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्' इत्यादि सम्पूर्ण सूक्त (ऋग् १.३२) में स्तुति ही है। कहीं केवल आशीः होती है, स्तुति नहीं, यथा 'सुचक्षा अहमक्षीभ्याम्'[1] इत्यादि में। यह आशीः[2] यजुर्वेद में तथा यज्ञसम्बन्धी मन्त्रों में अधिकतर प्राप्त होती है।

शौनक

शौनक ने याच्ञा को आशीः से पृथक् माना है। वे स्तुति तथा आशीः का परिचय देते हुए कहते हैं कि स्तुति में नाम, रूप, कर्म और बन्धुत्व का कीर्तन रहता है, तथा आशीः में स्वर्ग, आयु, धन, पुत्र आदि की आशंसा की जाती है।

स्तुतिस्तु नाम्ना रूपेण कर्मणा बान्धवेन च।
स्वर्गायुर्धनपुत्राद्यैरर्थैराशीस्तु कथ्यते ॥ बृ. दे. १. ७

स्तुति, आशीः तथा याच्ञा के उदाहरण क्रमशः निम्न दिये हैं[3]—

स्तुति—चित्र इद् राजा राजका इदन्यके यके सरस्वतीमनु।
पर्जन्य इव ततनद्धि वृष्ट्या सहस्रमयुता ददत् ॥ ऋग् ८.२१.१८

आशीः—वात आ वातु भेषजं शंभु मयोभु नो हृदे।
प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ ऋग् १०. १८६. १

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरंगैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥ ऋग् १. ८९. ८

याच्ञा—यदिन्द्र चित्र मेहनाऽस्ति त्वादातमद्रिवः।
राधस्तन्नो विदद्वस उभयाहस्त्या भर ॥ ऋग् ५. ३९. १

इन उदाहरणों से प्रकट है कि जहां सामान्य रूप से आशंसा रहती है कि मैं ऐसा बनूं अथवा मुझे यह प्राप्त हो, या अमुक देव हमें अमुक लाभ

---

१. मानव गृह्यसूत्र १.९.२५। गृह्यसूत्र में यह वचन किसी लुप्त वैदिक शाखा से आया प्रतीत होता है। तुलनीय. सुश्रुतौ कर्णौ भद्रश्रुतौ कर्णौ भद्रं श्लोकं श्रूयासम्। ...सौपर्णं चक्षुरजस्रं ज्योतिः ॥ अथर्व १९.२.४,५

२. स्कन्द स्वामी ने आशीः के उदाहरणस्वरूप यजुर्वेद के 'तच्चक्षुः, ३६.२४' तथा 'इदमापः प्रवहत, ६.१७' मन्त्र लिये हैं। इन में प्रथम मन्त्र आशंसा-रूप तथा द्वितीय मन्त्र याच्ञा रूप है। इससे स्पष्ट है कि स्कन्द स्वामी को आशीः में आशंसा और याच्ञा दोनों का समावेश इष्ट है।

३. द्रष्टव्य: बृ० दे० १.४८,५०,५८

पहुँचाये आदि, उसे शौनक ने आशीः कहा है, तथा जहां स्पष्ट रूप से याचना की जाती है उसे याच्ञा[४]।

कात्यायन

कात्यायनीय ऋक्-सर्वानुक्रमणी में भी स्तुति तथा आशीः का उल्लेख है। वहां अन्न (१.१८७), शकुन्त (२.४३), मण्डूक (७.१०३), नदी (१०.७५), ग्रावा (१०.७६), अरण्यानी (१०.१४६) आदि की स्तुतियों का तथा अनेक दानस्तुतियों[५] का कथन हुआ है, यद्यपि आशीः एक ही ऋचा को कहा गया है। अन्य सब मन्त्रों के कोई न कोई अग्न्यादि देवता बताये गये हैं, किन्तु सप्तम मण्डल के सूक्त १०४ की २३ वीं ऋचा के पूर्वार्ध में केवल आशीः कथित की है, अन्य कोई देवता नहीं, अतएव अनुक्रमणीकार ने अकेले इसी अर्धर्च को आशीः कहा है[६]। जिसमें आशंसा की गयी हो इस लक्षण के अनुसार अन्य देवता वाले भी अनेक मन्त्र आशीः हो सकते हैं।

स्वामी दयानन्द

स्वामी दयानन्द ने स्तुति के लिए स्तुति शब्द ही रखा है तथा आशीः के स्थान पर प्रार्थना एवं याचना शब्दों का प्रयोग किया है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के स्तुतिप्रार्थनायाचनादि विषय में इनके स्पष्टीकरणार्थ उन्होंने निम्न मन्त्र उदाहृत किये हैं।

स्तुति

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ अथर्व १०. ८. १

---

४. उवट ने अपने यजुर्भाष्य की भूमिका में 'विध्यर्थवादयाच्ञाऽऽशीःस्तुति-प्रैषप्रवल्हिकाः' आदि वचन उद्धृत कर उसकी व्याख्या में याच्ञा का उदाहरण 'तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि' यजु ३.१७ तथा आशीः का उदाहरण 'आ वो देवास ईमहे', यजु ४.५ दिया है। इस से भी भेद स्पष्ट है।

५. द्रष्टव्यः ऋग् १.१२५; ६.२७, ४६; ७.१८; ८.३-६,१९,२१, २४,४६,५५,७४ आदि।

६. मा नो रक्ष (मा नो रक्षो अभि नड् यातुमावतामपोच्छतु मिथुना या किमीदिना ७.१०४.२३) इत्यृषेरात्मन आशीः, उत्तरोऽर्धर्चः पृथिव्यन्त-रिक्षदैवतः—का.ऋ.सर्वा.।

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम् ।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥
यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः ।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥
यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् ।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ अथर्व १०.७ ३२-३४

प्रार्थना

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि
बलमसि बलं मयि धेहि । ओजोऽस्योजो मयि धेहि
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि । सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥ यजु १९. ९
मयीदमिन्द्र इन्द्रियं दधात्वस्मान् रायो मघवानः सचन्ताम् ।
अस्माकं सन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिषः ॥ यजु २. १०
यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥ यजु ३२. १४
इषे पिन्वस्वोर्जे पिन्वस्व ब्रह्मणे पिन्वस्व
क्षत्राय पिन्वस्व द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्व ।
धर्मासि सुधर्मा मे न्यस्मे नृम्णानि धारय ।
ब्रह्म धारय क्षत्रं धारय विशं धारय ॥ यजु ३८. १४
यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ यजु ३४. १

प्रार्थना के उद्घृत मन्त्रों में द्वितीय तथा अन्तिम मन्त्र आशंसा-रूप हैं। इससे ज्ञात होता है कि स्वामी दयानन्द आशंसा का भी प्रार्थना में ही अन्तर्भाव करते हैं।

अब हम प्रत्येक शैली पर भेदों सहित सोदाहरण सविस्तर विचार करेंगे। इन शैलियों के पर्याप्त उदाहरण प्रस्तुत किये जायेंगे, जिससे वेदों में किस प्रकार की स्तुतियां, प्रार्थनाएं तथा आशंसाएं की गयी हैं, इस पर भी प्रकाश पड़ सके।

१. स्तुत्यात्मक शैली

दो भेद

जहां स्तोतव्य के गुण, कर्म, स्वभावादि का कीर्तन किया जाता है, वहां स्तुत्यात्मक शैली होती है। यह दो प्रकार की होती है, प्रत्यक्षकृत तथा परोक्ष-

कृत। प्रत्यक्षकृत में स्तोतव्य वस्तु को अपने संमुख अनुभूत या कल्पित कर स्तुति की जाती है। अतः इसमें 'हे इन्द्र, तुम वृत्रहा हो, तुमने द्यावापृथिवी को उत्पन्न किया है, तुम्हारे विविध पराक्रम के कार्य हैं' इत्यादि प्रकार की रचना होती है। परोक्षकृत में स्तोतव्य परोक्षवत् रहता है, अतः 'इन्द्र वृत्रहा है, इन्द्र ने द्यावापृथिवी को उत्पन्न किया है, इन्द्र के विविध पराक्रम के कार्य हैं' आदि स्तुति का रूप रहता है।[७] प्रत्यक्षकृत में स्तोतव्य को सम्बोधन कर युष्मद् शब्द के प्रयोग के साथ स्तुति की जाती है। युष्मद् शब्द किसी भी विभक्ति में रह सकता है, तथा प्रयुक्त न हो तो अध्याहृत हो जाता है। उदाहरणार्थ, अथर्ववेद के निम्न मन्त्र में पृथिवी की स्तुति है, जहां पृथिवी सम्बोधन में है, तथा उस के लिए क्रमशः पंचम्यन्त, सप्तम्यन्त, प्रथमान्त, तथा षष्ठ्यन्त युष्मद् शब्द का प्रयोग हुआ है—

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः।
तवेमे पृथिवि पंच मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य
उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति॥ अथर्व १२. १. १५

शेष द्वितीया, तृतीया तथा चतुर्थी विभक्तियां क्रमशः निम्न मन्त्रों में देखी जा सकती हैं:

त्वां स्तोमा अवीवृधन् त्वामुक्था शतक्रतो॥ ऋग् १.५.८
विश्वं सो अग्ने जयति त्वया धनं यस्ते ददाश मर्त्यः॥ ऋग् १. ३६. ४

परोक्षकृत स्तुति में स्तोतव्य या तत्स्थानीय सर्वनाम सभी विभक्तियों में आ सकता है। क्रमशः उदाहरण निम्न हैं:

इन्द्र तुभ्यमिदद्रिवोऽनुत्तं वज्रिन् वीर्यम्॥ ऋग् १. ८०. ७
इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्याः॥ ऋग् १०. ८९. १०
इन्द्रमिद् गाथिनो बृहद् इन्द्रं वाणीरनूषत॥ ऋग् १. ७. १
इन्द्रेण रोचना दिवो दृंढानि दृंहितानि च। ऋग् ८. १४. ९
इन्द्राय गाव आशिरं दुदुह्रे वज्रिणे मधु। ऋग् ८. ६९. ६
नेन्द्राद् ऋते पवते धाम किंचन। ऋग् ९. ६९. ६
इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्। ऋग् १. ३२. १
इन्द्रे विश्वानि वीर्या कृतानि कर्त्वानि च। ऋग् ८. ६३. ६

---

७. प्रत्यक्षकृत तथा परोक्षकृत नामों के लिए द्रष्टव्य : निरु. ७.२, यद्यपि ये नाम यहां पूर्णतः निरुक्ताभिमत अर्थ में नहीं लिये गये हैं।

वेदों में ज्येष्ठ ब्रह्म की, इन्द्र, वरुण आदि देवों की, पशु-पक्षियों की तथा नदी, ओषधी आदि की भी स्तुति मिलती है। प्रथम हम प्रत्यक्षकृत स्तुति को देखेंगे।

प्रत्यक्षकृत स्तुति

इन्द्र

नकिरिन्द्र त्वदुत्तरो न ज्यायाँ अस्ति वृत्रहन्। नकिरेवा यथा त्वम्॥
ऋग् ४.३०.१

अदर्दरुत्समसृजो वि खानि त्वमर्णवान् बद्बधानाँ अरम्णाः।
महान्तमिन्द्र पर्वतं वि यद् वः सृजो वि धारा अव दानवं हन्॥
ऋग् ५.३२,१

तव द्यौरिन्द्र पौंस्यं पृथिवी वर्धति श्रवः। त्वामापः पर्वतासश्च हिन्विरे॥
ऋग् ८.१५.८

शवसा ह्यसि श्रुतो वृत्रहत्येन वृत्रहा। मघैर्मघोनो अति शूर दाशसि॥
ऋग् ८. २४. २

त्वमेतदधारयः कृष्णासु रोहिणीषु च। परुष्णीषु रुशत् पयः॥
ऋग् ८. ९३. १३

मन्ये त्वा यज्ञियं यज्ञियानां मन्ये त्वा च्यवनमच्युतानाम्।
मन्ये त्वा सत्वनामिन्द्र केतुं मन्ये त्वा वृषभं चर्षणीनाम्॥
ऋग् ८. ९६. ४

त्वमिन्द्राभिभूरसि त्वं सूर्यमरोचयः। विश्वकर्मा विश्वदेवो महाँ असि॥
ऋग् ८. ९८. २

— "हे वृत्रहन्ता इन्द्र, तुम से अधिक उत्कृष्ट कोई नहीं है, न तुमसे अधिक प्रशस्य है, तुम्हारे सदृश भी कोई नहीं है। तुमने मेघ को विदीर्ण किया है, उसके छिद्रों को खोल दिया है, आकाश में बद्ध जल के पारावार को मुक्त कर दिया है, महान् पर्वत के मुख को विवृत कर दिया है, जलधाराओं को बहा दिया है। हे इन्द्र, तुम्हारे पौरुष और यश का द्युलोक वर्णन कर रहा है, पृथिवी वर्णन कर रही है, नदियां और पर्वत भी तुम्हारा ही यशोगान कर रहे हैं। हे शूर, तुम बल में विश्रुत हो, वृत्रसंहार के कारण वृत्रहा कहलाते हो, दानी ऐसे हो कि बड़े-बड़े दानियों को पीछे छोड़ देते हो। तुमने ही काली तथा लाल पर्ववती गौओं के अन्दर श्वेत चमकीला दूध रखा है, तुमने ही काली तथा चमकीली पर्ववती नदियों में चमकता हुआ जल स्थापित किया है, तुमने ही काली तथा चमकीली रात्रियों में चमकता

अवश्याय-जल निहित किया है। मैं तुम्हें यज्ञियों में यज्ञिय मानता हूँ, अच्युतों में च्यावयिता मानता हूं वलियों में मूर्धन्य मानता हूँ, मनुष्यों के मनोरथों को पूर्ण करने वाला मानता हूँ। हे इन्द्र, तुम सर्वव्यापी हो, तुमने सूर्य को चमकाया है, तुम विश्वकर्मा हो, विश्वदेव हो, महान् हो।"

अग्नि

त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषिर्देवो देवानाभभवः शिवः सखा।
तव व्रते कवयो विद्मनापसोऽजायन्त मरुतो भ्राजदृष्टयः॥
त्वमग्ने वृषभः पुष्टिवर्धन उद्यतस्रुचे भवसि श्रवाय्यः।
य आहुतिं परि वेदा वषट्कृतिमेकायुरग्रे विश आविवाससि॥
त्वं तमग्ने अमृतत्व उत्तमे मर्तं दधासि श्रवसे दिवे दिवे।
यस्तातृषाण उभयाय जन्मने मयः कृणोषि प्रय आ च सूरये।
त्वमग्ने प्रमतिस्त्वं पितासि नस्त्वं वयस्कृत् तव जामयो वयम्।
सं त्वा रायः शतिनः सं सहस्रिणः सुवीरं यन्ति व्रतपामदाभ्य॥

ऋग् १. ३१. १, ५, ७, १०

"हे अग्नि, तुम प्रथम अंगिरा ऋषि हो, तुम देवों के मंगलमय सखा हो। तुम्हारे ही व्रत में कविजन प्रख्यात कर्मों वाले होते हैं, तुम्हारे ही व्रत में मरुद्-गण चमचमाती ऋष्टियों वाले होते हैं। तुम अभीप्सित फलों के वर्षक हो, पुष्टिवर्धक हो, स्रुवा उठाने वाले यमजान के लिए कीर्तिप्रदाता होते हो। जो वषट्कारपूर्वक तुम्हें आहुति प्रदान करता है, उसे तुम सबसे पूर्व प्रजाओं का अधिपति बना देते हो। तुम उस मर्त्य को दिन-प्रतिदिन उत्तम अमृतत्व तथा यश प्रदान करते हो, जिसे द्विपात्-चतुष्पात् उभयविध प्राणियों के हित की प्यास लगी होती है। तुम उस सूरि के लिए सुख तथा अन्न उत्पन्न करते हो। हे अग्नि, तुम प्रकृष्टमति हो, तुम हमारे पिता हो, तुम आयुष्यप्रदाता हो, हम सब तुम्हारे बान्धव हैं। हे अहिंसनीय, सुवीर तथा व्रतपालक, तुम्हारे समीप शत-शत, सहस्र-सहस्र ऐश्वर्य प्रवाहित होकर आते हैं।"

त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्परि।
त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः॥
तवाग्ने होत्रं तव पोत्रमृत्वियं तव नेष्ट्रं त्वमग्निदृतायतः।
तव प्रशास्त्रं त्वमध्वरीयसि ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे॥

ऋग् २. १. १, २

"हे अग्नि, तुम सूर्य-किरणों के साथ उत्पन्न होते हो, तुम आशुशुक्षणि नाम से प्रसिद्ध हो। तुम जलों मे उत्पन्न हो, अश्माओं से उत्पन्न होते हो।

तुम वनों से उत्पन्न होते हो, तुम वनस्पतियों से उत्पन्न होते हो। हे सब मनुष्यों के पालक, तुम शुचि रूप में प्रकट हो। होता का कर्म, पोता का कर्म, ऋत्विजों का विधि-विधान तुम्हारे ही अधीन है। यज्ञाभिलाषी के अग्नीध् तुम्हीं हो। प्रशास्ता का कर्म भी तुम्हारे ही अधीन है। तुम यज्ञ की कामना करते हो, तुम ब्रह्मा हो, तुम हमारे घर में गृहपति हो।"

सोम

त्वं विप्रस्त्वं कविर्मधु प्र जातमन्धसः। मदेषु सर्वधा असि ॥
तव विश्वे सजोषसो देवासः पीतिमाशत। मदेषु सर्वधा असि ॥
आ यो विश्वानि वार्या वसूनि हस्तयोर्दधे। मदेषु सर्वधा असि ॥
ऋग् ९. १८. २-४

"हे सोम, तु विप्र है, तू कवि है, तू रसीले पौधे से उत्पन्न मधु है। परस्पर प्रीतियुक्त देवगण तेरे ही रसपान को प्राप्त करते हैं। तू सवन-कर्ताओं के हाथों में वरणीय वसु रख देता है। तू मदों द्वारा सबका विधारक होता है।"

तव शुक्रासो अर्चयो दिवस्पृष्ठे वि तन्वते। पवित्रं सोम धामभिः।
तवेमे सप्त सिन्धवः प्रशिषं सोम सिस्रते। तुभ्यं धावन्ति धेनवः ॥
ऋग् ९. ६६. ५, ६

"हे सोम, तेरी निर्मल अर्चियाँ अपने तेजों में द्यौ के पृष्ठ पर मेघ रूप छाननी को फैलाती हैं। ये सात नदियाँ तेरे ही प्रशासन का अनुसरण करती हैं, धेनुएं तुझ से ही मिलने के लिए दौड़ती आती हैं।"

तवेमाः प्रजा दिव्यस्य रेतसस्त्वं विश्वस्य भुवनस्य राजसि ।
अथेदं विश्वं पवमान ते वशे त्वमिन्दो प्रथमो धामधा असि ॥
त्वं समुद्रो असि विश्ववित् कवे तवेमाः पञ्च प्रदिशो विधर्मणि ।
त्वं द्यां च पृथिवीं चाति जभ्रिषे तव ज्योतींषि पवमान सूर्यः ॥
ऋग् ९. ८६. २८, २९

"हे सोम, तेरे दिव्य रेतस् से ये सब प्रजाएं उत्पन्न हुई हैं, तू सारे भुवन का राजा है। हे पवमान, यह सम्पूर्ण विश्व तेरे वश में है। हे इन्दु, तू सर्वप्रथम धामों का धारणकर्ता है। हे विश्वजित्, हे कवि, तू समुद्रतुल्य है, पांचों दिशाएं तेरे ही शासन में हैं। तू द्यौ और पृथिवी का भरणपोषण करता है, नक्षत्रादि ज्योतियां तथा सूर्य तेरे ही हैं।"

मरुत्

वाशीमन्त ऋष्टिमन्तो मनीषिणः सुधन्वान इषुमन्तो निषङ्गिणः ।
स्वश्वाः स्थ सुरथाः पृश्निमातरः स्वायुधा मरुतो याथना शुभम् ।।
धूनुथ द्यां पर्वतान् दाशुषे वसु नि वो वना जिहते यामनो भि या ।
कोपयथ पृथिवीं पृश्निमातरः शुभे यदुग्राः पृषतीरयुग्ध्वम् ।।
ऋष्टयो वो मरुतो अंसयोरधि सह ओजो बाह्वोर्वो बलं हितम् ।
नृम्णा शीर्षस्वायुधा रथेषु वो विश्वा वः श्रीरधि तनूषु पिपिशे ।।
ऋग् ५. ५७. २, ३. ६

"हे मरुतो, तुम्हारे पास परशु हैं, ऋष्टियां हैं, तुम मनीषी हो, धनुर्धर हो, बाणधारी हो, तूणीरधारी हो, रथारोही हो, पृश्नि माता के पुत्र हो, शस्त्रधारी हो, शुभ चाल से चलने वाले हो। तुम आकाश को कंपा देते हो, पर्वतों को कंपा देते हो, हविर्दाता को धन देते हो। तुम्हारे आक्रमण के भय से वन भी तुम्हारे लिए मार्ग छोड़ देते हैं। हे पृश्निमाता के पुत्र, शुभ कार्य के लिए जब पृषतियों[८] पर आरूढ होते हो, तब सारी पृथिवी को प्रकुपित कर देते हो। तुम्हारे कन्धों पर ऋष्टियाँ हैं, साहसपूर्ण तुम्हारा ओज है, भुजाओं में बल निहित है, सिरों पर शिरस्त्राण हैं, रथों में आयुध हैं, शरीरों पर समग्र कान्ति फूटी पड़ रही है।"

---

८. ये मरुत् प्रकृति में वायुएं, शरीर में प्राण तथा राष्ट्र में वीर सैनिक हैं। मरुतों के वाहन पृषती हैं। पृषती पर ऋग् १.६४.८ के भाष्य में सायण लिखते हैं'पृषत्यः श्वेतविन्दुङ्किता मृग्य इत्यैतिहासिकाः,नानावर्णा मेघमाला इति नैरुक्ताः'। एवं वायुपक्ष में पृषती मेघमाला है। प्राणपक्ष में जल-कण पृषती होंगे,प्राणों को अप्-मय कहा भी गया है (आपोमयः प्राणः,छा.उ. ६. ७. ६)। शतपथ में कहा है-'यावद् वै प्राणेष्वापो भवन्ति तावद् वाचा वदति, शत. ५. ३. ५. १६'। एवं प्राण जलों पर आरूढ होकर ही वाणी-उच्चारण आदि कार्यों को करता है। सैनिक पक्ष में श्री सातवलेकर पृषती से धब्बे वाले घोड़े अर्थ गृहीत करते हैं (द्रष्टव्यः दैवत-संहिता में मरुत् देवता का परिचय)। बुद्धदेव विद्यालंकार ने पृषती का अर्थ विन्दुमती विद्युत् किया है तथा यह आशय लिया है कि सैनिक विद्युद्-रथों पर आरूढ़ हो प्रयाण करते हैं, उन्होंने वैदिक प्रमाण दिया है —'आ विद्युन्मद्भिः रथेभिर्यात ऋग् १.८८. १', (द्रष्टव्यः 'अथ मरुत्सूक्तम्, संवत् १९८८, पृ. २२, २३)।

सूर्य

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य । विश्वमा भासि रोचनम् ।
वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहा मिमानो अक्तुभिः । पश्यञ्जन्मानि सूर्य ॥
सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य । शोचिष्केशं विचक्षण ॥
ऋग् १. ५०. ४, ७, ८

"हे सूर्य, तू तराने वाला है, विश्व द्वारा दर्शनीय है, ज्योतिष्कृत् है, सब लोकों को भासमान करता है । तू रात्रियों सहित दिनों का निर्माण करता हुआ तथा जन्मधारियों पर अनुग्रहदृष्टि रखता हुआ विस्तीर्ण द्युलोक में यात्रा करता है । हे प्रकाशक, शोचि रूप केशों वाले तुझे सात घोड़ियां रथ में वहन करती हैं ।"

वण्महाँ असि सूर्य बडादित्य महाँ असि ।
महस्ते सतो महिमा पनस्यतेऽद्धा देव महाँ असि ॥ ऋग् ८. १०१. ११
विभ्राजञ्ज्योतिषा स्वरगच्छो रोचनं दिवः ।
येनेमा विश्वा भुवनान्याभृता विश्वकर्मणा विश्वदेव्यावता ॥
ऋग् १०. १७०. ४

"हे सूर्य, तू महान् है । सचमुच हे आदित्य, तू महान् है । तुझ महान् की महिमा सर्वत्र स्तुत हो रही है । निस्सन्देह हे देव, तू महान् है । ज्योति से भ्राजमान होता हुआ तू द्युलोक में विद्यमान है, तूने समस्त लोक-लोकान्तरों को धारण किया हुआ है, तू सब कर्मों को करने वाला है, तू सब देवों के लिए हितकर है ।"

चन्द्र

नवो नवो भवसि जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेष्यग्रम् ।
भागं देवेभ्यो वि दधास्यायन् प्र चन्द्रमस्तिरसे दीर्घमायुः ॥
अथर्व ७. ८१. २

"हे चन्द्र, उत्पन्न होता हुआ तू नव-नव होकर निकलता है, तू तिथियों का सूचक है, तू उषाओं से पूर्व आता है । आ कर देवजनों को भाग प्रदान करता है, आयु को दीर्घ करता है ।"

गावः

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम् ।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद् वो वय उच्यते सभासु ॥ ऋग् ६. २८. ६

"हे गौओ, तुम कृश को भी हृष्टपुष्ट कर देती हो, कान्तिहीन को भी सुरूप कर देती हो । हे भद्र वाणी वाली धेनुओ, तुम घर को सुखमय कर देती हो, तुम्हारे दुग्ध-घृतादि भोज्य पदार्थ की सभाओं में बहुत प्रशंसा होती है ।"

लाक्षा

रात्री माता नभः पितार्यमा ते पितामहः ।
सिलाची नाम वा असि सा देवानामसि स्वसा ॥
यस्त्वा पिबति जीवति त्रायसे पुरुषं त्वम् ।
भर्त्री हि शश्वतामसि जनानां च न्यञ्चनी ॥
वृक्षं वृक्षमारोहसि वृषण्यन्तीव कन्यला ।
जयन्ती प्रत्यातिष्ठन्ती स्परणी नाम वा असि ॥
यद् दण्डेन यदिष्वा यद् वारुर्हरसा कृतम् ।
तस्य त्वमसि निष्कृतिः सेमं निष्कृधि पूरुषम् ॥
भद्रात् प्लक्षान्निस्तिष्ठस्यश्वत्थात् खदिराद्धवात् ।
भद्रान्न्यग्रोधात् पर्णात् सा न एह्यरुन्धति ॥
हिरण्यवर्णे सुभगे शुष्मे लोमशवक्षणे ।
अपामसि स्वसा लाक्षे वातो ह्यात्मा बभूव ते ॥ अथर्व ५. ५. १-५, ७

"रात्रि तेरी माता है, मेघ पिता है, अर्यमा तेरा पितामह है । तेरा नाम सिलाची है, तू देवों की बहिन है । जो तेरा पान करता है, वह जीवित रहता है, तू उस पुरुष का त्राण करती है । तू पुराने से पुराने व्रणों को भरने वाली है तथा उत्पन्न रोगादि को नीचा दिखाने वाली है । पतिंवरा कन्या के समान तू वृक्ष-वृक्ष पर आरोहण करती है । तू जीतने वाली है, चिपटने वाली है, तेरा नाम स्परणी (बल देने वाली, स्पृ प्रीतिबलनयोः) है । दण्डप्रहार से, बाण से या अग्निदाह से जो व्रण हो गया है उसकी तू अचूक औषध है । तू उत्कृष्ट पिलखन से, पीपल से, खदिर से, धव वृक्ष से निकलती है । हे सुनहरे वर्ण वाली, सुन्दर चमक वाली, सूर्यवर्णा, वपुष्मती लाक्षा, तू व्रण को प्राप्त होती है, तू व्रण का उपचार करती है । तू जलों की बहिन है, वायु तेरा आत्मा है ।"

अंजन

परिपाणं पुरुषाणां परिपाणं गवामसि ।
अश्वानामर्वतां परिपाणाय तस्थिषे ॥
उतासि परिपाणं यातुजम्भनमाञ्जन ।
उतामृतस्य त्वं वेत्थाथो असि जीवभोजनमथो हरितभेषजम् ॥
यस्याञ्जन प्रसर्पस्यङ्गमङ्गं परुष्परुः ।
ततो यक्ष्मं वि बाधस उग्रो मध्यमशीरिव ॥ अथर्व ४. ९. २-४

"हे अंजन, तू पुरुषों का रक्षक है, गौओं का रक्षक है, वेगशील अश्वों की रक्षा के लिए स्थित है, तू यातनाओं का जम्भन करने वाला है, तू परिपालक

है, तू अमृतत्व की कला को जानता है। तू जीवों का भोजन है, तू पाण्डु रोग की औषध है। हे अंजन, तू जिसके अंग-अंग में, परु-परु में पहुंच जाता है, वहां से मध्यलोक में स्थित उग्र पवन के समान तू यक्ष्मा को बाहर निकाल देता है।"

उपर्युक्त सब स्तुतियां प्रत्यक्षकृत की श्रेणी में आती हैं, क्योंकि इन में 'तुम ऐसे हो,' 'तुमने अमुक-अमुक कार्य किये हैं', 'तुम्हारी ऐसी महिमा है' इत्यादि प्रकार से स्तुति की गयी है। ये इन्द्र, अग्नि, सूर्य आदि देवता चेतन हैं या अचेतन, इस सम्बन्ध में निरुक्तकार ने विचार किया है, तथा दोनों पक्षों में युक्तियां दी हैं।[१] जब इनका अर्थ परमात्मा आदि चेतनपरक किया जाता है तब तो ये चेतन ही होते हैं, किन्तु विद्युत्, आग आदि अचेतनपरक अर्थ लेने पर इन्हें सामान्यत: अचेतन होना चाहिए। ऊपर जिन की स्तुति दी गयी है, उन में लाक्षा एवं अंजन तो अचेतन कोटि में आते ही हैं। वेद में अचेतनों की स्तुति क्यों है, इस पर इस अध्याय के अन्त में कुछ विचार किया जायेगा। अब वेदों की परोक्षकृत स्तुतियों का अध्ययन करेंगे।

परोक्षकृत स्तुति

प्रत्यक्षकृत की तुलना में परोक्षकृत स्तुतियां वेदों में अधिक पायी जाती हैं। इनमें किसी वस्तु का उसे सम्बोधन न करते हुए वर्णन रहता है। अन्यत्र इसे वर्णनात्मक शैली भी कहा जाता है। इसे वस्तुकथात्मक शैली भी कह सकते हैं। वेदों में ब्रह्म से लेकर मण्डूक तक एवं धनुष, बाण, तूणीर तक सभी पदार्थों का इस शैली में वर्णन हुआ है। इस में अध्यात्म रहस्यों का वर्णन भी है; इन्द्रादि देवों की गौरव-गाथा भी है; मनुष्यों की दानादि स्तुतियां भी हैं; सूर्योदय, रात्रि, पर्जन्य, नदी, उषा आदि के कवितामय प्राकृतिक वर्णन भी हैं। सामान्यत: वेदों में ऐसा बहुत कम है कि किसी सूक्त, अध्याय आदि में एक ही शैली हो, प्राय: कई शैलियों का मिश्रण रहता है। एक मन्त्र में प्रत्यक्षकृत स्तुति है, तो दूसरे में परोक्षकृत स्तुति, एक में प्रेरणात्मक शैली है तो दूसरे में प्रार्थनात्मक शैली। इस प्रकार एक-एक सूक्त, अध्याय आदि विविध पुष्पों की माला के समान आचरण करता है। तो भी किसी-किसी प्रसंग में एक ही शैली दृष्टिगोचर होती है। प्रस्तुत शैली भी अधिकतर अन्य शैलियों के साथ मिल कर तथा कहीं-कहीं स्वतन्त्र रूप में भी वेदों में व्यवहृत हुई है। यहां कुछ प्रसंगों का दिग्दर्शन किया जाता है।

---

१. द्रष्टव्य : निरु. ७.६,७

इन्द्र

इन्द्र वेदों का प्रमुख देवता है। अनेक स्थलों में इसकी प्रत्यक्षकृत तथा परोक्षकृत स्तुति मिलती है। प्रत्यक्षकृत स्तुति के कुछ मन्त्र अभी दर्शाये जा चुके हैं। परोक्षकृत स्तुति के उदाहरण रूप में ऋग् १.३२ को ले सकते हैं, जिस का यास्क ने भी स्तुति के प्रसंग में उल्लेख किया है।[10] तथा जिसमें मन्त्र ४, १२, १४ के अतिरिक्त शेष सब मन्त्र परोक्ष स्तुति के हैं। इसमें इन्द्र के वृष्टिकर्म का वर्णन है। प्रथम दो मन्त्र इस प्रकार हैं:–

इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत् पर्वतानाम्॥
अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाण त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष।
वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः॥

"इन्द्र के वीरतापूर्ण कर्मों का मैं वर्णन करता हूँ, जिन श्रेष्ठ कर्मों को उस वज्रधारी ने किया है। उसने मेघ का संहार किया, जलों को नीचे गिराया तथा पर्वतों की नदियों को बहाया है। उसने पर्वत पर स्थित घनजाल का हनन किया, त्वष्टा ने इसके लिए उसे सुप्रेरणीय वज्र बना कर दिया था। रंभाती हुई धेनुओं के समान शब्द पूर्वक स्पन्दन करती हुई नदियाँ शीघ्र ही समुद्र तक पहुँच गईं।"

इन्द्र की परोक्षकृत स्तुति के लिए १५ मन्त्रों का एक सूक्त ऋग् २. १२ भी द्रष्टव्य है, जिसमें अन्तिम मन्त्र को छोड़ शेष सम्पूर्ण में इसी शैली की स्तुति है, तथा जिसका लय, प्रवाह एवं समस्यापूर्ति का सौष्ठव भी ध्यान देने योग्य है। कुछ मन्त्र निम्न हैं–

यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत्।
यस्य शुष्माद् रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः॥
यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद् यः पर्वतान् प्रकुपिताँ अरम्णात्।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात् स जनास इन्द्रः॥
यस्याश्वासः प्रदिशि यस्य गावो यस्य ग्रामा यस्य विश्वे रथासः।
यः सूर्यं य उषसं जजान यो अपां नेता स जनास इन्द्रः॥
यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत् स जनास इन्द्रः॥

ऋग् २. १२. १, २, ७, ९

---

१०. निरु. ७.३

"जो उत्पन्न ही रहता है, प्रथम है, मनस्वी है, जिस देव ने सब देवों को कर्म से अलंकृत किया हुआ है, जिसके बल से द्यावापृथिवी भीत रहते हैं, जो पौरुष की महिमा से प्रख्यात है, हे मनुष्यों, वह इन्द्र है। जिसने शिथिल पृथिवी को दृढ़ किया, जिसने प्रकुपित पर्वतों को स्थिर किया, जिसने विस्तीर्ण अन्तरिक्ष का निर्माण किया, जिसने द्युलोक को टिकाया, हे मनुष्यो, वह इन्द्र है। जिसके अनुशासन में अश्व रहते हैं, जिसके अनुशासन में गौएँ रहती हैं, जिसके अनुशासन में ग्राम हैं, जिसके अनुशासन में रथ हैं, जिसने सूर्य को जन्म दिया, जिसने उषा को जन्म दिया, जो नदियों का नेता है, हे मनुष्यो, वह इन्द्र है। जिसकी सहायता के बिना लोग विजयलाभ नहीं करते, योद्धागण जिसे रक्षार्थ पुकारते हैं। जो विश्व का प्रतिमान बना हुआ है, जो अच्युतों का च्यावयिता है, हे मनुष्यो, वह इन्द्र है।"

विष्णु

अब ऋग्वेद से विष्णु की परोक्ष स्तुति के दो मन्त्र दिये जाते हैं, जो वामन विष्णु द्वारा तीन चरणों से त्रिलोकी को माप लेने की पौराणिक कथा[11] के मूल हैं—

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः॥

प्र तद् विष्णु : स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा॥

ऋग् १. १५४. १, २

"विष्णु की वीरताओं का मैं गान करता हूँ, जिसने पार्थिव लोकों को माप लिया है, तथा जिस प्रभूत कीर्ति वाले ने तीन चरणन्यास करके उत्तर लोक को भी माप लिया है। वह विष्णु अपनी वीरताओं से स्तुति पाता है, वह सिंह के समान भयंकर है, भूमि पर सर्वत्र विचरने वाला है, गिरिगुहा में स्थित है, जिसके तीन विशाल चरणन्यासों में समस्त भुवन निवास कर रहे हैं।"

निरुक्त के अनुसार यह विष्णु सूर्य है, जो पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्यौ में अथवा पूर्व क्षितिज, मध्याकाश एवं पश्चिम क्षितिज में अपने रश्मि रूपी

---

११. द्रष्टव्य: भागवत ८.१४-२४; वामन पु., अ.७५; पद्मोत्तर पु. अ. ४६

चरणों को रखता है[१२]। प्राण एवं परमेश्वर भी विष्णु पद से वाच्य होते हैं[१३]। मुख्य प्राण अपने अपान, व्यान आदि चरणों से शरीर के निम्न, मध्यम तथा उत्तम तीनों लोकों में व्याप्त होता है। परमेश्वर भी अपने शक्ति रूप चरणों से त्रिलोकी में व्याप्त है।

वरुण

वरुण की परोक्षकृत स्तुति के लिए अथर्ववेद का निम्न प्रसंग उल्लेखनीय है, जिसमें वरुण का एक सम्राट् के रूप में चित्रण हुआ है, जो अपने गुप्तचरों द्वारा द्यावापृथिवी के एक-एक वृत्त की जानकारी रखता है—

> यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम् ।
> द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद् वेद वरुणस्तृतीयः ।।
> उतेयं भूमिर्वरुणस्य राजा उतासौ द्यौर्बृहती दूरे अन्ता ।
> उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः ।।
> उत यो द्यामतिसर्पात् परस्तान्न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः ।
> दिवः स्पशः प्र चरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम् ।।
>
> अथर्व ४. १६. २-४

'जो खड़ा होता है, चलता है, वंचना करता है, छिप कर कोई कार्य करता है, कष्ट में पड़ कर कुछ करता है, दो बैठ कर जो मन्त्रणा करते हैं उस सब को राजा वरुण तीसरा होकर जान लेता है। यह भूमि वरुण राजा की है, वह द्युलोक भी वरुण राजा का ही है, जो विशाल है तथा दूर अन्त तक चला गया है। ये दोनों (पार्थिव तथा आकाशीय) समुद्र वरुण की दो कुक्षियां हैं और वह इस छोटी सी पानी की बूंद में भी निलीन है। यदि कोई द्युलोक के भी परले पार चला जाये, तो भी वरुण राजा से छूट नहीं पाता। उस द्योतमान के गुप्तचर सर्वत्र विचर रहे हैं, जो सहस्र नेत्रों वाले होकर भूमि से परे की वस्तु को भी देख रहे हैं।'

सोम

सोम की स्तुति वेद में चन्द्रमा, सोमवल्ली रस, परमात्मा ब्रह्मानन्द आदि कई रूपों में हुई है। निम्न मन्त्रों में ऋषि ब्रह्म की साक्षात् अनुभूति कर उसके रस का परिचय दे रहा है, जिसके विषय में कहा गया है कि वह

---

१२. निरु० १२. १९

१३. 'विष्णो सर्वव्यापिन् जगदीश्वर, व्यापनशीलः प्राणो वा,' दयानन्द, यजु ५. १६ भाष्य।

अमरत्व को देने वाला है"[१४]। भावों के अनुरूप पदयोजना एवं आरोहावरोह का वैचित्र्य भी यहां दर्शनीय है। पढ़ते हुए ऐसा प्रतीत होता है, मानों हमारे भी हृदय में सोम रस की धार प्रवाहित होती चली आ रही है।

स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम्।
उतो न्वस्य पपिवांसमिन्द्रं न कश्चन सहत आहवेषु॥
अयं मे पीत उदियर्ति वाचमयं मनीषामुशतीमजीगः।
अयं षडुर्वीरमिमीत धीरो न याभ्यो भुवनं कच्चनारे॥
अयं स यो वरिमाणं पृथिव्या वर्ष्माणं दिवो अकृणोदयं सः।
अयं पीयूषं तिसृषु प्रवत्सु सोमो दाधारोर्वन्तरिक्षम्॥

ऋग् ६. ४७. १, ३, ४

"यह स्वादु है, यह मधुर है, यह रसीला है। इसके पीने वाले इन्द्र (आत्मा) को आन्तरिक युद्धों में कोई पराजित नहीं कर सकता। पान किया हुआ यह मेरी स्तुतिवाणी को प्रेरित कर रहा है, पान किया हुआ यह मेरी अभीप्सायुक्त मनीषा को प्रेरित कर रहा है। इस धीर ने मेरे अन्दर की छहों भूमिकाओं को सुरचित कर दिया है, जिनसे दूर कोई सत्ता नहीं रहती। यह वह है जिसने मेरी पृथिवी (पार्थिव चेतना) का विस्तार कर दिया है, यह वह है जिसने मेरे द्यौ (आत्मिक चेतना) का विस्तार कर दिया है। इसने मन, बुद्धि, प्राण के तीनों शिखरों पर अमृत प्रवाहित कर दिया है, इसने प्राणमय चेतना रूपी मध्यलोक को धृत कर दिया है।"

प्राण

अथर्ववेद के प्रसिद्ध प्राणसूक्त में प्रत्यक्षकृत तथा परोक्षकृत दोनों रूपों में प्राण की स्तुति पायी जाती है। परोक्ष स्तुति के कुछ मन्त्र निम्न हैं—

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्॥
यदा प्राणो अभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम्।
पशवस्तत् प्रमोदन्ते महो वै नो भविष्यति॥
प्राणः प्रजा अनु वस्ते पिता पुत्रमिव प्रियम्।
प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न॥

अथर्व ११. ४. १, ५, १०

---

१४. अपाम सोमममृता अभूम, ऋग् ८. ४८. ३।
Soma is the lord of the wine of delight, the wine of immortality--Shri Aurobindo : 'On the Veda' 1956, P 405.

"प्राण को नमस्कार है, जिसके वश में यह सब कुछ है, जो सबका ईश्वर है, जिसमें सब प्रतिष्ठित है। जब प्राण वर्षा के साथ महती पृथिवी पर बरसता है, तब सब प्राणी प्रमुदित होने लगते हैं कि हमारे लिए प्रचुर अन्न हो जायेगा। प्राण सब प्रजाओं की रक्षा करता है, जैसे पिता प्रिय पुत्र की। प्राण सबका स्वामी है, जो श्वास लेता है, चाहे नहीं लेता।"

उषा

'वेद में उषा का स्तवन अनुपम काव्य-सौन्दर्य के साथ किया गया है। उषा के मन्त्र नारी को भी उद्बोधन देते हैं तथा उषा मनुष्य के हृदय का आन्तरिक उषा का भी प्रतीक[१५] है। निम्न मन्त्रों में रात्रि और उषा को दो बहिनें कहा है, जो गगनप्रांगण में क्रमशः आती-जाती हैं।

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागाच्चित्रः प्रकेतो अजनिष्ट विभ्वा।
यथा प्रसूता सवितुः सवाय एवा रात्र्युषसे योनिमारैक्॥
रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागाद् आरैगु कृष्णा सदनान्यस्याः।
समानबन्धू अमृते अनूची द्यावा वर्णं चरत आमिमाने॥
समानो अध्वा स्वस्रोरनन्तस्तमन्यान्या चरतो देवशिष्टे।
न मेथेते न तस्थतुः सुमेके नक्तोषासा समनसा विरूपे॥

ऋग् १. ११३. १-३

"यह श्रेष्ठ, ज्योतियों की ज्योति उषा आयी है, इस का अद्भुत विभु प्रकाश उत्पन्न हो गया है। जिस प्रकार प्रसूत हुई यह उषा सूर्य के लिए स्थान खाली कर देती है, उसी प्रकार रात्रि ने उषा के लिए स्थान खाली कर दिया है। सूर्य रूपी चमकीले वत्स वाली, चमकीली, श्वेत उषा का आगमन हुआ है, कृष्णा रात्रि ने इसके सदनों को रिक्त कर दिया है। उषा और रात्रि दोनों समान बन्धु वाली हैं, अमर हैं, अनुक्रम से आने-जाने वाली हैं, द्युतिमती हैं, अपने रंग को विश्व में बखेरती हुई भ्रमण कर रही हैं। इन दोनों बहिनों का एक ही अन्त-रहित मार्ग है, उस मार्ग पर ये परमेश्वर द्वारा अनुशासित हो एक के

---

१५. उषा से नारी के कर्तव्यबोध के लिए द्रष्टव्यः स्वामी दयानन्द के ऋग्वेद-भाष्य में उषा-सूक्तों का भाष्य, तथा 'उषा देवता—'श्री सातवलेकर। उषा से आन्तरिक उषा के ग्रहण के लिए द्रष्टव्यः 'आन दि वेद'—श्री अरविन्द, भाग १, अध्याय १२: (She is Divine Dawn and the physical dawning is only her shadow and symbol in the material universe. P. 150).

पीछे एक चल रही हैं। विभिन्न-रूप होती हुई भी प्रीतियुक्त मनवाली, सुनिर्माणकर्त्री ये दोनों न एक-दूसरे की हिंसा करती हैं, न ही साथ-साथ स्थित होती हैं।

सूर्य

निम्न सूक्त में सूर्य के उदय, आकाश में आरोहण तथा अस्त होने का क्रमिक वर्णन दर्शनीय है—

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।।
भद्रा अश्वा हरितः सूर्यस्य चित्रा एतग्वा अनुमाद्यासः ।
नमस्यन्तो दिव आ पृष्ठमस्थुः परि द्यावापृथिवी यन्ति सद्यः ।।
तत् सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततं सं भजार ।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै ।।

ऋग् १.११५.१,३,४

"रश्मियों का पुंज यह विचित्र सूर्य उदित हुआ है, जो मित्र का, वरुण का, अग्नि का प्रकाशक है। इसने द्यावापृथिवी तथा अन्तरिक्ष को अपनी किरणों से परिपूर्ण कर दिया है। यह सूर्य जंगम और स्थावर का आत्मा है। सूर्य को वहन करने वाले घोड़े भद्र हैं, चितकबरे हैं, गतिशील हैं, स्तुति के पात्र हैं, नीचे झुक कर वे द्युलोक के पृष्ठ पर आसीन हो गये हैं, और शीघ्र ही द्यावापृथिवी की परिक्रमा कर रहे हैं। यही सूर्य का देवत्व तथा महत्त्व है कि क्रियमाण कर्मों के मध्य में ही उसने अपने फैले हुए रश्मिजाल को समेट लिया है। जब सूर्य ने इस लोक से जाने के लिए अपने घोड़े को नियुक्त कर लिया, तब रात्रि अपने तमोरूप वस्त्र को फैलाने लगी है।"

पर्जन्य

ऋग्वेद के पर्जन्यसूक्त में पर्जन्य की स्तुति कर उससे वृष्टि की प्रार्थना की गयी है। इसमें प्रत्यक्षकृत तथा परोक्षकृत उभयविध स्तुति है। परोक्ष स्तुति के मन्त्र निम्न हैं—

वि वृक्षान् हन्त्युत हन्ति रक्षसो विश्वं बिभाय भुवनं महावधात् ।
उतानागा ईषते वृष्ण्यावतो यत् पर्जन्यः स्तनयन् हन्ति दुष्कृतः ।।
रथीव कशयाश्वाँ अभिक्षिपन्नाविर्दूतान् कृणुते वर्ष्याँ अह ।
दूरात् सिंहस्य स्तनथा उदीरते यत् पर्जन्यः कृणुते वर्ष्यं नभः ।।
प्र वाता वान्ति पतयन्ति विद्युत उदोषधीर्जिहते पिन्वते स्वः ।
इरा विश्वस्मै भुवनाय जायते यत् पर्जन्यः पृथिवीं रेतसावति ।।

ऋग् ५.८३.२-४

"वृक्षों को तोड़ देता है, राक्षसों को मार देता है, महान् वध करने वाले इस पर्जन्य से सारा भुवन भयभीत हो जाता है। जब यह पर्जन्य गर्जता हुआ दुष्कर्माओं का संहार करता है, तब ओले बरसाने वाले इससे निरपराध व्यक्ति भी कांप उठता है। चाबुक से घोड़ों को हांकते हुए रथी के समान यह अपने वर्षासूचक मानसून पवन रूप दूतों को प्रकट करता है। जब यह पर्जन्य आकाश को वर्षोन्मुख करता है, तब दूर से ही सिंहस्वरूप इसकी गर्जनाएँ उठने लगती हैं। वायुएं चलती हैं, बिजलियां गिरती हैं, ओषधियां ऊर्ध्वगामी हो जाती हैं, आकाश सिंचाई करने लगता है, समस्त भुवन के लिए अन्न उपज जाता है, जब पर्जन्य जल से पृथिवी की रक्षा करता है।"

मण्डूक

वर्षाकाल में परिपूर्ण सरोवरों में टर-टर ध्वनि से अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए मण्डूकों की स्तुति ऋग्वेद में निम्न शब्दों में की गयी है, जिससे महाकवि बाल्मीकि तथा तुलसीदास भी प्रभावित हुए प्रतीत होते हैं। इस वर्णन में काव्य की छटा है, उपमा, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, अनुप्रास अलंकारों की मनोहारिता है।

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः ।
वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः ॥
दिव्या आपो अभि यदेनमायन् दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम् ।
गवामह न मायुर्वत्सिनीनां मण्डूकानां वग्नुरत्रा समेति ॥
यदीमेनाँ उशतो अभ्यवर्षीत् तृष्यावतः प्रावृष्यागतायाम् ।
अक्खलीकृत्या पितरं न पुत्रो अन्यो अन्यमुपवदन्तमेति ॥
गोमायरेको अजमायुरेकः पृश्निरेको हरित एक एषाम् ।
समानं नाम बिभ्रतो विरूपाः पुरुत्रा वाचं पिपिशुर्वदन्तः ॥

ऋग् ७.१०३.१-३,६

"मण्डूक जो वर्ष भर से सो रहे थे, मानो मौनव्रतधारी ब्राह्मण हों, अब पर्जन्य से तृप्त वाणी को बोलने लगे हैं। जो मण्डूक जलहीन सरसी में ऐसे सोये पड़े थे, मानों शुष्क चर्म हों, उन के प्रति जब आकाशीय जल बरसे, तब उनकी ध्वनि ऐसे उठने लगी, जैसे बछड़ों से युक्त गौओं की रंभा-ध्वनि उठती है। वर्षा ऋतु आने पर तृषार्त, अतएव वृष्टि की कामना करने वाले मण्डूकों के प्रति जब मेघ बरसा, तब हर्ष का शब्द कर जैसे पुत्र पिता के समीप पहुँचता है, वैसे ही 'अक्खा' शब्द के साथ एक मण्डूक बोलते हुए दूसरे के समीप जा पहुँचा। इनमें एक गौ के समान ध्वनि वाला है, दूसरा बकरे के समान ध्वनि वाला

है, एक चितकबरा है, दूसरा हरा है। समान नाम को धारण करने वाले, किन्तु विभिन्न रूपों वाले बोलते हुए ये बहुत प्रकार की वाणी व्यक्त कर रहे हैं[16]।"

अरण्य

ऋग्वेद १०.१४६ में कोई नागरिक एक वनवासिनी से प्रश्न करता है कि हे वनदेवी, तुम अरण्यों में क्यों छिपी रहती हो, नगर की पूछ क्यों नहीं करती, अरण्य में क्या तुम्हें भय नहीं लगता ? उत्तर में वह अरण्य की स्तुति करती हुई कहती है—

वृषारवाय वदते यदुपावति चिच्चिकः।
आघाटीमिरिव धावयन्नरण्यानिर्महीयते ॥
उत गाव इवादन्ति उत वेश्मेव दृश्यते ।
उतो अरण्यानिः सायं शकटीरिव सर्जति ॥
गामङ्गैष आ ह्वयति दार्वङ्गैषो अपावधीत् ।
वसन्नरण्यान्यां सायमक्रुक्षदिति मन्यते ॥
न वा अरण्यानिर्हन्ति अन्यश्चेन्नाभिगच्छति ।
स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय यथाकामं नि पद्यते ॥
आंजनगन्धिं सुरभिं बह्वन्नामकृषीवलाम् ।
प्राहं मृगाणां मातरमरण्यानिमशंसिषम् । ऋग् १०. १४६. २–६

"जब बोलते हुए वृषारव के पास चिच्चिक आ बैठता[17] है, तथा उसके स्वर में स्वर मिलाने लगता है, तब अरण्य ऐसी शोभा पाता है, मानों वीणाओं से सप्त स्वरों को शोधित कर रहा हो। यहां गौएँ सी चरती दिखाई देती हैं और लताकुंज घर जैसे दिखाई देते हैं। सायंकाल अरण्य

---

१६. स्वनैर्घनानां प्लवगाः प्रबुद्धा विहाय निद्रां चिरसंनिरुद्धाम् ।
अनेकरूपाकृतिवर्णनादा नवाम्बुधाराभिहता वदन्ति ॥

रामायण, किष्किन्धा० २८, ३८

दादुर धुनि चहुँ दिशा सुहाई, वेद पढ़हिं जनु बटु समुदाई । तुलसी

१७. वृषारव झिल्ली जन्तु है जिसका शब्द कुछ तीव्र होता है, जैसा कि नाम से स्पष्ट है। चिच्चिक चीं-ची ध्वनि करने वाला झींगुर है।

मानों शकटियों की सृष्टि कर रहा होता है[१८]। देखो, यह गौ को पुकार रहा है, यह लकड़ी काट रहा है। पर सायंकाल यहाँ वास करे तो उसके मन में यह विचार आने लगता है कि यह व्याघ्र बोला, यह चीता बोला। किन्तु यदि अन्य ही कोई आक्रमण न कर बैठे तो अरण्य तो स्वयं किसी को मारता नहीं, प्रत्युत वहाँ तो मनुष्य स्वादु फल खा कर इच्छानुसार विश्राम करता है। अतः मैं तो अंजन पुष्पों की गन्ध से युक्त, सुरभित, कृषकों के बिना ही प्रचुर अन्न से पूर्ण, मृगों की माता अरण्य की स्तुति ही करती हूँ।"

निदर्शन रूप में इन प्रत्यक्षकृत तथा परोक्षकृत स्तुतियों को देखने के अनन्तर अब हम प्रार्थनात्मक शैली पर आते हैं।

२. प्रार्थनात्मक शैली

वेदों में देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, नदी-सागर, ओषधी-वनस्पति आदि को सम्बोधन कर उनसे सुख, सम्पत्ति, सद्गुण, आरोग्य, दीर्घायुष्य, अमरत्व, वीरता, विजय आदि की प्रार्थनाएँ की गई हैं। इस प्रकार के सब प्रसंग प्रार्थनात्मक शैली के अन्तर्गत होते हैं। प्रार्थनात्मक शैली को याञ्चात्मक या याचनात्मक शैली भी कहा जा सकता है। इस शैली के कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं।

इन्द्र

इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे।
पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम्॥
ऋग् २. २१. ६

हे इन्द्र, तुम हमें श्रेष्ठ सम्पत्तियाँ दो, बल की चेतना दो, सौभाग्य दो, ऐश्वर्यों की पुष्टि दो, शरीरों का आरोग्य दो, वाणी का माधुर्य दो, दिनों की स्वर्णिमता दो।

इन्द्र क्रतुं न आभर पिता पुत्रेभ्यो यथा।
शिक्षाणो अस्मिन् पुरुहूत यामनि।
जीवा ज्योतिरशीमहि॥ ऋग् ७. ३२. २६

हे इन्द्र, तुम हमें कर्म और प्रज्ञा[१९] प्रदान करो, जैसे पिता पुत्र को प्रदान

---

१८. दिन भर लकड़ियाँ काट सायं गाड़ियों में भर वे गाड़ियाँ सायं अरण्य से नगर की ओर लायी जाती हैं। पंक्तिबद्ध अरण्य से आती हुई गाड़ियों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है, मानों अरण्य गाड़ियों की सृष्टि कर रहा हो।

१९. क्रतु=कर्म, प्रज्ञा। नि० २. १; ३. ९

करता है। हे पुरुहूत, जीवन-पथ में तुम हमें शिक्षा दो, जिससे जीवित-जागृत रहते हुए हम ज्योति को प्राप्त करें।

अग्नि

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्॥ यजु १८. ४८

हे अग्नि, हमारे ब्राह्मणों में तेजस्विता निहित करो, हमारे क्षत्रियों में तेजस्विता निहित करो, हमारे वैश्यों में तथा शूद्रों में तेजस्विता निहित करो, मेरे अन्दर तेजस्विता निहित करो।

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा॥ यजु ३२. १४

हे अग्नि, जिस मेधा की देवजन तथा पितृजन उपासना करते हैं, उस मेधा से तुम मुझे मेधावी बनाओ। एतदर्थ मैं तुम्हें हवि देता हूं।

सोम

शं नो भव हृद आ पीत इन्द्रो पितेव सोम सूनवे सुशेवः।
सखेव सख्य उरुशंस धीरः प्र ण आयुर्जीवसे सोम तारी॥ ऋग् ८. ४८. ४

हे सोम, पान किये हुए तुम हमारे हृदय के लिए शान्तिकारी होवो, हमारे लिए ऐसे ही सुखजनक होवो, जैसे पिता पुत्र के लिए तथा सखा सखा के लिए होता है। दीर्घ जीवन के लिए तुम हमारी आयु को बढ़ाओ।

अजीतयेऽहतये पवस्व स्वस्तये सर्वतातये बृहते।
तदुशन्ति विश्व इमे सखायस्तदहं वश्मि पवमान सोम॥ ऋग् ९. ९६. ४

हे सोम, तुम अपराजय के लिए, अविनाश के लिए बहो, सर्वविध विपुल स्वस्ति के लिए बहो। यही सब सखाओं की अभिलाषा है, यही मेरी भी अभिलाषा है।

वरुण

वि मच्छ्रथाय रशनामिवाग ऋध्याम ते वरुण खामृतस्य।
मा तन्तुश्छेदि वयतो धियं मे मा मात्रा शार्यपस : पुर ऋतो :॥
ऋग् २. २८. ५

हे वरुण, रज्जु के समान जिस पाप से मैं बद्ध हूं उसे मुझ से शिथिल कर दो। हम तुम्हारी ऋत की नदी को प्राप्त करें। विचार का पट बुनते हुए मेरा तार छिन्न न हो, कर्म का परिमाण समय से पूर्व विशीर्ण न हो।

बद्धो दं राजन् वरुणानृतमाह पूरुषः।
तस्मात् सहस्रवीर्यं मुञ्च न पर्यंहसः॥ अथर्व १९. ४४. ८.

हे राजन् वरुण, पुरुष बहुत अधिक अनृत भाषण किया करता है, उस पाप से हे सहस्रवीर्य, तुम हमें मुक्त रखो।

सूर्य

शं नो भव चक्षसा शं नो अह्ना शं भानुना शं हिमा शं घृणेन।
यथा शमध्वञ्छमसद् दुरोणे तत् सूर्य द्रविणं धेहि चित्रम्॥

ऋग् १०.३७.१०

हे सूर्य, अपने प्रकाश से हमारे लिए मंगलमय हो, अपने दिवस से हमारे लिए मंगलमय हो, अपने तेज से मंगलमय हो, शीत ऋतु तथा ग्रीष्म ऋतु से मंगलमय हो। हमें वह अद्भुत ऐश्वर्य प्रदान कर जिस से मार्ग में, घर में, सर्वत्र हमें मंगल प्राप्त हो।

उदिह्युदिहि सूर्य वर्चसा माभ्युदिहि।
द्विषश्च मह्यं रध्यतु मा चाहं द्विषते रधं
तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि॥
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः
सुधायां मा धेहि परमे व्योमन्॥ अथर्व १७.१.६

उदित हो, उदित हो, हे सूर्य अपने वर्चस् के साथ मेरे प्रति उदित हो। शत्रु मेरे वशवर्ती हो जायें, मैं शत्रु के वशवर्ती न होऊँ। हे विष्णु, तेरे बहुविध पराक्रम हैं, तू विश्वरूप किरणों से हमारा पालन कर, मुझे सुधा के मध्य निहित कर, परम व्योम में निहित कर।

सविता

अचित्ती यच्चकृमा दैव्ये जने दीनैर्दक्षैः प्रभूती पूरुषत्वता।
देवेषु च सवितर्मानुषेषु च त्वं नो अत्र सुवतादनागसः॥

ऋग् ४.५४.३

अज्ञानवश, दुर्बलतावश, ऐश्वर्य के मद में आकर या पौरुष के अभिमान में हमने जो देवों के प्रति अथवा मनुष्यों के प्रति अपराध किया है, उस से हे सवितः, तुम हमें निष्पाप करो।

या मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टाभिचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम्।
अन्यत्रास्मत् सवितस्तामितो धा हिरण्यहस्तो वसु नो रराणः॥

अथर्व ७.११५.२

जो पतन की ओर ले जाने वाली अप्रिय लक्ष्मी मुझ से ऐसे चिपट गयी है, जैसे लता वृक्ष से। उसे हे सवितः, हमारे पास से अन्यत्र कर दो, हिरण्य-हस्त होकर तुम हमें शुभ लक्ष्मी प्रदान करो।

द्यावापृथिवी

उदायुरुद् बलभुत् कृतभुत् कृत्यामुन्मनीषामुदिन्द्रियम् ।
आयुष्कृदायुष्पत्नी स्वधावन्तौ गोपा मे स्तं गोपायतं मा
आत्मसदौ मे स्तं मा हिंसिष्टम् ॥ अथर्व ५.६.८

हे द्यावापृथिवी, मेरी आयु को बढ़ाओ, बल को बढ़ाओ, कृत को बढ़ाओ, कृत्य को बढ़ाओ, मनीषा को बढ़ाओ, इन्द्रियों की शक्ति को बढ़ाओ । तुम आयु देने वाले तथा आयु के रक्षक हो, अन्नादि के भंडार हो, मेरे रक्षक होवो, मेरे अन्दर आत्म बल को स्थापित करो, मेरी हिंसा मत करो ।

प्राणापान

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम् ।
व्यन्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितरान् छतम् ॥
इहैव स्तं प्राणापानौ माप गातमितो युवम् ।
शरीरमस्याङ्गानि जरसे वहतं पुनः ॥ अथर्व ३.११.५,६

हे प्राणापानो, तुम शरीर में प्रवेश करो, जैसे बैलों की जोड़ी व्रज में प्रवेश करती हैं । तुम्हारे द्वारा मृत्युएं, जिन्हें सैकड़ों प्रकार की कहते हैं, दूर हो जायें । तुम यहीं रहो, यहाँ से बाहर मत जाओ । इस मनुष्य के शरीर को तथा अंगों को पूर्ण आयु तक ले चलो ।

दुन्दुभि

उप श्वासय पृथिवीमुत द्यां पुरुत्रा ते मनुतां विष्ठितं जगत् ।
स दुन्दुभे सजूरिन्द्रेण देवै र्दूराद् दवीयो अपसेध शत्रून् ॥
आ क्रन्दय बलमोजो न आ धा निःष्टनिहि दुरिता बाधमानः ।
अप प्रोथ दुन्दुभे दुच्छुना इत इन्द्रस्य मुष्टिरसि वीडयस्व ॥
ऋग् ६.४७.२९,३०

हे दुन्दुभि, धरा और गगन को गुंजा दे, चारों ओर विविध रूप में स्थित सब जगत् तेरा सिक्का माने । इन्द्र तथा देवों के साथ मिलकर शत्रुओं को दूर से दूर पलायन करा दे । उन्हें आक्रन्दन करा, हमारे अन्दर बल तथा ओज धृत कर, उच्च शब्द कर, दुष्ट वैरियों को बाधित कर। हमारे पास से दुर्गति का निस्सारण कर दे । तू इन्द्र की मुष्टि है, पराक्रम दिखा ।

इन मन्त्रों में धन, बल, सौभाग्य, पुष्टि, आरोग्य, माधुर्य, कर्म, प्रज्ञा, तेजस्विता, मेधा, सुख-शान्ति, स्वस्ति, पापमुक्ति, ऋत, मंगल, वर्चस् आदि की उज्वल प्रार्थनाएँ की गई हैं । इन से वेद की दृष्टि में कौन सी वस्तुएँ

मनुष्य के लिए स्पृहणीय हैं, इस पर भी प्रकाश पड़ता है। वेद की उत्कृष्ट प्रार्थनाओं का संग्रह बहुत बड़ा हो सकता है, परन्तु विस्तार के भय से यहाँ कुछ ही प्रार्थनाएँ दी गयी हैं।

३. आशंसात्मक शैली

स्तुत्यात्मक तथा प्रार्थनात्मक शैलियों के विवेचन के उपरान्त अब आशंसात्मक शैली को लेते हैं। इसमें मनुष्य अपनी आकांक्षा व्यक्त करता है कि मैं ऐसा बनूँ, मुझे अमुक-अमुक वस्तुएँ या सद्गुण प्राप्त हों, आदि। ये आशंसाएं मुख्यतः तीन प्रकार की होती हैं। प्रथम प्रकार में किसी देवता आदि को सम्बोधन कर आकांक्षा व्यक्त की जाती है, यथा—'वयं ते अग्ने समिधा विधेम (ऋग् ७. १४. २)'। द्वितीय प्रकार में देवता आदि को सम्बोधन नहीं किया जाता, किन्तु उस का नामोल्लेख करते हुए यह कहा जाता है कि वह हमें अमुक लाभ पहुँचाये, यथा—'यशसं मेन्द्रो मघवान् कृणोतु (अथर्व ६.५८.१)'। तृतीय प्रकार में देवता आदि के उल्लेख के विना ही सामान्यतः कोई आंकाक्षा प्रकट की जाती है, यथा—'मूर्धाहं रयीणां मूर्धा समानानां भूयासम् (अथर्व १६.३.१)। प्रार्थनात्मक शैली से इसमें भेद यह है कि प्रार्थनात्मक शैली में याचना होती है, किन्तु इस में इच्छा मात्र प्रदर्शित की जाती है। निम्न उदाहरणों से इस शैली का स्वरूप अधिक स्पष्ट हो सकेगा।

ऋग्वेद

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः।
देवा नो यथा सदमिद् वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवे दिवे॥

ऋग् १.८९.१

"भद्र संकल्प ही सब ओर से हमारे अन्दर आये, जो संकल्पों से दबे-घिरे न हों, तथा बाधाओं का उद्भेदन करने वाले हों, जिससे देव सदा ही हमारी उन्नति करें तथा विना प्रमाद के दिन-प्रतिदिन हमारी रक्षा में प्रवृत्त रहें।"

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥ ऋग् १. ८९. ८

"हे देवो, कानों से हम भद्र का ही श्रवण करें। हे पूज्यो, नेत्रों से हम भद्र का ही दर्शन करें। दृढ़ अंगों से तथा शरीरों से स्तुति-पूजन करते हुए हम देवों द्वारा स्थापित पूर्ण आयु को प्राप्त करें।

धन्वना गा धन्वनाजिं जयेम धन्वना तीव्राः समदो जयेम।
धनुः शत्रोरपकामं कृणोति धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम॥ ऋग् ६.७५.२

धनुष से हम गौओं या भूमियों को जीत लेवें, धनुष से संग्राम को जीत लेवें, धनुष से तीव्र मदोन्मत्त शत्रुओं को जीत लेवें। धनुष शत्रु के मनोरथ को विफल कर देता है। धनुष से हम सब दिशाओं को जीत लेवें।

शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु।
शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः॥ ऋग् ७.३५.८

बहुप्रकाशक सूर्य हमें सुख-शान्ति देता हुआ उदित हो, चारों प्रदिशाएं हमारे लिए सुख-शांतिकर हों। अचल पर्वत हमें सुख-शान्ति दे, समुद्र सुख शान्ति दें, नदियां सुख-शान्ति दें।

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम्।
उतोदिता मघवन् सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम॥ ऋग् ७. ४१. ४

इस समय प्रातः हम सौभाग्यशाली हों, पूर्वाह्न में सौभाग्यशाली हों, मध्याह्न में सौभाग्यशाली हों, और हे मघवन्, सूर्यास्त[२०] के समय भी हम सौभाग्यशाली हों तथा देवों की सुमति में रहें।

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम्।
वयं राजभिः प्रथमा धनान्यस्माकेन वृजनेना जयेम॥ ऋग् १०.४२.१०

हम गौओं के दुग्ध, घृतादि से कुमार्ग पर ले जाने वाली अमति को पार कर लेवें, और हे पुरुहूत इन्द्र, यवादि धान्यों से समस्त क्षुधा को पार कर लेवें। हम राजाओं की सहायता से तथा अपने बल से श्रेष्ठ धनों को जीत लेवें।

यजुर्वेद

प्राणश्च मेऽपानश्च मे व्यानश्च मेऽसुश्च मे
चित्तं च म आधीतं च मे वाक् च मे मनश्च मे
चक्षुश्च मे श्रोत्रं च मे दक्षश्च मे बलं च मे
यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ ऋग् १८. २

मेरे प्राण, अपान, व्यान, असु, चित्त, विचार, वाणी, मन, चक्षु, श्रोत्र, चातुर्य, बल सब यज्ञ द्वारा सामर्थ्य को प्राप्त करें।

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायता-
मा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां
दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः
सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां

---

२०. उदिता सूर्यस्य। "उदिता उदितौ उदये सति"—सायण।
at sunset : Griffith.

निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां
योगक्षेमो नः कल्पताम् ।। यजु २२. २२

हे ब्रह्मन्, हमारे राष्ट्र में ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मण हों, शूर, धनुर्विद्या में कुशल, नीरोग, महारथी, क्षत्रिय हों; दुधार गौएं हों; भारवाही बैल हों; वेगवान् घोड़े हों, गृहकार्यकुशल नारियां हों; विजयशील रथारोही हों; इस यजमान का सभ्य, युवा, वीर पुत्र हो। इच्छानुसार पर्जन्य बरसे, ओषधियां फलवती होकर पकें, सर्वविध, योगक्षेम हमें प्राप्त हो।

इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम् ।
मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमां तस्यै ते स्वाहा ।।यजु३२.१६

यह मेरा ब्राह्मबल और क्षात्रबल शोभा को प्राप्त करे। मेरे अन्दर देव उत्तम श्री को निहित करें। हे श्री, तेरा स्वागत[२१] है।

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं
बृहस्पतिर्मे तद् दधातु । शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ।। यजु ३६. २

जो मेरे नेत्र, हृदय या मन का बहुत बड़ा छिद्र है, उसे बृहस्पति भर देवें। जो भुवन का अधिपति है, वह हमारे लिए सुखकर हो।

सामवेद

यशो मा द्यावापृथिवी यशो मेन्द्रबृहस्पती ।
यशो भगस्य विन्दतु यशो मा प्रतिमुच्यताम् ।
यशसा ३ स्याः संसदो हं प्रवदिता स्याम् ।। साम. पू. ६. ३. १०

द्यावापृथिवी मुझे यश प्राप्त करायें, इन्द्र और बृहस्पति मुझे यश प्राप्त करायें, मुझे सौभाग्यशालिता का यश प्राप्त हो, यह मुझ से छूटे नहीं। मैं इस संसद् का यशस्वी वक्ता बनूं।

अथर्ववेद

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः ।
विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम् ।। अथर्व १. ३१. ४

हमारी माता को और हमारे पिता को स्वस्ति प्राप्त हो, हमारी गौओं को स्वस्ति प्राप्त हो, पुरुषों को और सब जगत् को स्वस्ति प्राप्त हो। समस्त उत्तम ऐश्वर्य एवं उत्तम ज्ञान हमें प्राप्त हो, चिरकाल तक हम सूर्य का दर्शन करते रहें।

---

२१. स्वाहा की निरुक्ति के लिए द्रष्टव्यः निरु. ८.२०। अथर्व ८. ८. २४ में स्वाहा का विरोधी दुराहा शब्द भी पठित है तथा वहां कहा गया है कि हमें स्वाहा प्राप्त हो और शत्रुओं को दुराहा।

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम् ।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसदृशः ॥ अथर्व १. ३४. ३

मेरा बाहर निकलना मधुमय हो, लौटकर आना मधुमय हो। मैं वाणी से मधुर भाषण करूं, मैं मधु सदृश हो जाऊं।

मह्यं यजन्तां मम यानीष्टाकूतिः सत्या मनसो मे अस्तु ।
एनो मा निगां कतमच्चनाहं विश्वेदेवा अभिरक्षन्तु मेह ॥ अथर्व ५.३.४

मेरी जो अभीष्ट वस्तुएं हैं, वे मुझे प्राप्त हो जायें, मेरे मन का संकल्प सत्य होकर रहे। मैं किसी भी पाप को प्राप्त न करूं। सब देव मेरी रक्षा में तत्पर हो जायें।

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया ।
पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा ॥ अथर्व ६. १९. १

देवजन मुझे पवित्र करें, मनस्वी-जन अपने विचारों से मुझे पवित्र करें, सब भूत मुझे पवित्र करें, पवित्रकर्ता सोम प्रभु मुझे पवित्र करें।

सिंहे व्याघ्र उत या पृदाकौ त्विषिरग्नौ ब्राह्मणे सूर्ये या ।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥ अथर्व ६.३८.१

जो तेजस्विता सिंह में है, व्याघ्र में है, सर्प में है, अग्नि में है, ब्राह्मण में है और जिस दिव्य सुभग तेजस्विता ने इन्द्र को इन्द्र बनाया है, वह वर्चस् से युक्त तेजस्विता हमें प्राप्त हो।

अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम ।
ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथो अनृणा आक्षियेम ॥
अथर्व ६. ११७. ३

इस कुमारावस्था में हम किसी के ऋणी न रहें, द्वितीय युवावस्था में किसी के ऋणी न रहें, तृतीय वृद्धावस्था में किसी के ऋणी न रहें। जो देवयान एवं पितृयाण लोक हैं, उनके मार्गों पर हम ऋण से मुक्त होकर चलें।

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे ।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु ॥ अथर्व १९.१५.५

"अन्तरिक्ष हमें अभय प्राप्त कराये, ये दोनों द्यावापृथिवी अभय प्राप्त करायें। पश्चिम में हमें अभय प्राप्त हो, पूर्व में अभय प्राप्त हो, उत्तर-दक्षिण में भी अभय प्राप्त हो।"

आशंसात्मक शैली के ये कुछ मन्त्र वेदों से चुन कर यहां प्रस्तुत किये गये हैं। इनमें विजय, सुख-शान्ति, सौभाग्य, सुमति, इन्द्रिय-सामर्थ्य, राष्ट्रीय योग-क्षेम, छिद्रपूर्ति, निष्पापता, पवित्रता, तेजस्विता, ऋणमोचन, अभय आदि

की कामना की गयी है। ये ही कामनायें यदि किसी से याचना रूप में की जातीं तो इनमें प्रार्थनात्मक शैली होती। किन्तु यहां याचना न होकर आशंसा-त्मक शैली में परिगणन होता है। प्रार्थनात्मक तथा आशंसात्मक दोनों शैलियों में अभिप्राय यही रहता है कि हमें अमुक-अमुक वस्तुओं की प्राप्ति हो, अतएव कुछ लोग दोनों को प्रार्थना या आशीः शब्द से अभिहित करते हैं[२२]।

वैदिक स्तुति-प्रार्थना-आशंसाओं पर एक दृष्टि

जो स्तुतियां, प्रार्थनाएं एवं आशंसाएं ऊपर उद्धृत की गयी हैं, तथा इन से इतर जो वेदों में पायी जाती हैं, उनसे कुछ वातें सामने आती हैं। स्तुतियां कई प्रकार की मिलती हैं। कुछ स्तुतियां इन्द्र, वरुण आदि देवों की हैं, कुछ मनुष्यों की हैं, यथा राजाओं की दानस्तुतियां[२३], कुछ गौ, वृषभ, मण्डूक, कपिञ्जल आदि पशु-पक्षिओं की हैं, कुछ वात, पर्जन्य, सूर्य, चन्द्रादि प्राकृतिक शक्तियों की हैं, कुछ रोहणी, पृश्निपर्णी आदि ओषधियों की, तथा कुछ रथ, दुन्दुभि, धनुष, ज्या, इषु, उलूखल-मुसल आदि की। इसी प्रकार प्रार्थनाएं भी देव, मनुष्य, ओषधी-वनस्पति एवं रथ, लाक्षा, अंजन, सिंहासन, इष्टका आदि सबसे की गयी हैं। हमने जो ऊपर स्तुति, प्रार्थना एवं आशंसाओं के उदाहरण दिये हैं वे अत्यल्प हैं, वेदों में वहुत विस्तार से विविध विषयों पर स्तुति आदि मिलती है।

मैक्समूलर का हीनोथीज्म

इन्द्र, वरुण आदि देवों की स्तुति में द्यावापृथिवी को उत्पन्न करना आदि कुछ वातें ऐसी हैं, जो प्रायः सभी देवों के लिए कही गयी हैं। इससे मैक्समूलर ने एक हीनोथीज्म नामक वाद की कल्पना की है, जिसका अभिप्राय यह है कि वैदिक ऋषि जिस देवता की स्तुति करने लगते थे, उसी को सब से वड़ा कह देते थे, कोई एक सब से ज्येष्ठ देव है ऐसा वे नहीं समझते थे। ऐसा कथन करते हुए मैक्समूलर वैदिक धर्म को अनेक-देवतावाद तथा एक देवता-

---

२२. द्रष्टव्यः इस अध्याय के प्रारम्भ में यास्क एवं स्वामी दयानन्द का मत। किन्तु वहीं उद्धृत शौनक के मतानुसार आशंसात्मक शैली याचना या प्रार्थना की शैली से भिन्न है।

२३. ऋग्वेद में कई राजाओं की दानस्तुतियां मिलती हैं, जिनका उल्लेख प्रथम अध्याय में किया जा चुका है (पृ० ८, ९)। स्तुतियों के प्रसंग में विस्तारभय से हमने इन दानस्तुतियों को नहीं लिया है।

वाद दोनों से भिन्न प्रकार का बताते हैं[२४]। वस्तुतः देवों की स्तुति में दो प्रकार के अंश रहते हैं, एक वह अंश जो सब देवों में समान है, दूसरा उस देव का अपना विशेष अंश। वेदों में ही ऐसे अनेक स्थल हैं, जिनमें यह कहा है कि सब देव एक ही सत्ता के नामान्तर[२५] हैं। सब देवों की कुछ अंश में समान स्तुति भी हीनोथीज्म की नहीं, किन्तु इस अनेकों में एक देवता के वाद की ही पुष्टि करती[२६] है। देवों की स्तुति में प्रत्येक देव का जो दूसरा अपना स्वतन्त्र अंश है, उससे इस पर प्रकाश पड़ता है कि क्यों उस देव को पृथक् रखा गया। जैसे विष्णु में सर्वव्यापकता का गुण एवं वरुण में अनृताचरण करने वाले को पाशों से बांधने का गुण विशेष हैं, एवं विष्णु और वरुण जब उस एक ज्येष्ठ देव के ही नामान्तर होते हैं, तब उसकी इन विशेषताओं को सूचित करते हैं। वेदों की शैली क्योंकि अध्यात्म, अधिदैवत, अधियज्ञ आदि विभिन्न क्षेत्रों में अर्थ देने की है, अतः इन अनेक नामों से एक देव के विभिन्न गुण भी सूचित हो जाते हैं, साथ ही ये प्रकृति, शरीर, राष्ट्र आदि में इतर अर्थों के वाचक भी हो जाते हैं। एवं 'एका क्रिया द्व्यर्थंकरी प्रसिद्धा' का न्याय चरितार्थ होता है।

जड़ पदार्थों की स्तुति : विविध वाद

जड़ पदार्थों से संबद्ध जो स्तुति–प्रार्थनाएं मिलती हैं, उनके विषय में चार वाद उल्लेखनीय हैं।

---

२४. द्रष्टव्यः मैक्समूलरः इंडिया ह्वाट कैन इट टीच अस. ऑक्सफोर्ड १८९६, पृ. १४७, १६३।

२५. ऋग् १. १६४. ४६; २. १. ३,७; १०. ८२. ३; १०. ११४.५; यजु ३२. १; अथर्व १३.४

२६. मैक्समूलर ने अपने बाद के ग्रन्थ ' दि सिक्स सिस्टम्स आफ फिलासफी' में स्वयं इस तथ्य को स्वीकार किया है। अन्य अनेक विद्वान् भी वेद में एक-देवतावाद के विचार का समर्थन करते हैं।
Charles Coleman : Mythology of the Hindus. Schlegel : Wisdom of the Ancient Indians. W. D. Brown : Superiority of the Vedic Religion. Shri Aurobind : Dayanand and the Veda Dwija Das Dutta : Rigveda Unveiled.
इनके उद्धरणों के लिए द्रष्टव्यः वेदों का यथार्थस्वरूपः धर्मदेव विद्या-वाचस्पति, पृ. १७६-१९२। डा० मंगलदेव भी वेदोक्त अनेक देवताओं में एकत्व का दर्शन करते हैं, द्रष्टव्यः भारतीय संस्कृति का विकास, वैदिक धारा, १९६४, पृ० १०८, १९५, २४४, ३९१।

अभिमानि-देवतावाद–प्रथम अभिमानि-देवतावाद है, जिसका सायण ने अपने ऋग्वेद-भाष्य के उपोद्घात में वेदान्तसूत्र 'अभिमानिव्यपदेशस्तु' २.१.५ उद्धृत करते हुए पोषण किया है। शंका उठाई गई है कि वेद में दर्भ, क्षुर, पाषाणादि अचेतनों से चेतनवत् सम्बोधन मिलता है, अतः वेद अप्रामाणिक हैं। उत्तर दिया है कि दर्भ, क्षुरादि से उन्हीं को सम्बोधन किया जाता है[२७]।

प्रकृतिपूजावाद–द्वितीय प्रकृतिपूजावाद है, जिसका अभिप्राय यह है कि अग्नि, वायु आदि देवता प्राकृतिक वह्नि, पवन आदि ही हैं, तथा वैदिक ऋषि इन प्राकृतिक पदार्थों को देवता समझ कर पूजते थे। विश्व की नियामक कोई चेतन शक्ति है, इससे वे अनभिज्ञ थे, इस की कल्पना उनके मस्तिष्क में बहुत उत्तर काल में आयी, जिसका केवल कुछ परवर्ती मन्त्रों में उल्लेख है। इस मत के उद्भावक मैक्समूलर आदि पाश्चात्य विद्वान् हैं, जिसका खण्डन स्वामी दयानन्द ने अपनी ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका के वेदविषयविचार-प्रकरण में किया है।

व्यत्ययवाद–तृतीय स्वामी दयानन्द का व्यत्ययवाद है। जहां भी वेद में जड़ पदार्थ को सम्बोधन किया गया है, वहां स्वामी दयानन्द ने उसे व्यत्यय मान कर अर्थ करते हुए पुरुष परिवर्तित कर दिया है। यथा 'आपः पुनीत भेषजम्' को वे 'आपः पृणन्ति भेषजम्' में परिवर्तित कर लेते हैं[२८]। यहां तक कि जब अग्नि आदि देवतापदों का अर्थ परमात्मा करते हैं, तब व्यत्यय नहीं मानते, पर जब भौतिक अग्नि आदि अर्थ लेते हैं, तब व्यत्यय स्वीकार करते हैं। वैदिक भाषा के इस नियम की ओर उन्होंने अपनी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में भी 'वैदिक शब्दों के विशेष नियम'[२९] प्रकरण में ध्यान आकृष्ट किया है।

---

२७. शंका–'ओषधे त्रायस्वैनम्' इति मन्त्रो दर्भविषयः, 'स्वधितेमैनं हिंसीः' इति क्षुरविषयः, शृणोत ग्रावाणः इति पाषाणविषयः। एतेष्वचेतनानां दर्भक्षुरपाषाणानां चेतनवत् सम्बोधनं श्रूयते। ततो द्वौ चन्द्रमसाविति वाक्यवद् विपरीतार्थबोधकत्वादप्रामाण्यम्।
उत्तर-ओषध्यादिमन्त्रेष्वपि चेतना एव तदभिमानिदेवतास्तेन तेन नाम्ना सम्बोध्यन्ते। ताश्च देवता भगवता बादरायणेन 'अभिमानिव्यपदेशस्तु' इति सूत्रे सूत्रिताः। सायण, ऋग्वेद भाष्य का उपोद्घात।

२८. द्रष्टव्यः ऋग् १.२३.२१ का स्वामिभाष्य।

२९. व्याकरणरीत्या प्रथममध्यमोत्तमपुरुषाः क्रमेण भवन्ति, तत्र जड़पदार्थेषु प्रथमपुरुष एव, चेतनेषु मध्यमोत्तमो च। अयं लौकिकवैदिकशब्दयोः सार्वत्रिको नियमः। परन्तु वैदिकव्यवहारे जडेऽपि प्रत्यक्षे मध्यमपुरुषयोगाः

आरोपवाद–चतुर्थ वाद आलंकारिकों का है, यह है आरोपवाद अर्थात् जहां जड़ पदार्थ में सम्बोधन होता है वहां जड़ में चेतनत्व का आरोप करके वैसा प्रयोग किया जाता है। ऐसे प्रयोग हम लोक में भी करते हैं। इस प्रकार जब हम रथ को सम्बोधन कर कहते हैं 'वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूयाः– हे रथ तू दृढांग हो', तब हमारा अभिप्राय यही होता है कि हम रथ को दृढांग बनायें, क्योंकि रथ चेतन तो है नहीं, जो हमारी प्रार्थना का श्रवण कर स्वयं दृढांग हो जायेगा। आरोप द्वारा कथन में काव्य-सौन्दर्य का स्वारस्य होता है।

वैदिक उदात्त भावनाएं

वैदिक प्रार्थनाओं तथा आशंसाओं को देखने से ज्ञात होता है कि इनमें बड़ी उदात्त भावनाएं विद्यमान हैं। इनमें भौतिकता एवं आध्यात्मिकता, इहलोक एवं परलोक, धर्म-अर्थ-काम एवं मोक्ष का समन्वय पाया जाता है। देह और जगत् को तुच्छ समझकर इससे दूर भागने का भाव वेदों में नहीं है, वेद की दृष्टि में तो यह संसार बहुत प्यारा है—'अयं लोकः प्रियतमः[३०]।' इसे साधन रूप में ग्रहण कर उन्नति के लिए सदा प्रयत्नशील रहना ही जीवन का ध्येय है। निष्पापत्व, पवित्रता, तेज, यज्ञ, मेधा, निर्भयता, विजय, यह मनुष्य की ऊर्ध्वयात्रा के पाथेय एवं निधि हैं[३१]। अतः इनकी प्रार्थना बार-बार आती है। धन एवं लक्ष्मी की याचना भी पुनः पुनः की गयी है परन्तु वेद इसके लिए सतर्क है कि वह लक्ष्मी पाप की लक्ष्मी नहीं होनी चाहिए[३२]। वेद की अनेक प्रार्थनाएं मनुष्य-जीवन का संबल हैं। ऊपर उद्धृत यजुर्वेद की 'आ ब्रह्मन्' आदि राष्ट्रीय प्रार्थना या आशंसा किसी भी देश का राष्ट्रगीत बनने योग्य है।

वेद की स्तुत्यात्मक एवं प्रार्थना तथा आशंसा की शैलियों का विचार अन्य शैलियों के विचार के समान ही पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हैं। वेद में जिन बातों की स्तुति है एवं जिन सद्गुण आदि की प्रार्थना है उनकी प्राप्ति का

सन्ति। तत्रेदं बोध्यं जडानां पदार्थानामुपकारार्थं प्रत्यक्षकरणमात्रमेव प्रयोजनमिति। —ऋ. भा. भू.

३०. अथर्व ५.३०.१७

३१. वैदिक उदात्त भावनाओं के परिचय के लिए द्रष्टव्यः लेखक की 'वैदिक सूक्तियां', प्रकाशन-मन्दिर, गुरुकुल कांगड़ी।

३२. प्र पतेतः पापि लक्ष्मि, अथर्व ७.११५.१।

मनुष्य प्रयत्न करे, यह विधि इनसे सूचित होती है। यह हम पूर्व देख चुके हैं कि वेद स्मृतिशास्त्रों के समान स्पष्ट रूप से विधि या आदेश कम देते हैं, अन्य शैलियों में कथित वृत्त से विधियों की कल्पना की जाती है। तदर्थ शैली का सूक्ष्म निरीक्षण आवश्यक है।

संकेत-सूची

अथर्व	अथर्ववेद
अ. भा.	अथर्ववेद-भाष्य
अमर.	अमरकोश
आश्व. गृ.	आश्वलायन गृह्यसूत्र
ऋक्. प्रा.	ऋक्प्रातिशाख्य
ऋग्.	ऋग्वेद
ऋ. भा.	ऋग्वेद भाष्य
ऋ. भा. भू.	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, स्वामी दयानन्द
ऐ. ब्रा.	ऐतरेय ब्राह्मण
ऐ. आ.	ऐतरेय आरण्यक
ऐ. उ.	ऐतरेय उपनिषद्
कठ.	कठोपनिषद्
का. ऋ. सर्वा.	कात्यायन ऋक्सर्वानुक्रमणी
का. श्रौ. सू.	कात्यायन श्रौतसूत्र
केन	केनोपनिषद्
कौ. ब्रा.	कौषीतकी ब्राह्मण
कौ. सू.	कौशिक सूत्र
गो. ब्रा.	गोपथ ब्राह्मण
छा. ब्रा.	छान्दोग्य ब्राह्मण
छा. उ.	छान्दोग्य उपनिषद्
जै. उ.	जैमिनीय उपनिषद्
जै. न्या.	जैमिनीय न्यायमाला
ता. ब्रा.	ताण्ड्य ब्राह्मण
तै. ब्रा.	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै. आ.	तैत्तिरीय आरण्यक
तै. उ.	तैत्तिरीय उपनिषद्
तै. सं.	तैत्तिरीय संहिता
देवी भा.	देवी भागवत
नि.	निघण्टु यास्कीय
निरु	निरुक्त यास्कीय

पा०	पाणिनीय अष्टाध्यायी
पा. शि.	पाणिनीय शिक्षा
पू. मी.	पूर्व मीमांसा
प्रश्न	प्रश्नोपनिषद्
भा. पु.	भागवत पुराण
बृ. उ.	बृहदारण्यक उपनिषद्
बृ. दे.	बृहद् देवता
मत्स्य पु.	मत्स्य पुराण
मनु	मनुस्मृति
महा भा.	महाभारत
मही भा.	महीधर भाष्य
मु.	मुण्डकोपनिषद्
यजु	यजुर्वेद शुक्ल वाजसनेयि
वायु पु.	वायु पुराण
विष्णु पु.	विष्णु पुराण
वे. सू.	वेदान्त सूत्र
वै.	वैशेषिक सूत्र
शत	शतपथ ब्राह्मण
शा. श्रौ. सू.	शांखायन श्रौतसूत्र
श्वेता.	श्वेताश्वतर उपनिषद्
सां. का.	सांख्य कारिका
सा. द.	साहित्य दर्पण
सा. भा.	सायण भाष्य
साम	सामवेद कौथुम शाखा

संदर्भ ग्रन्थ-सूची

अथर्ववेदपदानामनुक्रमणिका–निर्णय सागर प्रेस
अथर्ववेदभाष्य–श्री पाद दामोदर सातवलेकर
अथर्ववेद संहिता (मूल)–श्री पाद दामोदर सातवलेकर
अथर्ववेद संहिता (हिन्दी भाष्य)–जयदेव शर्मा विद्यालंकार
अथर्ववेद संहिता (सायणभाष्य)–विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान
अथर्ववेद संहिता (सायणभाष्य तथा हिन्दी अनुवाद सहित)–पं० रामचन्द्र शर्मा
अस्यवामीय सूक्त–आत्मानन्द
आकाश पोथी (गुजराती)–निरंजन वर्मा
ईशादिदशोपनिषदः–शांकर भाष्य, मोतीलाल बनारसीदास
उणादि कोश–वैदिक यंत्रालय अजमेर
उषा देवता–श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
ऋक्प्रातिशाख्य–शौनक
ऋक्सर्वानुक्रमणी–कात्यायन
ऋग्वेद–रामगोविन्द द्विवेदी
ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका–स्वामी दयानन्द
ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकानां संग्रहः–सायण, सं० बलदेव उपाध्याय
ऋग्वेदपदानुक्रमणिका–निर्णयसागर प्रेस
ऋग्वेदानुकमणी–माधव भट्ट
ऋग्वेद संहिता–स्कन्द स्वामी, उद्गीथ, वेंकटमाधव, मुद्गल भाष्य,
विश्वेश्वरानन्द वै. शो. सं० ।
ऋग्वेद संहिता–जयदेव शर्मा विद्यालंकार
ऋग्वेद संहिता (सायण भाष्य)–वैदिक संशोधन मण्डल, पूना
एकादशोपनिषद्–स्वामी सत्यानन्द
ऐतरेय आरण्यक–सायणभाष्य सहित
ऐतरेय ब्राह्मण–सायणभाष्य सहित
कात्यायन श्रौतसूत्र–कात्यायन
काव्यादर्श–दण्डी
काशिका–वामन तथा जयादित्य
कौषीतकी ब्राह्मण
गगन ने गोखे (गुजराती)–निरंजन वर्मा

गोपथ ब्राह्मण
जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण
जैमिनीय न्यायमाला
छान्दोग्य ब्राह्मण
ताण्ड्य महाब्राह्मण
तैत्तिरीय आरण्यक
तैत्तिरीय ब्राह्मण
दैवत संहिता—श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
निघण्टु
निरुक्त भाष्य—स्कन्द स्वामी
निरुक्त भाष्य—दुर्गाचार्य
निरुक्त भाष्य—चन्द्रमणि विद्यालंकार
न्यायदर्शन—वात्स्यायन भाष्य
पाणिनीय शिक्षा
बृहद् देवता—शौनक, सं० रामकुमार राय
भागवत पुराण
भारतीय संस्कृति का विकास (वैदिक धारा)—मंगलदेव शास्त्री
मत्स्य पुराण
मन्त्रार्थ चन्द्रोदय—दामोदर शर्मा झा
महाभारत—व्यास
मीमांसा कोश—केवलानन्द सरस्वती
मीमांसा दर्शन—जैमिनि
यजुर्वेद काठक संहिता—स्वाध्याय मण्डल, किला पारडी
यजुर्वेद काण्व संहिता—स्वाध्याय मण्डल, किला पारडी
यजुर्वेद तैत्तिरीय संहिता—स्वाध्याय मण्डल, किला पारडी
यजुर्वेदपदानुक्रमणिका—निर्णय सागर प्रेस
यजुर्वेद मैत्रायणी संहिता—स्वाध्याय मण्डल, पारडी
यजुर्वेद वाजसनेयि संहिता—स्वाध्याय मण्डल, पारडी
यजुर्वेद संहिता—जयदेव शर्मा विद्यालंकार
यजुर्वेद (वाजसनेयि मा० शुक्ल) संहिता—उवट, महीधर भाष्य, निर्णय सागर प्रेस
यजुर्वेद भाष्यम्—स्वामी दयानन्द
यजुर्वेद भाष्यम्—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु सम्पादित स्वामी दयानन्द भाष्य, अ० १–१०

वेद रहस्य–श्री अरविन्द
वेदान्त सूत्र–शांकर भाष्य
वेदार्थ कोष–आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब
वेदों का यथार्थ स्वरूप–धर्मदेव विद्यावाचस्पति
वैदिक इतिहासार्थ निर्णय–शिवशंकर शास्त्री
वैदिक इण्डैक्स (हिन्दी अनुवाद)–रामकुमार राय
वैदिक कोश–सूर्यकान्त
वैदिक कोष–हंसराज
वैदिक ज्योतिष शास्त्र–प्रियरत्न आर्ष
वैदिक साहित्य और संस्कृति–बलदेव उपाध्याय
वैशेषिक सूत्र–प्रशस्तपाद भाष्य
शतपथ ब्राह्मणम् (मूल) अच्युत ग्रन्थमाला
शतपथ ब्राह्मणम् (माध्यन्दिन)–हरिस्वामी तथा सायणभाष्य, कल्याण, बम्बई
सत्यार्थप्रकाश–स्वामी दयानन्द
सर्वदर्शन संग्रह–माधव
सामवेद–सायण भाष्य
सामवेद–जयदेव शर्मा विद्यालंकार
सामवेद–तुलसीराम
सामवेदानुक्रमणिका–निर्णय सागर
सांख्य तत्त्वकौमुदी–वाचस्पति मिश्र
साहित्य दर्पण–विश्वनाथ

Ancient Sanskrit Literature. Maxmullar
Asya Vamasya Hymn. Dr. C. Kunhan Raja
Asya Vamasya Suktam R. V. Vaidya
Brihad Devata. Macdonell
History of Dharma Shastra. P. V. Kane
History of Sanskrit Literature Vedic Period. Macdonell
Hymns of the Atharva Veda. Griffith
Hymns of the Rigveda. Griffith
Hymns from the Rigveda. Peterson
India, what can it teach us. Maxmullar
On the Veda. Shri Aurobindo
Rigveda (English Translation). H. W. Wilson

Rigveda and Vedic Religion.	A. C. Clayton
Sacred Books of the East (Vol. XXXII).	Edited by Maxmullar
Sacred Books of the East (Vol. XLII).	Edited by Maxmullar
Sparks from the Vedic fire.	V. S. Agarwal
The Arctic Home in the Vedas.	B. G. Tilak
The Vedas.	Maxmullar
The White Yajurveda.	Griffith
Vedic Age.	Majumdar and Pusalker
Vedic Index.	Macdonell
Vedic Mythology.	Macdonell
Vedic Reader for students.	Macdonell

मन्त्रानुक्रमणिका

पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान
तिथी
पु०सं० 1774 /9
भारती पुस्तकालय